प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध : एक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी से
पी-एच.डी. (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु
प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

वर्ष 2006—2007

शोध निदेशक:
डॉ० रमाशंकर उपाध्याय
एम.ए., पी.-एच.डी.
रीडर : राजनीतिशास्त्र विभाग
पं० जवाहरलाल नेहरू पी०जी० कॉलेज, बांदा (उ०प्र०)
पूर्व अध्यक्ष :
बु० वि० शिक्षक संघ, (BUTA) झाँसी (उ०प्र०)

अनुसंधित्सु :
श्रीमती रश्मि अग्रवाल
एम०ए० (राजनीति विज्ञान)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

डॉ0 रमाशंकर उपाध्याय
एम. ए., पी-एच.डी.
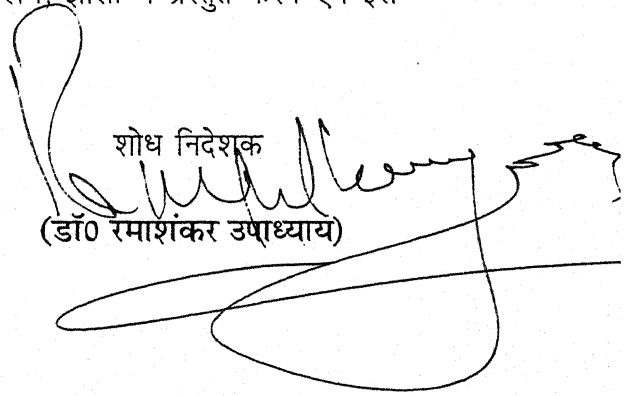
पूर्व अध्यक्ष
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ, (BUTA)
झांसी (उ0 प्र0)
रीडर
राजनीतिशास्त्र विभाग
पं0 जवाहरलाल नेहरू पी0 जी0 कॉलेज,
बाँदा (उ0 प्र0)
मोबा. 9411961688

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **श्रीमती रश्मि अग्रवाल**, पी-एच.डी. (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के तत्वाधान में "प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध : एक अध्ययन" विषय पर मेरे निदेशन में बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,झाँसी के पत्रांक बु0 वि0 / एके0 / शोध /2002 / 959-61 दिनांकित 14-03-2002 द्वारा पंजीकृत हुयी थीं। इन्होंने मेरे निदेशन में आर्डीनेन्स-7 द्वारा वांछित अवधि तक कार्य किया है।

मैं इनके शोध-प्रबन्ध को बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी में प्रस्तुत करने एवं इसे परीक्षण हेतु प्रेषित करने की स्वीकृति / संस्तुति करता हूँ।

शोध निदेशक

(डॉ0 रमाशंकर उपाध्याय)

घोषणा-पत्र

मैं **रश्मि अग्रवाल** यह घोषणा करती हूँ कि पी-एच.डी. (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के विचारार्थ प्रस्तुत "प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध : एक अध्ययन" शीर्षक पर यह शोध-प्रबन्ध मेरी मौलिक कृति है। शोध-प्रबन्ध में दिये गये तथ्य एवं तत्सम्बन्धी सामग्री मेरा अपना स्वयं का मौलिक कार्य है। कृति में उपलब्ध मार्गदर्शन एवं तत्सम्बन्धी सुझावों का उपयोग किया गया है, जिनका यथास्थान उल्लेख किया गया है।

मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अन्य व्यक्ति द्वारा इस विश्वविद्यालय अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का अंश नहीं है।

अनुसंधित्सु

Rashmi Agarwal

(श्रीमती रश्मि अग्रवाल)

दिनांक

699/1 डी, सेन्ट्रल होटल के पीछे,

झाँसी (उ0 प्र0)

भारतवर्ष सदैव से ही मानव संस्कृति का अग्रवाहक रहा है। तत्वदर्शनाभिगामी प्राचीन भारतीय आचार्यों ने ज्ञान-विज्ञान के जिस क्षेत्र में पग बढ़ाये उसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचा कर ही दम लिया। उन्होंने अपने चिन्तन में जिन नीतियों का सन्धान किया वे राजनीति की अन्तर्भावना को अनुप्राणित करती रहीं। इस प्रकार उन्होंने अपनी उदात्त संस्कृति और उच्च ज्ञान की प्रखर रश्मियों से असभ्यता के गहन अंधकार में डूबे हुये विश्व के विभिन्न जनसमुदायों को आलोकित किया। प्राचीन भारत में जिन राजनीतिक नीतियों का सन्धान एवं अभिचिन्तन हुआ उनकी आधारभित्ति पर विभिन्न जनसमुदायों के मध्य प्रथमतः सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुये जो शनैः शनैः राज्य संस्थाओं के विकास के साथ-साथ विकसित होकर राजनैतिक स्तर तक पहुँच सके। आचार्यों ने जिन नीतियों का सन्धान किया वे श्रुति, स्मृतियों, धर्मसूत्रों, महाकाव्यों और नीतिविषयक ग्रन्थों में इतस्ततः विख़री पड़ी हैं। मैंने उन्हें उपलब्धता के आधार पर एकत्र कर एवं संजोकर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में उनका क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है।

लेखिका इस विषय पर कार्य करने वाले अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की ऋणी है जिन्होंने पाश्चात्य जगत में व्याप्त इस भ्रान्तिमूलक धारणा को कि प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं राजनय से सर्वथा अनभिज्ञ थे, खण्डित कर भारत के गौरव की रक्षा की है। पाश्चात्य विद्वानों की भ्रामक धारणा का कारण यह था कि वे भारत के प्राचीन साहित्य में से राजशास्त्र पर पृथक ग्रन्थ ढूँढने लगे, जबकि स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। नीतिशास्त्र अथवा राजशास्त्र (राजधर्म) उस सार्वभौमिक और व्यापक धर्म का अंश था जो व्यक्ति, समाज और राज्य, सभी के कार्य-कलापों का नियमन करता था।

भारतीय राजशास्त्र सम्बन्धी विचारधारा का उद्‌गम स्रोत श्रुति हैं। अपने उद्‌गम स्थान से निकल कर यह धारा सहस्रों वर्ष तक प्रवाहित रही। कालान्तर में यह अवरुद्ध होकर भारतीय जनता की दासतारूपी मरूभूमि में विलीन हो गयी। 19 वीं शताब्दी से अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने धर्म के आवरण में, जिसके लाक्षणिक अभिप्रायों से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, भारतीय राजतन्त्र तथा भारतीय राजनीति को अतीव धूमिल करने का प्रयास किया है। मैक्समूलर का कथन है कि, "यूनानियों के लिये मानव-अस्तित्व जीवन और वास्तविकता से संकुल है जबकि हिन्दुओं के लिये

यह एक स्वप्न, एक विभ्रम है।"[1] भारतीयजन दार्शनिकों के राष्ट्र हैं और भारतीय प्रज्ञा राजनीति अथवा अनात्मिक अभिचिन्तन के विषय में प्राय: शून्य है। भारतीय कभी राष्ट्रीयता की अनुभूति का संवेदन ही नहीं कर सके।[2] एक अन्य विद्वान की उक्ति है कि, "विशद अर्थों में भारत ने किसी गम्भीर राजनीतिक चिन्तन का योगदान नहीं किया।[3] ब्लूमफील्ड आदि अनेक प्राच्य-वेत्ताओं की भारतीय राजनीति और राज्य के विषय में ऐसी ही धारणा थी।[4] स्पष्टत: भारत के प्राचीन काल के इतिहास तथा राजतन्त्र के प्रति ऐसा दृष्टिकोण साम्राज्यवादी आदर्शों से अधिशासित था।[5] पौर्वात्यों के अधिकांश भूस्थलों पर किसी समय पाश्चात्यों का शासन इस तरह के पूर्वाग्रही निष्कर्षों को न्याय-सिद्ध कर सकता था, किन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से भारतीय पुनर्जागरण के साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीति का अध्ययन गहनतर ही नहीं होता गया, प्रत्युत् निष्पक्ष दृष्टिकोण से उनका एक तर्कात्मक अनुशीलन किया जाने लगा है और अब उत्कृष्ट प्राचीन संस्कृति में तिरोहित राजनीतिक जिज्ञासा स्वत: परिलक्षित होने लगी है। प्रतिफलस्वरूप एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है कि धार्मिक प्रधानता होते हुये भी प्राचीन भारत ने पर्याप्त मात्रा में राजनीतिक साहित्य का प्रणयन किया।[6] वर्तमान काल में विद्या विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में सतत् चिन्तन-मनन की आवश्यकता है।

वस्तुत: प्रत्येक समाज के अपने आधारभूत मूल्य होते हैं जिन्हें वह पवित्र धरोहर के रूप में अपने उत्तराधिकारी समाज को सौंपता है और यह मूल्य उस समाज की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। भारत के संदर्भ में यह परम्परागत राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक

---

1. मैक्समूलर : हिस्ट्री ऑफ एन्शियण्ट लिटरेचर, पृ0 18

2. मैक्समूलर : हिस्ट्री ऑफ एन्शियण्ट लिटरेचर, पृ0 16

3. ए. बी. कीथ : एन. एन. लॉ कृत आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शियण्ट इण्डियन पालिटी, पृ0 5

4. ब्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ वेद, पृ0 5

सेनार्ट : कास्ट इन इण्डिया, पृ0 198

5. आर. एस. शर्मा : आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 2

6. चार्ल्स ड्रेक्मायर : किंगशिप एण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ0 6

मूल्य उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि है जिनके प्रकाश में प्राचीन भारतीय राजदर्शन के शोधकार्य की अत्यधिक उपयोगिता है।

कहाँ ज्ञान का वेदरूपी गम्भीर समुद्र और कहाँ मेरी तुच्छ एवं मन्द बुद्धि। मैं तो केवल श्रद्धा को सहायक के रूप में लेकर उस समुद्र में गोते लगाने लगी थी। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यदि कहीं विचारों की गम्भीरता मिले तो उसका कारण सर्वज्ञानमयी भगवती श्रुति को ही समझना चाहिये। यदि इस शोध-प्रबन्ध में विषय-प्रतिपादन का कोई नवीनतम मार्ग अपनाया गया है तो उसे महामहिम महामिधिर महामनीषी ख्यातिलब्ध गुरुवर्य डा0 रमा शंकर उपाध्याय, रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, पं0 जवाहरलाल नेहरू पी0 जी0 कॉलेज, बाँदा एवं पूर्व अध्यक्ष, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय शिक्षक संघ (बूटा), की कृपा का फल जानना चाहिये और यदि इस शोध-प्रबन्ध में कहीं कुछ पाण्डित्य का लेशमात्र भी दिखायी दे तो उसे मेरे गुरूजनों की चरण-सेवा का वरदान समझना चाहिये। इस शोध प्रबन्ध में जो कुछ गुण की बातें हैं वह दूसरों से प्राप्त हुयी हैं और जो अनेक दोष हैं, वे सब मेरे हैं।

मुझे शोधकार्य में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद; हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, प्रयाग; उत्तर प्रदेश स्टेट लाइब्रेरी, लखनऊ; दिल्ली स्टेट लाइब्रेरी, दिल्ली; पुरातत्व संग्रहालय, दिल्ली; भंडारकर प्राच्य शोध संस्थान, पूना; ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बृन्दावन; पं. जवाहरलाल नेहरू पी. जी. कॉलेज, बाँदा; बुन्देलखण्ड कॉलेज, झाँसी से जो सामग्री और सहायता प्राप्त हुयी है, इसके लिए मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की भी अनुग्रहीत हूँ।

अन्त में मैं अपने पति श्री प्रवीण अग्रवाल की कृतज्ञ हूँ क्योंकि जीविकोपार्जन के हेतुओं को वहन करते हुये भी समय-समय पर उत्साहपूर्ण अविस्मरणीय निधिरूपी सहयोग प्रदान कर पतिधर्म का सर्वांगीण उत्तरदायित्व निर्वहन किया।

Rashmi Agarwal
(श्रीमती रश्मि अग्रवाल)

दिनांक

699/1 डी, सेन्ट्रल होटल के पीछे,
झाँसी (उ0 प्र0)

विषय-सूची

अध्याय–प्रथम

।। प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ।।

अध्याय–प्रथम

]] प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध]]

प्राचीन भारत का स्वरूप : राजनीतिक स्थिति–

भारत का राजनीतिक वातावरण उसके इतिहास की अनेक करवटों के साथ रूप बदलता रहा है। प्राचीन काल में देश की राजनीति में नाना प्रकार के प्रयोग किये जा चुके थे। उस समय वर्तमान की भाँति सम्पूर्ण भारत एक राजनीतिक इकाई के रूप में न होकर छोटे–बड़े अनेक राज्यों में विभक्त था।[1] राजाओं की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों, गण एवं संघ राज्यों की आन्तरिक दलबन्दी तथा विभिन्न व्यवस्थित और अव्यवस्थित राजनैतिक इकाईयों का एक साथ अद्‌भुत संगम दृष्टिगोचर होता है। भारत का राजनैतिक मानचित्र शासन पद्वतियों की विविधताओं से परिपूर्ण एवं राजनैतिक संगठन के अभाव से ग्रसित था। देश में एक केन्द्रीय राजनैतिक सगंठन का पूर्णत: लोप था। विभिन्न राजनैतिक इकाईयाँ पारस्परिक सहयोग अथवा विरोध के वातावरण में थी। आधुनिक विज्ञान प्रधान आणनिक युग में अन्तर–राज्य–राजनीति का अपनी जटिलताओं के साथ जैसा विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है, वैसा विकसित रूप प्राचीन युग के भारत एवं विश्व के अन्य भागों में अनुपलब्ध था। किन्तु प्राचीन भारत के संदर्भ में इस तथ्य को भी नहीं नकारा जा सकता है कि तत्कालीन भारत–भूमि के राज्यों ने पारस्परिक सबन्धों के संचालन हेतु ऐसी अन्तर–राज्य–राजनीति की उत्पति कर ली थी, जो कालान्तर में पर्याप्त विकसित भी हुई। अन्तर–राज्य–राजनीति का यह विकास उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही क्षेत्रों में, तत्कालीन युगों की परिस्थितियों के अनुरूप प्रकट हुआ।

विद्वानों का मत है कि भारत में अन्तर –राज्य–राजनीति का श्रीगणेश वैदिक[2] एंव उत्तर वैदिक काल[3] में हो चुका था, किन्तु ऐतिहासिकयुगीन अन्तर–राज्य–राजनीति का स्पष्ट परिचय

---

1. *डॉ0 राजबली पाण्डेय: प्राचीन भारत हिन्दूकाल, पृ0 66*
   आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : भारत में पंचायती राज, पृ0 71–72
   रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ0 181
2. *डॉ0 राम जी उपाध्याय : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ0 578*
3. *ए. एस. अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0 214–215*

मौर्यकाल से प्रारम्भ होता है तथा ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे विदित होता है कि ईसा पूर्व भारत के विभिन्न राज्यों ने यूनान, रोम, सीरिया, मिश्र, लंका, चीन आदि से अन्तर-राज्य-सम्बन्ध स्थापित किये थे और विभिन्न रूपों में यह क्रम ईसा बाद आठवीं शताब्दी तक चलता रहा था।[1] उल्लेखनीय है कि यद्यपि ऐतिहासिक प्रमाण प्राचीन भारत के राज्यों के विश्व के अन्य राज्यों से सम्बन्धों को प्रमाणित करते हैं, किन्तु प्राचीन राजधर्म के ग्रन्थों ने अन्तर-राज्य-राजनीति के जिस पक्ष को प्रकाशित किया है, उसका सम्बन्ध तत्कालीन भारत देश से है, जिसमें विभिन्न स्तर के अनेकानेक राज्य थे। 'ऋग्वेद' में यदुओं, तुर्वसुओं, द्रह्यओं, अनुओं एंव पुरूओं के राजकुलों का उल्लेख है। "ऐतरेय ब्राह्मण" में भारतवर्ष को पांच भागों में बाँटा गया है। "महाभारत" में कतिपय प्रसगों में 200 राज्यों के नाम आये हैं। राजशेखर की "काव्य मीमांसा" में 70 देशों के नाम हैं, जिसमें मध्य भारत के देशों के नाम नहीं हैं।"भाव प्रकाश" में 64 देशों के नाम दिये गये हैं। यादव प्रकाश की "वैजयन्ती" (एक कोष) में 100 देशों के नाम दिये हैं।[2] पौराणिक ग्रन्थों में 56 भारतीय राज्यों के नाम दिये गये हैं[3], जिनकी ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एंव सामाजिक पृष्ठभूमि सामान्य प्रकृति वाली थी। अपनी इस सामान्य पृष्ठभूमि के कारण ही ये राज्य अन्तर-राज्य-राजनीति के क्षेत्र में पारस्परिक व्यवहार और अन्तर-क्रिया के सामान्य नियमों का विकास करने में समर्थ हुये।

प्राचीन भारत अनेक लघु राजनीतिक इकाईयों में विभक्त था। तत्कालीन शासकों का उद्देश्य साम्राज्य विस्तार तथा अन्य राजाओं को अपने आधीन करना था। महत्वाकांक्षी शक्तिशाली सम्राट विजित राज्यों और उनके राजाओं का मूलोच्छेदन नहीं करते थे वरन् अधीनस्थ के रूप में उनकी पृथक सत्ता स्थापित रहती थी।[4] इसलिये सम्पूर्ण देश में सैकड़ों स्वतंत्र राज्य, गणराज्य, संघ राज्य एक साथ अस्तित्व में रहे।

---

1. *डॉ0 राम जी उपाध्याय: प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ0 580-583*
   पं0 रघुनन्दन शर्मा : वैदिक सम्पत्ति, पृ0 350-351
2. *पी0 वी0 काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग-2), पृ0 641-642*
3. *डी0 सी0 सरकार : स्टडीज इन द ज्योग्राफी ऑफ एन्सिएन्ट एण्ड मेडिकल इण्डिया, पृ0 68*
4. *डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार: भारत का प्राचीन इतिहास, पृ0 121*
   राधाकृष्ण चौधरी: प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ0 171
   राय बहादुर जी : हिन्दी महाभारत मीमांसा, पृ0 295

समस्त भारत में समान राजनीतिक व्यवस्था नहीं थी अतः शासन के भिन्न-भिन्न स्वरूप विद्यमान थे।[1] अधिकांश राज्य ऐसे थे जिन्हें राजतंत्रात्मक राज्य की संज्ञा दी जा सकती थी। उनमें राजा वंशानुगत होता था।[2] राजतंत्रात्मक राज्यों में भी शासन की पद्धति समान नहीं थी। कहीं पर जनता का शासन में बहुत अधिक प्रभाव था तो कहीं ऐसे भी राज्य थे जिनमें राजा स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश होता था। कहीं राजा परिषद की सहायता से शासन संचालन करता था तथा परिषद के सदस्य भी राजा कहलाते थे।[3] शक्तिशाली राजाओं ने सम्राट, एकराट् , अधिराट् जैसी उपाधियां धारण करनी प्रारंभ कर दी थी।[4] जिन राज्यों में राजा वंशानुगत नहीं होता था उन्हें गणराज्य या संघ राज्य कहा जाता था। अतः राजा नामक पद से जनतंत्रीय और राजतंत्रीय राज्यों में भेद नहीं था, क्योंकि दोनों प्रकार के शासनों में राज्य का प्रधान राजा होता था। यथार्थ में दोनों में भेद राजपद के अभिषेक, राजा के कार्यकाल, मंत्री परिषद या मंत्रिमंडल के संदर्भ में ही किया जा सकता है।[5]

यद्यपि राजा वंशानुगत होता था और राजतंत्र में उसके व्यापक अधिकार थे तथापि वह स्वच्छन्द नहीं था।[6] उसके अभिषेक के समय लगाये गये बंधन, उसका अपने कार्य संपादन के लिये मंत्रिपरिषद पर निर्भर होना तथा सभा एवं समितियों की संस्थायें आदि अनेक बातें उसके अधिकार को सीमित कर चुकी थीं। उसे यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि "हे पृथ्वी मैं तेरी रक्षा करूंगा पर तू मेरी रक्षा कर, यदि मैं प्रतिज्ञा भंग करूं तो मेरे धार्मिक अनुष्ठान, दान, सत्कर्म, स्थान, जीवन, तथा संतान तक का सत्य जाता रहे।"[7] राजतंत्र के राजा को जब तक राजा नहीं माना जाता था जब तक कि समकालिक अन्य राजागण उसे राजा होने की मान्यता न प्रदान कर देते। जिस राजा को उसके समकालीन अन्य राजाओं द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होती थी वह राजा नहीं हो सकता था।

---

1. *डॉ0 रघुवीर शास्त्री : महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था, पृ0 16*
   डॉ0 कामेश्वरनाथ मिश्र: महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनायें, पृ0 52
   वी. एस. अग्रवाल : इण्डिया एज नोन टू पाणिनि, पृ0 426
2. *डॉ0 राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत हिन्दूकाल, पृ0 66*
   डॉ0 कामेश्वरनाथ मिश्र : महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनायें, पृ0 53
3. *डॉ0 रघुवीर शास्त्री : महाभारत कालीन राज्य व्यवस्था, पृ0 16*
   डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ0 183-184
4. *धर्मयुग : गीता जयन्ती अंक, 14-20 दिसम्बर, पृ0 20*
5. *डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ0 183*
   डॉ0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ0 9, 68 एवं 69
6. *भगवत शरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत, पृ0 79*
7. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 46-47*

मंत्री परिषद् का भी राजा पर अत्याधिक प्रभाव होता था।[1] राजा अपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर रहता था जितना प्राणी मात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेद पर, और स्त्रियाँ अपने पति पर।[2] सभा समितियां राजा के न केवल राजनीतिक क्षेत्र में अपितु व्यक्तिगत कार्यों पर भी नियंत्रण रखती थीं।[3]

उस समय राजसत्ता पर जनमत का भी अत्यन्त कड़ा नियंत्रण रहता था।[4] जो राजा जनमत की उपेक्षा करता था उसका नाश हो जाता था।[5] वह युद्ध का प्रणेता नहीं अपितु समस्त प्रजा का स्वामी माना जाता था।[6] वह अत्याचारी कदापि नहीं हो सकता था। जो राजा प्रजा की रक्षा करने का कर्तव्य पूरा नहीं करता था वह विक्षिप्त स्वान की भाँति वध करने योग्य माना जाता था। जिस प्रकार विक्षिप्त स्वान को मारने का अधिकार सबको प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्तव्य से विरक्त राजा का वध करने का अधिकार जनता के प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त था।[7]

इस समय द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य भी थे।[8] द्वैराज्य शासन पद्धति में राजा और युवराज सयुंक्त रूप से शासन किया करते थे।[9] सामान्यत: एकात्मक या एकछत्र राज्य व्यवस्था ही प्रचलित थी।[10]

राजतंत्र में राजा के अधिकार अधिक होने के कारण राजा के सभी कर्तव्य जनतंत्र में उस पर चरितार्थ नहीं होते थे। राजा का अभिषेक राजतंत्र में पूर्व राजा की संतानों में योग्यतम व्यक्ति को खोजने के आधार पर होता था। राजा के ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ पुत्रों में से ही नये राजा का

---

1. *राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ0 84*
2. *डॉ0 अनन्त सदाशिव अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0 109*
3. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 37*
4. *आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, 100*
5. *आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, 99*
6. *रामलखन शर्मा : हमारा अतीत, पृ0 47*
7. *शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय सस्कृति, पृ0 178*
   डॉ0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ0 70–71
8. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य व्यवस्था, पृ0 80*
9. *हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 446*
10. *अनन्त सदाशिव अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0 21*

चयन ही वंशानुगत राजतंत्र था। इसी के साथ राजतंत्र के राजा का कार्यकाल आजीवन हो गया परिणामस्वरूप मंत्रियों का कार्यकाल एवं नियुक्तियां भी राजा की इच्छा पर निर्भर थी। जनतंत्र का राजा राज्यसभा द्वारा निर्वाचित व्यक्ति ही होता था। सम्पूर्ण कार्य बहुमत के आधार पर होने के कारण राजा की नियुक्ति भी बहुमत के आधार पर होती थी। जनतंत्र में राजा का निर्वाचन भी निश्चित अवधि के लिये होता था।

महाकाव्य काल में अध्यक्ष पद के लिये संघ राज्य के नेताओं में स्पर्धा थी। प्रजातंत्रीय राजा के साथ मंत्रणा करने का गण के प्रधान व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त होता था। मंत्रणा को गुप्त रखने तथा गुप्तचरों की नियुक्ति करने का कार्य प्रधान व्यक्तियों के ही अधीन होता था।[1] प्रजातंत्र राज्यों में मंत्रियों की संख्या का कोई निश्चित नियम नहीं था। गणराज्यों की सभा को ही यह निश्चिय करने का अधिकार था। इस सभा में सभी जातियों के कुल वृद्धों को प्रतिनिधित्व के समान अधिकार प्राप्त थे। राजतंत्र तथा प्रजातंत्र दोनों ही के राजाओं का मूल कर्तव्य राज्य की व्यवस्था और सुरक्षा करना था। दोनों ही प्रकार के राजाओं के लिये प्रजा को सुखी एवं प्रसन्न रखना अनिवार्य था। उनका यह भी कर्तव्य था कि वे जनता को अपने धर्म के पालन करने की पर्याप्त सुविधा दें तथा उनके हृदय से राजा के प्रियजनों, राज्य-कर्मचारियों, चोरों ,शत्रुओं के भय से उनको मुक्त रखें।

जनतंत्रीय राज्यों में प्रजातंत्र की सभी विशषेतायें तथा दोष विद्यमान थे। विधायिनी शक्ति का पृथक्करण, जनता का प्रतिनिधित्व, निर्वाचन, निष्पक्ष न्याय व्यवस्था, सत्ता सगंठन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आदि तत्व सम्मिलित थे। इनके साथ ही समानता के आधार पर दुरूपयोग, दलबंदी का कुप्रभाव तथा राजकीय मंत्रणाओं को गुप्त न रखना भी सम्मिलित थे।[2]

---

1. *धर्मेण व्यवहारेण प्रजा: पालेय पाण्डव।*
   युधिष्ठिर यथा युक्तों नाधि बन्धेन योक्ष्यसे।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 71, श्लोक 25
   बभ्रूग्रसेनयो राज्यंनाप्तु शक्यं कथंचन।
   ज्ञातिभेदयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषत:।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 81, श्लोक 17 एवं 18-26

2. *डा0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ0 226*

जनतांत्रिक राज्य भी कई प्रकार के थे, जिन्हें वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, कुलराज्य, गणराज्य और संघराज्य कहते थे। बौद्ध साहित्य में इनको गणराज्य और कौटिल्य अर्थशास्त्र में संघ कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन विद्वान जनतंत्रीय शासन से पूर्णरूपेण परिचित थे।[1]

संघ राज्य में भी संघ (Federation) तथा परिसंघ (Confederation) दो रूप थे।[2] वैराज्य का शासन प्रजा द्वारा धर्मानुसार होता था। वहां न तो कोई राजा था और न ही कोई दण्ड देने वाला।[3] महाभारत में ऐसे चार राज्यों–मंग, मशक, मानस और मंदग के नाम उल्लिखित हैं, जहां प्रजा स्वधर्म पर आरूढ़ रहते हुये परस्पर रक्षित रहती थी।[4] अत: स्पष्ट है कि भारतवर्ष में एक ऐसी भी शासन व्यवस्था थी, जहां राजा के बिना ही जनता परस्पर धर्मानुसार अपनी समस्याओं का समाधान करते हुये शासन संचालन करती थी। वैराज्य शासन पद्धति सुव्यवस्थित एंव संगठित प्रजातंत्र न होकर अराजकतंत्र ही था।[5]

पारमेष्ठ्य राज्य में राज्य का प्रत्येक गृह (घर) एक इकाई होता था। प्रत्येक इकाई का एक गृहपति निर्वाचित होता था, जो राजन् कहलाता था। ये सब सभा के सदस्य होते थे, जो मिलकर अपने प्रधान (जो श्रेष्ठ कहलाता था) को निश्चित समय के लिये नियुक्त करते थे। उनमें से कोई भी सम्राट की पदवी धारण नहीं करता था। वे सब राज्यसभा के सदस्य होते थे। इसमें पूर्णतया जनतंत्र शासन प्रणाली का पालन होता था। सब मिल–जुलकर शासन–संचालन करते थे और सदैव राज्य हित चाहते हुये राज्य की उन्नति एवं समृद्धि करने में संलग्न रहते थे। वे स्वयं

---

1. *डॉ0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ0 67 – 82*
2. *डॉ0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ0 87*
3. *न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिक:।*
   धर्मेणैव प्रजा: सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 59, श्लोक 14
4. *मंगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्था।*
   मंगा ब्राह्मणभूयिष्ठा: स्वकर्मनिरतानृप।। म0 भा0 भीष्मपर्व : अ0 11, श्लोक 36
   मशकेषु तु राजन्याधार्मिका: सर्वकामदा:।
   मानसाश्च महाराज वैश्यधमोपजीविन:।। म0 भा0 भीष्मपर्व : अ0 11, श्लोक 37
   सर्वकामसमायुक्ता शूरा धर्माथनिश्चिता:।।
   शूद्रास्तुमन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिन:।। म0 भा0 भीष्मपर्व : अ0 11, श्लोक 38 एवं 39
5. *डॉ0 विजय बहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ0 166, 168*

अपनी आत्मप्रशंसा नहीं करते थे वरन् दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ने वालों की प्रशंसा होती थी। शासन-व्यवस्था में संयम को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। उनकी भूमि सभी प्रकार के रत्नों में परिपूर्ण रहती थी, क्योंकि वे अपने कल्याण के लिये सदैव सजग रहते थे। ऐसे राज्य में सभी समान समझे जाते थे, न कोई छोटा था और न कोई बड़ा।[1] सभी गृहपतियों को समानता और स्वतंत्रता के आधार पर प्रजा का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार था। इसलिये इस शासन प्रणाली को श्रेष्ठ माना गया है। महाभारत में उरगा, सिंहपुर, अभिसारी आदि ऐसे ही राज्य थे।[2]

कुल-राज्य में पारमेष्ठ्य राज्य की भाँति राज्य की इकाई गृह थी। प्रत्येक गृह अपने सबसे बुद्धिमान और वृद्ध पुरूष को गृहस्वामी (गृहपति) नियुक्त करता था, जो पिता होता था और पिता के न रहने पर ज्येष्ठ पुत्र यह पदवी धारण करता था। सभी गृहपति मिलकर अपना एक प्रधान निर्वाचित करते थे, जो दलवृद्ध कहलाता था। ये सब लोग मिलकर सभा द्वारा शासन-संचालन का कार्य चलाते थे। ऐसे राज्य का आधार व्यक्तिगत समानता और स्वतंत्रता थी। एक कुल का राज्य होने के कारण ऐसे राज्य छोटे-छोटे होते थे। इसीलिये पारस्परिक सहयोग और राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर ये राज्य शीघ्र ही शक्तिशाली हो जाते थे।[3] महाभारत में शाक्य, भरत, वैदेह, पांचाल, इक्ष्वाकु, अंधकवृष्णि आदि ऐसे ही कुल राज्य थे।

एकाधिक गणराज्य मिलकर संघराज्य कहलाते थे। गणराज्य में कई कुल राज्य मिल जाते थे, इसीलिये ऐसा राज्य बड़ा होता था। गणराज्य में सभी कुलों अथवा जातियों को समान अधिकार प्राप्त थे।[4] प्रत्येक गणराज्य में समानता एवं स्वतंत्रता के आधार पर कुलपतियों (कुलवृद्धों) के द्वारा गणमुख्य (प्रधान) निर्वाचित होते थे। गणमुख्य निश्चित समय के लिये अथवा जीवनपर्यन्त

---

1. *अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम् ।*
   जात्याच सदृशः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 107, श्लोक 30
2. *म0 भा0 सभापर्व : अ0 27, श्लोक 19-20*
3. *डॉ0 हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 421*
4. *न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः।*
   भेदाच्चैव प्रदाननश्च भिद्यनते रिपुभिर्गणाः। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 107, श्लोक 31 एवं 30।

निर्वाचित होता था। ये सभी मिलकर पारस्परिक सहयोग से राज्य को उन्नत और समृद्ध बनाने का पूरा-पूरा प्रयास करते थे। इसीलिये गणराज्य शीघ्र ही सम्पन्न और शक्तिशाली हो जाते थे। अत: ऐसा राज्य प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था का जीवन्त प्रतीक माना जा सकता है।

गणराज्य में महासभा के अतिरिक्त भी एक संस्था होती थी जिसे परिषद कहा जाता था। इसमें सब जातियों के लोग सम्मिलित होते थे।[1] गणों को प्रत्येक जाति अथवा कुल की दृष्टि से समान माना जाता था।[2] इसकी महासभा में समस्त अधिकार निहित थे। ये केवल मंत्रिमंडल के सदस्यों का ही नहीं अपितु सेनापतियों का निर्वाचन भी करती थी। इसी को विदेश नीति, युद्ध छेड़ने एवं संधि करने का अधिकार था।[3] गणों में दलबंदी भी रहा करती थी।[4] गण का अधिपति वृष्ट कहलाता था। गण स्वतंत्र होते थे।[5]

कुछ गणराज्य अपनी भलाई और स्वतंत्रता की स्थिरता हेतु परस्पर मिलकर एक बड़ा राज्य बना लेते थे। ऐसा ही राज्य संघराज्य कहलाता था। संघ राज्य में प्रत्येक गणराज्य से समानता के आधार पर निर्वाचित व्यक्ति संघ-सभा के सदस्य बनते थे, जो अपना संघमुख्य निर्वाचित करते थे। ये सब मिलकर पारस्परिक सहयोग से संघ राज्य की शासन व्यवस्था चलाते थे। ऐसे राज्य के लिये संघबद्ध रहना श्रेष्ठ माना जाता था। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत होने, कर्तव्यपरायणता में कुशल होने और विद्वान होने के कारण ऐसे राज्य की जनता अपने संघ राज्य को इतना शक्तिशाली बना लेती थी कि सेना द्वारा उस पर विजय पाना सर्वथा असम्भव था। केवल शत्रु द्वारा जनता में फूट डालकर ही संघ राज्य का विनाश किया जा सकता था।[6]

महाभारत में कई स्थानों पर संघ राज्यों का उल्लेख मिलता है। अंधक, वृष्णि, यादव, कुकुर और

---

1. *डॉ0 राधा कुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृ0 125*
2. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 126*
3. *डॉ0 हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 421*
4. *डॉ0 हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 422 – 423*
5. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, पृ0 55*
6. *बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यम: सुखम्।*
   एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जना: सुखितदु: खिता:।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 78, श्लोक 25 एवं
   अ0 107, श्लोक 14, 22, 32

मांग का एक बहुत ही शक्तिशाली संघ था। इसके अतिरिक्त पंचगणाः, सप्तगणाः, दसगणाः आदि का भी उल्लेख मिलता है।[1] कौटिल्य ने दो प्रकार के संघ राज्यों का उल्लेख किया है-वार्ताशां स्वोपजीविसंघ (बिना राजा की उपाधि वाले संघ राज्य जो शस्त्र व्यापार,कृषि, द्वारा जीविका निर्वाह करते है) और राज शब्दोपजीवि संघ (राजा की उपाधि धारण करने वाले राजशासित राज्य)। प्रथम श्रेणी में कम्बोज, सौराष्ट्र आदि संघराज्य आते हैं और दूसरी श्रेणी में लिच्छिविक, व्रनिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरू, पांचाल आदि संघराज्य आते हैं।[2]

संघराज्य छोटे-छोटे गणराज्यों के संघभूत होने के सिद्धान्त पर आधारित होता था, जैसे अंधक वृष्णि संघ कई गणों को मिलाकर महासंघ था।[3] गण शब्द का प्रयोग समस्त राजनैतिक वर्ग के लिये होता था जिसमें शासक मंडल, एक प्रधान या सभापति एवं गण मुख्य होते थे। से सब मिलकर समाज एवं राज्य की व्यवस्था का संचालन करते थे,[4] जैसे-यादव, कुकुर, भोज, अंधक और वृष्णि थे।[5] इन गणों के अपने नेता होते थे जो समय-समय पर इस महासंघ के अध्यक्ष पद पर बहुमत के आधार पर निर्वाचित होते थे।[6] ऐसे महासंघ की शासन सभा प्रत्येक गण के नेता से बनती थी जिसके अपने-अपने गण के रुप मे संघ के अंतर्गत सब जातियों में विभक्त समग्र जनता सम्मिलित भी। सभी व्यक्ति मिलकर शासन का कार्य करते थे। किसी एक पर शासन का समस्त उत्तरदायित्व नहीं था।[7] संघराज्य अध्यक्ष की स्थिति बड़ी नाजुक और दयनीय होती थी। उसे संघ के हित को सर्वोपरि रखकर कार्य करना होता था और प्रायः प्रबल विरोध तथा कठोर आलोचना का सामना करना पड़ता था।[8]

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 27, श्लोक 12, 16, 17*
2. *अर्थ0 अ0 11/1, श्लोक 821*
3. *राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था, पृ0 233*
   डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 128
4. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, पृ0 105*
5. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 130*
6. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 131*
7. *आचार्य रमेश चन्द्र शास्त्री : महाभारत में पंचायती राज, पृ0 55*
8. *वृन्दावनदास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य, पृ0 164*
   डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : भीष्म का राजधर्म, पृ0 129

प्रजातंत्र और राजतंत्र में संघर्ष की स्थिति विद्यमान रहती थी। राजाओं की विस्तारवादी लोलुपता में गणराज्य प्रमुख रूप से बाधक थे। गणराज्यों की प्रजा जाति एवं कुल के गौरव की रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करने में नहीं झिझकती थी। ये परतंत्र होने के अपेक्षा युद्ध में मृत्यु का वरण करना अधिक गौरवपूर्ण समझते थे। जाति मर्यादा इनके लिये सर्वोपरि थी। उनका संगठन उन्हें या तो निकट युद्ध करने के लिये प्रेरित करता था अथवा सामूहिक रूप से स्थान त्याग कर दूसरे प्रदेश के लिये बर्हिगमन करना। मगध, चेदी, करूशा, अंग आदि राजाओं की सम्मिलित सेनाओं का अंधक वृष्णि संघ से क्रमिक संघर्ष इसी वैचारिक विरोध का प्रमाण है।[1] लेकिन कुछ शक्तिहीन गणराज्य, साम्राज्यवादी राजाओं की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। इस प्रकार प्रजातंत्रों का साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष भी रहता था।

शासन संस्थाओं के प्रकार—

प्राचीन भारत में संस्थायें कितने प्रकार की थी, इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। प्राय: राजतंत्र का ही वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं पर संघ का भी उल्लेख है। प्रारम्भ में तो जन-राज्यों का ही प्रचलन था। विशंपति, जनपति आदि के उल्लेख अनेक स्थान पर मिलते हैं। राजसूय यज्ञ में राजा किसी प्रदेश या राज्य का नहीं वरन् भारत या कुरू पांचाली का राजा घोषित किया जाता है। अथर्ववेद में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

तैत्तिरीय संहिता में ऐसे अनुष्ठान का वर्णन है जिसमें राजा अपने ''विश'' पर प्रभुता प्राप्त कर सकता है पर ''राष्ट्र'' या देश पर नहीं।

वैदिक काल में नृप नाम ही प्रचलित था। राजा, महाराजा, सम्राट आदि उपाधियाँ राजाओं के पद, गौरव एवं शक्ति के अनुसार दी जाती थीं। कुछ राजा स्वराज और भोज्य कहलाते थे। राज्याभिषेक में कभी-कभी कहा गया है कि इस संस्कार के शासक को एक साथ राज्य, स्वराज, मौज्य, वैराज, महाराजा और स्वराज्य पद प्राप्त होंगे।

ऐतरेय ब्राह्मण से भी यह स्पष्ट होता है कि देश के विभिन्न भागों में राज्य, भौज्य, वैराज्य और साम्राज्य आदि विविध प्रकार के राज्य थे।[2]

---

1. *वृन्दावनदास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य, पृ0 166*
2. *ऐतरेय ब्राह्मण : 8/14/2/3*

वैदिक युग के बाद सम्राट के सामन्त के रूप में छोटे-बड़े अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता है। सम्भवत: वैदिक काल में भी यही स्थिति रही हो। करद, सामन्त, भोज और स्वराज उनके अधिपति सम्राट सम्बोधित होते रहे हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार मध्यदेश में जो राजा राज्य करते थे उनकी सम्राट, वैराज्य उपाधि से प्राय: गणतन्त्र का निर्देश होता है।

प्राचीन भारत में द्वैराज्य उनको कहा जाता था जो दो राजाओं द्वारा शासित राज्य थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय पाटल राज्य (आधुनिक सिन्ध) में पृथक वंशी के दो राजाओं का संयुक्त शासन था।[1] आचार्य कौटिल्य ने भी ऐसे राज्यों का वर्णन किया है।[2] यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने भी लिखा है कि उसके समय में भारत में कतिपय गणराज्य थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रमुख रूप से दो प्रकार की ही शासन प्रणाली द्वारा राज्य की व्यवस्था की जाती रही है। उनमें से प्रथम को प्रजातन्त्रात्मक या गणतन्त्रात्मक तथा दूसरी को राजतंत्रात्मक या नृपतन्त्रात्मक कह सकते हैं।

गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था—

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों मे गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिये विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रजातन्त्र के लिये ग्रन्थों में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें प्रमुख "गण" शब्द है। डॉ. जायसवाल ने जैन ग्रन्थों में प्राप्त रिज्जाणी एवं गणरायाणी शब्दों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार यह शासन प्रणाली के व्याख्यात्मक रूप हैं। पहले शब्द का प्रयोग उन राज्यों के लिये किया जाता था जिसमें दो शासक शासन करते थे और दूसरे शब्द का प्रयोग उन राज्यों का लिये किया जाता था जिन्हें संघ कहा जाता था। इन दोनों मूल शब्दों का विभिन्न विशेषणों के साथ प्रयोग किया गया।

---

1. *मैकृण्डल : सिकन्दर का आक्रमण, पृ0 195*
2. *द्वैराज्यवे राज्यों द्वैराजय मन्योन्य पक्ष द्वेषा नृपाभ्याम्।*

   परस्पर सेध वैशावा पिन यति। अर्थ0 अधि0 8, वार्ता 6302

वैराज्य उस राज्य को कहा गया जिसमें जनता के प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति राज्य के शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था। गणराज्य वह राज्य था जिसमें समस्त जनता मताधिकार रखती थी किन्तु शासन का अधिकार केवल प्रतिनिधियों को प्राप्त था। पारमेष्ठ्य राज्य वह था जिसमें मताधिकार प्रत्येक गृहपति को दिया जाता था, जो कि शासन कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था। कुलीन गणराज्य वह होता था जिसमें मताधिकार केवल कुलपतियों को प्राप्त होता था और प्रत्येक कुलपति शासन कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था। सामंत पर्यायी गणराज्य वह होते थे, जिनमें केवल सामन्त ही भाग लेते थे। संघ राष्ट्र का प्रयोग ऐसे राज्यों के लिये किया जाता था, जिनमें एक से अधिक गणराज्य मिलकर शासन में समान रूप से भाग लेते थे।[1] वैदिक ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि उस काल में गणराज्यों का अस्तित्व था। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में यह प्रार्थना की गई है कि समिति की मन्त्रणा एक मुखी हो। सदस्यों के मत भी परम्परानुकूल हों और निर्णय भी सर्वसम्मत हों।[2] यह सूक्त जिस समिति की ओर संकेत करती है वह गणतन्त्रात्मक समिति प्रतीत होती है, इससे स्पष्ट होता है कि राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतन्त्र के रूप में ही हुई थी। ब्राह्मण साहित्य में भी अनेक गणराज्यों का उल्लेख मिलता है।

डॉ. अल्तेकर महोदय का कहना है कि "इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तर कुरू और उत्तर भद्र-वैराज्य" गणतन्त्र ही थे, क्योंकि विराट् सम्बोधन उनके राजाओं का नहीं, वरन् नागरिकों का है और अभिषेक राजा का नहीं जनता का होता है।[3]

महाभारत में स्पष्ट रूप से गणराज्यों के अस्तित्व का आभास मिलता है। जैन एवं बौद्ध साहित्य में इस ओर कुछ संकेत प्राप्त होते है। कौटिल्य प्रणीत "अर्थशास्त्र" में हमें गणराज्यों की जानकारी प्राप्त होती है। मेगस्थनीज की "इण्डिया" नामक पुस्तक से भी ज्ञात होता है कि उस काल में गणतंत्र राज्य थे। अर्थशास्त्र में एक स्थान पर द्वैराज्य एवं वैराज्य के कतिपय विशेष लक्षणों का उल्लेख किया गया है। उनका कहना है कि द्वैराज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है, क्योंकि एक ही राज्य में

---

1. *डॉ0 हरिश्चन्द्र शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ0 312*
2. *डॉ0 ए. एस. अल्तेकर : प्राचीन भारत में शासन पद्धति, पृ0 8*
3. *डॉ0 ए. एस. अल्तेकर : प्राचीन भारत में शासन पद्धति, पृ0 82*

ही राजा होने से उन दोनों पक्षों में रागद्वेष होने से अथवा संघर्ष से द्वैराज्य शीघ्र नाश को प्राप्त होता हैं।[1]

वैराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल चलता हुआ सबके भोगने योग्य होता है, ऐसा आचार्य गण मानते है।[2] वैराज्य लोकतन्त्रात्मक राज्य थे। इनमें राज्य की प्रभुता राज्य के निवासियों के अधीन थी। वहाँ के निवासी नृपतन्त्रात्मक राज्य के नितान्त विरोधी थे। ऐतरेय ब्राह्मण में भी वैराज्य को एक विशेष प्रकार का राज्य बताया गया है जो नृपतन्त्रात्मक राज्य से भिन्न माना गया है।[3] महाभारत में भी वैराग्य को विशेष प्रकार का राज्य माना है जिसका अधिपति राजा नहीं होता।[4] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैराज्य लोकतन्त्रात्मक राज्यों में एक विशेष प्रकार के राज्य थे, जिनकी प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य से समानता की जा सकती है।

संघ राज्य—

डॉ. श्यामलाल पाण्डेय के मतानुसार महाभारत काल में भी संघ राज्य थे। अन्धक तथा वृष्णि संघ राज्य प्रारम्भ में अलग थे। बाद में इन्होने मिलकर अपना एक संघ बना लिया था और श्रीकृष्ण को इसका प्रधान बना दिया था। महाभारत के शान्ति पर्व से प्रकट होता है कि यादव, कुकुर और भोज भी इस संघ की इकाई थे।

कौटिल्य के समय में भील राज्यों के कतिपय संघ थे, जो राज्य इन संघ राज्यों में संधिभूत हुये थे, क्षेत्र की दृष्टि से बहुत छोटे थे। संघ की शक्ति को कौटिल्य ने भी स्वीकार किया है। उनके समय के ये राज्य छोटे होते हुये भी शक्तिशाली थे। सिकन्दर महान को भी ऐसे राज्यों से युद्ध लड़ना पड़ा था। सिकन्दर स्वंय एवं उसके सैनिक भी उनका लोहा मानते थे। ऐसे ही राज्य से युद्ध करते हुये सिकन्दर को भी चोट आयी थी। कौटिल्य ने इस समय के चार राज्यों के नाम दिये है, ये कम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी नाम के राज्य थे।[5]

---

1. *द्वैराज्य वैराज्यो द्वैराज्य गण्योन्यपक्ष द्वैयानुरागाभ्याम्परस्पर संधषेण वा विनश्यन्ति।*
   अर्थ0 अधि0 8, अ0 2, वार्ता 6
2. *वैराज्यं तु प्रकृति चित्तग्रहणाविक्षिपयास्थित मन्ये मुन्धितद्धत्याचार्या।*
   अर्थ0 अधि0 8, अ0 2, वार्ता 7
3. *यानहमनु राज्याय साम्राज्याम भेज्याम स्वाराज्याय वैराज्यम।। अर्थ0 अधि0 8, अ0 2, वार्ता 8*
4. *न वैराज्य न राजा तीन्न न य दण्ड: न दारिण्डक।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 59, श्लोक 14*
5. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : कौटिल्य की राज व्यवस्था, पृ0 202*

इनको कौटिल्य ने शस्त्रीय जीवी संघ स्वीकार किया है।[1] पाणिनी के वाहीक देश में स्थित अयोध जीवी संघों के सामान ही थे। जिनके नागरिकों को सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से प्राप्त करनी पड़ती थी। इन राज्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य संघ राज्य भी थे जिन्हें राज्य शकोप जीवी संघ कहा गया है। ये संघ उन राज्यों के संघीभूत होने से बने थे जो शस्त्रीय जीवी राज्यों से भिन्न थे। वहाँ के निवासियों की सैनिक शिक्षा अनिवार्य नहीं थी। यहाँ स्थानीय सेना की व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत वर्णित राज्य शास्त्रीयजीवी संघ में कई गणराज्य सम्मिलित थे। उनमें लिच्छिवि, वृणि, मर्द, मल्य, कुकुर , कुरू तथा पांचाल थे। इस प्रकार अर्थशास्त्र में 11 राज्यों की ओर संकेत किया गया है, जो संघ राज्य थे। दोनों प्रकार के संघों के अन्त में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे ये भी स्पष्ट होता कि इन राज्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य राज्य भी थे।

सम्राट अशोक के शिलालेखों में तत्कालीन गणराज्यों का भी उल्लेख किया गया है। अशोक के काल के गणराज्यों को दो राज्यों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के वे गणराज्य थे जिन्हें आन्तरिक प्रशासन की स्वतन्त्रता थी किन्तु बाह्य सम्बन्धों में वे मौर्य साम्राज्य के संरक्षण में थे और उन्हें कर भी देते थे। अशोक के पांचवे एवं तेरहवें शिलालेख में वर्णित योम (यवन) कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक वितिनिक भोज, आन्ध्र, पारध और नायक को प्रथम श्रेणी के गणराज्यों में लिया जा सकता है। साम्राज्य के बाहर रहने वाले जनतन्त्रों में चहेड़, पाण्ड्य, केरल आदि को द्वितीय श्रेणी के गणराज्य स्वीकार किया जा सकता है।

भोज्य शासन-प्रणाली—

ऐतरेय ब्राह्मण में भोज्य शासन प्रणाली का उल्लेख आया है।[2] भोज राष्ट्र के प्रयोग करने से यह सिद्ध होता है कि स्थान के अनुसार भी राज्यों की प्रणाली का नामकरण कर दिया जाता था। अशोक के शिलालेख से स्पष्ट होता है कि भोज्य और राष्ट्रिक दोनों ही एक समान थे। भोज्य राज्यों

---

1. *कोम्बो जसुराष्ट्र खीत्रयर्क्षण्यादिशो वर्ताशस्त्रोपजीवित: ।*
अर्थ0 अधि0 11, अ0 1, वार्ता 3
2. *दखिणास्यां दिशि ये के च सत्वता राजानो भोज्यायैव।*
ते मिषिंच्यन्ति। भेजे त्ये नानभिषिक्ता ना वक्षत।
ऐतरेय ब्राह्मण : 18/14

को पैत्रिक शासन प्रणालियों के विपरीत माना गया है क्योंकि इस व्यवस्था में नेतृत्व संयुक्त होता था। महाभारत के शान्ति पर्व में भी भोज्य प्रणाली का उल्लेख है। खारवेल के शिलालेख में राष्ट्रिक एवं भोजक शासन प्रणालियों का उल्लेख है।

स्वराज्य शासन-प्रणाली—

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पश्चिमी भारत में इस प्रकार की शासन प्रणाली थी। स्वराज्य का अर्थ ऐसे शासक से है जो स्वंय शासन करने वाला हो। डॉ. जायसवाल का मत है कि स्वराज्य अभिषेक का अर्थ संभवत: गण या परिषद् के सभापति के रूप में नियुक्त होने से रहता होगा। गण के सभी सदस्य बराबर माने जाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यह शासन प्रणाली नीच्य या अपाज्य लागों में प्रचलित थी। यजुर्वेद के समय इसका प्रचलन उत्तरी भारत में था।[1]

वैराज्य शासन-प्रणाली—

उत्तरी भारत के कतिपय जातियों में इस शासन प्रणाली का प्रचलन था। ऐतरेय ब्राह्मण में हिमालय के पार्श्व में इस प्रकार की शासन प्रणाली का प्रचलन माना गया है। इस प्रणाली का शब्दार्थ बिना राजा के या राजा रहित प्रणाली के रूप में किया जाता है। यजुर्वेद के समय वह दक्षिण भारत के कुछ भागों में प्रचलित थी। इसमें किसी व्यक्ति विशेष को राजा न मानकर सम्पूर्ण देश अथवा जाति को राजपद के लिये अभिषिक्त किया जाता है। उत्तर मद्री में यह राज्य व्यवस्था अपनायी गयी थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वैराज्य को शासन प्रणाली का रूप माना है। उनकी दृष्टि से यह दूषित प्रणाली है अत: इसे समाप्त कर देना चाहिये। डॉ. जायसवाल के विचार से साकल (स्यालकोट) था बाद में विदेशी आक्रमण से प्रभावित होकर ये लोग दक्षिण प्रदेश में चले गये होगें।[2]

नृपतन्त्र—

प्राचीन भारत में अनेक प्रकार के शासन तन्त्रों का ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु सबसे अधिक प्रचलन नृपतन्त्र का ही था। देवासुर सग्राम में देवताओं ने जब अनुभव किया कि उनके

---

1. *डॉ0 हरिशचन्द्र शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ0 138*
2. *डॉ0 हरिशचन्द्र शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ0 139*

पराजय का कारण उनमें किसी राजा का न होना है तो सबने इन्द्र को श्रेष्ठ यशश्वी और शक्तिशाली होने के कारण ही अपना राजा बनाया। युद्ध में विजय नेता के साहस, कौशल और पराक्रम पर ही निर्भर है। इसीलिये राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले वाजपेय यज्ञ में रथ की दौड़ की प्रथा थी। वैदिक काल का समाज पितृ प्रधान कुटुम्ब मूलक था। कई कुटुम्बों को मिलाकर कुल, कुलों को मिलाकर विश और कई विशों को मिलाकर जन का संगठन किया जाता था। विशपतियों में से इन्हीं गुणों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को विशपति का पद प्रदान किया जाता था। उसकी योग्यता की जांच रथ दौड़ जैसे उपायों से की जाती थी।[1]

वैदिक युग में राजा—

ऋग्वेद के एक स्थल से ज्ञात होता है कि राजा का निर्वाचन होता था। अथर्ववेद में भी एक स्थल पर राजा के वरण की कामना की गई है।[2] विश्व के इतिहास में वैदिक राजा का पद अपनी निजी विशेषता के लिये विख्यात् है। उसका निजी अस्तित्व है और उसकी अपनी लक्षणता है। वैदिक राजा की नियुक्ति का सर्वप्रथम सिद्धान्त यह था कि राज्य पद का वैध अधिकारी क्षत्रिय मात्र है।[3] परन्तु क्षत्रिय इस पृथ्वी का भक्षण कदापि न करे। क्षत्रिय द्वारा पृथ्वी के भक्तों का निषेध अथर्ववेद में इस प्रकार किया गया है –" हे राजन् ब्राह्मणों ने यह पृथ्वी तुम्हें इसका भोग करने के लिये नहीं दी है, ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त इस पृथ्वी की हिंसा न करना।[4]"

वैदिक काल में ही राजपद अनुवांशिक बन चुका था। तृत्सुओं में चार पीढ़ी से और अधिक समय से ही पुत्र ही पिता की गद्दी पर बैठते चले आ रहे थे। राज्याभिषेक की घोषणा में भी नये राजा को राजा का पुत्र कहा गया है ।[5] रामायण के उल्लिखित "राजक तोर:" राजा के निर्वाचक नहीं, वरन् राज्याभिषेक करने वाले ब्राह्मण हैं। जब अपने श्रेष्ठ पुत्रों की उपेक्षा करके राजा प्रतीव ने अपने छोटे पुत्र शान्तनु को तथा अथाति ने पुरू को राज्य दिया तो प्रजा ने महल के सामने एकत्र

---

1. *मैक्रण्डल : ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ0 38*
2. *त्वां विशो वृणातां श याय।   अथर्ववेद : 3/4/2*
3. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य व्यवस्था, पृ0 68*
4. *अथर्ववेद : 1/1/8/5*
5. *राजानाम् राजपितराम।   ऐतरेय ब्राह्मण : 8/12*

होकर प्रतिवाद किया। वे केवल ज्येष्ठ पुत्र के स्वाभाविक अधिकार के अपहरण का कारण जानना चाहते थे और राजा के उत्तर से सन्तुष्ट होकर वे सब चले गये।[1]

महाकाव्य काल में भी राज्यपद अनुवांशिक ही था। राम को युवराज बनाये जाने के सम्बन्ध दशरथ ने नारद, करद, सामन्त एवं पड़ौसी राजाओं को बुलाया था। उन्होनें उपचारत: राम को युवराज बनाने की सहमति दी, लेकिन वे राम के वनगमन को न रोक सके। यह भी कहा गया है कि रूद्र दामन (606 ई0) और गोपाल (750 ई0) जनता द्वारा राजा बनाये गये थे।[2] इसमें सन्देह नहीं कि इनमें जनता द्वारा राजा बनाये जाने की बात कही गयी है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रूद्र दामन ने अपने पराक्रम से राजपद प्राप्त किया था।

अनुवांशिक राजपद्धति से सम्बन्धित कुछ वैधानिक तथ्य भी उल्लेखनीय है। साधारणत: हिन्दू परिवारों की सम्पत्ति भाइयों में विभाजित होती है। परन्तु राज्य अविभाज्य होता था और ज्येष्ठ पुत्र ही यदि अंधा, गूंगा या मूर्ख न हो, गद्दी का उत्तराधिकारी होता था।

परन्तु राज्य लिप्सा प्रबल होती है और कभी-कभी उसी के कारण छोटे भाई राज्य प्राप्ति के लिये गृहयुद्ध पर भी उतारू हो जाते थे। इतिहास एवं दंत कथाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं। छोटे भाइयों को जागीर अथवा छोटे राज्य देकर सन्तुष्ट कर दिया जाता था। गुजरात की राष्ट्रकूट और वेगीपरम की चालुक्य राजशाखायें इसी प्रकार स्थापित हुई थीं।

भीष्म ने धर्मराज को सलाह दी कि युद्ध में मारे गये राजाओं की गदद्‌ पर पुत्र के अभाव में पुत्रियों को भी आसीन करने की अनुमति दी जाये।[3] किन्तु अधिकांश विधानशास्त्रियों को स्त्रियों को राज्य देने में विरोध था। उनका विचार था कि अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण वे भली-भाँति राज संचालन में असमर्थ हैं। अत: कन्या के अतिरिक्त अन्य उत्तराधिकारी न रहने पर जामाता अपने सुसर की गद्दी पर बैठता था। ऐसी व्यवस्था में उसकी पत्नी केवल नाम मात्र की रानी नहीं रहती थी, किन्तु पति के साथ प्रत्यक्ष राज्य संचालन भी करती थी। चन्द्रगुप्त प्रथम और उसकी लिच्छाविवंशीय रानी कुमारदेवी की सयुंक्त मुद्रा से इस मत की पुष्टि होती है।

---

1. *वाल्मीकि रामायण*
2. *आर. सी. मजूमदार : कारपोरेट लाइफ इन एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ0 112*
3. *कुमारी नास्ति येषां च कन्यास्तत्रीभिषचय ।   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 33, श्लोक 45*

   विष्णुधर्मोत्तर0 3/42, 47 एवं 49

राजा में देवत्व की भावना थी। उसे देवाधिदेव प्रजापति का प्रतीक माना गया था।[1] आचार्य मनु का कथन है कि राजा नर रूप में महान् देवता है। ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिग्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है।

संसार के अन्य देश भी राजा के देवत्व स्वरूप को स्वीकार करते है। मिश्र में राजा को सूर्य देवता का पुत्र माना जाता था। प्राचीन वैवीलोनिया और असीरिया में भी राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था।

आदर्श राजा—

प्राचीन भारतीय राजशास्त्री आदर्श राजा उसे ही मानते थे जो अपना जीवन प्रजापालन के लिये न्यौछावर कर दे। हमारे धर्मशास्त्रियों ने राजा पर अंकुश लगाने के लिये धार्मिक एवं पारलौकिक दण्डों का विधान किया था। उनका कहना था कि प्रजा का उत्पीड़न तथा सार्वजनिक धन का अपव्यय करने वाला राजा घोर पाप करता है और वह नरक का भागी होता है।

राजपद की प्रतिष्ठा—

चौथी शताब्दी ई. पू. बड़े राज्यों का अस्तित्व प्रकाश में आया जिसके फलस्वरूप राजा की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी । उनके अधिकार भी बढ़े, उनके संरक्षण की भी विशेष व्यवस्था की जाने लगी। उनके अंगरक्षकों की भी व्यवस्था की जाने लगी। उनके भोजन की परीक्षा आरम्भ हुई, ताकि उसमें कई विष न मिला हो। धीरे -धीरे एक वह समय भी आया जबकि बिना विधिवत् परीक्षण के उसकी राजमहिषी भी उससे नहीं मिल सकती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य इसी कोटि के सम्राट थे। यद्यपि राजाओं को कानून बनाने का अधिकार नहीं प्राप्त था, किन्तु उनके आदेशों का पालन करना प्रजा के लिये आवश्यक था। मौर्य सम्राट अशोक के आदेश स्थान—स्थान पर लेखबद्व किये गये। राजा समय—समय पर दौरा भी करने लगे और प्रजा की कठिनाइयों से अवगत होना आवश्यक हो गया। अशोक एवं हर्षवर्धन की ऐसी यात्राओं में राजधानी में नियुक्त गुप्तचरों द्वारा विविध घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता था।

राजा सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश की हैसियत से अपीलों को सुनकर निर्णय भी देता था।

---

1. *एषवे प्रजापते: प्रत्यक्षतमो भद्राजन्य: तस्यादेक: तन बहूनामिष्टे।*

शतपथ ब्राह्मण : 5/15/14

धीरे—धीरे एक वह दिन आया जब शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी में समाहित हो गई। वही महान् न्यायाधीश तथा प्रधान सेनापति बन गया। राज्य की सर्वाच्च सत्ता उसी में केन्द्रित हो गयी।

गुप्तवंशी अनेक राजाओं ने पद की प्रतिष्ठा हेतु अनेक उपाधियाँ धारण कीं। वे महाराज, महाराजाधिराज एवं चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे। सम्भवतः समुद्र गुप्त ने चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के लिये अश्वमेघ यज्ञ किया था परन्तु भारतीय नरेश शास्त्रों के विरोध में जाने की क्षमता नहीं रख पाते थे। धर्मशास्त्रों का अंकुश सदैव उन पर रहता था।

राज्यों की सैद्वान्तिक एवं व्यावहारिक समानता—

प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञ राज्यों की सैद्धान्तिक समानता स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। उनकी दृष्टि में विभिन्न राज्यों में धन, शक्ति,सीमा आदि की दृष्टि से समानता होना असम्भव ही थी। अतः कुछ राज्य बड़े सशक्त एवं समृद्ध हो सकते थे तो कुछ उनकी तुलना में समान या हीन भी। कौटिल्य ने बल और सिद्धि को राज्यों की स्वाभाविक असमानता का कारण माना है। बल का अभिप्राय है शक्ति, और कुल का अर्थ है समृद्धि।[1] मन्त्र प्रभु और उत्साह भेद से शक्ति के तीन प्रकार उन्होंने माने है।[2] इसी प्रकार सिद्धि अथवा समृद्धि के भी तीन भेद उन्होंने स्वीकार किये हैं।[3] त्रिविध शक्ति एवं त्रिविध समृद्धि के आधार पर उन्होंने राज्यों को तीन श्रेणियों मे परिगणित किया है- ज्यायान, हीन और सम। जो राज्य उपर्युक्त शक्तियों एवं समृद्धियों से अन्य राज्यों की अपेक्षा बड़ा हुआ है उसे उन्होंने "ज्यायान" कहा है, जिस राज्य के पास शक्ति एवं समृद्धि की मात्रा कम है वह "हीन" तथा जिसकी शक्ति एवं समृद्धि दूसरे राज्य के बराबर है तो उसको "सम" राज्य माना जायेगा।[4] शुक्र ने धन के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया है।[5]

---

1. *शक्तिः सिद्धिश्य। बलं शक्तिः । सुख सिद्धि।* *अर्थ0 6/2*
2. *शक्तिस्त्रिविधा ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः विक्रमबलम्- तरहयशक्तिः ।* *अर्थ0 6/2*
3. *पयं सिद्धिस्त्रिविषेन---- उत्साहसिद्धिरिति।* *अर्थ0 6/2*
4. *ता भिरभ्युच्यितो ज्यायान् ीवति। अपयितो हीनः। तुल्यश वितः सम : ।* *अर्थ0 6/2*
5. शुक्र0 अ0 1, श्लोक 183-187

इसके अतिरिक्त राज्यों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार न करने का एक अन्य पक्ष था। भारतीय आचार्यो ने वैदिक काल से ही राजा के समक्ष सम्पूर्ण पृथ्वी का एकराट् बनने का आदर्श प्रस्तुत कर रखा था। इसके लिये राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय जैसे याज्ञिक अनुष्ठान करने पड़ते थे। जो राजा जितनी सफलता प्राप्त कर लेता था उसका स्तर उतना ही ऊंचा उठ जाता था। राजा, भोज, स्वराट्, महाराज, एकराट्, मौल, चक्रवती आदि राजपदवियाँ राजाओं और उनके राज्यों के विभिन्न स्तरों की ही परिचायिका हैं। शतपथ ब्राह्मण में राज्य को हीन और साम्राज्य को श्रेष्ठ बताया गया है।[1] महाभारत से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[2] अधीनस्थ राजा चक्रवर्ती राजा को कर देने के लिये बाध्य होते थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राज्यों की समानता के सिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था।

किन्तु राज्यों की समानता के सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष भी था। यद्यपि शक्ति और ऐश्वर्य के आधार पर विभिन्न राज्यों में असमानता होना सार्वकालिक घटना है, किन्तु राज्यों के पारस्परिक सौहार्दपूर्ण व्यवहार द्वारा इस असमानता को दूर करने का प्रयास सदैव किया जाता रहा है। एक राज्य दूसरे राज्य को मान्यता देकर, दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर, अपने समारोहों में आमन्त्रित कर या किसी अन्य प्रकार के संबन्ध स्थापित कर उसकी सत्ता एवं महत्ता को स्वीकार करता ही था। राज्याभिषेक, स्वयंवर, जन्मोत्सव और युद्ध के अवसरों पर विभिन्न राज्याध्यक्षों की उपस्थिति का स्वरूप "अन्तर्राष्ट्रीय समारोह" जैसा होता था। वहाँ उपस्थित सभी राजाओं को एक जैसा सम्मान मिलता था। छोटे-छोटे राजाओं और सामन्तों को भी बड़े आदर और सम्मान के साथ समारोहों में स्थान दिया जाता था।[3] इससे विभिन्न राज्यों की व्यावहारिक समानता की पुष्टि भली-भांति हो जाती है।

---

1. *शत0 ब्रा 0 5/2/1/13; 8/4/3/9*
2. *गृहे गृहे दि राजान: स्वस्य स्वस्य प्रियंकरा:।*
   न व साम्राज्यमाप्तो स्ते सम्राट शब्दो हि कृत्स्नभाक्।। *म0 भा0 सभापर्व : अ0 15, श्लोक 2*
3. *वी. ए. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 6*
   रामा0 बाल0 13/19-26; अयोध्या0 1/46; म0 भा0 सभा0 अ0 13, श्लोक 19 एवं अ0 33, श्लोक 35

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञ राज्यों की सैद्धान्तिक समानता के विरोधी थे। लेकिन उनका यह सिद्धान्त शक्ति और समृद्धि की मात्रा पर आधारित था। यह नितान्त व्यावहारिक था। किन्तु दूसरी ओर सम्मान आदि की दृष्टि से पारस्परिक व्यवहार में राज्यों की स्वतन्त्रता को वे महत्व देते थे।

यह भी उल्लेखनीय है कि आज भी विभिन्न राज्यों में शक्ति, समृद्धि और प्रभाव की असमानता स्पष्ट देखी जा सकती है। रूस और अमेरिका जैसे राष्ट्र आज भी ज्यायान् राष्ट्र हैं। संयुक्तराष्ट्र संघ तक में उन्हें कुछ विशेषाधिकार इसीलिये प्राप्त हैं। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक समानता आदि का प्रश्न है, उनके अधिकारों की सीमा उतनी ही है जितनी कि अफ्रीका के किसी छोटे देश के अधिकारों की सीमा है। वस्तुतः आज के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों की समानता से अभिप्राय यही है कि प्रत्येक राज्य को अपने राज्य की सुरक्षा, प्रशासनिक व्यवस्था तथा नीतिनिर्धारण की स्वतन्त्रता का समान अधिकार है।[1] इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय राज्यों में भी समानता का सिद्धान्त मान्य था, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त की व्यवहारिकता सदैव सन्दिग्ध रही है। बड़े राज्य छोटे राज्यों पर अपनी इच्छाओं को सदैव लादते रहे हैं।[2] शक्ति का वर्चस्व सदैव रहा है।[3] अतः राज्यों की समानता को अस्वीकार करने के लिये प्राचीन आचार्यों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय राजाओं की पदवी एवं मान्यता—

प्राचीन भारत में राजागण अपने धन और पराक्रम द्वारा अधिगत सफलताओं के आधार पर विभिन्न उपाधियाँ धारण कर लेते थे। ये उपाधियाँ उनके न केवल पराक्रम और ऐश्वर्य की सूचक थीं अपितु उनके अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की भी परिचायक थी। कुछ प्रमुख उपाधियों के स्वरूप का विवरण इस प्रकार है-

राजा—

राज्य के सर्वोच्च शासक का यह सामान्य पद था। जो भी राजसूय यज्ञ का विधिवत्

---

1. *ओपेनहाइमः इण्टरनेशनल लॉ, (आठवाँ संस्करण), पृ0 262-267*
2. *ब्रियर्ली : दि लॉ ऑफ नेशन्स, पृ0 124*
3. *वशोधर्मः बलवर्ती सुखम् भोग बबा सिद्ध :।*

ना साध्यम् बतवर्ती सर्व बलवर्ती सुचिः।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 34, श्लोक 8

सम्पादन करता "राजा" कहलाने का अधिकारी हो जाता था।[1] किन्तु कालान्तर में इस शब्द का अर्थापकर्ष हो गया। वैदिक युग में यह उपाधि समर्थ राजा की थी, छोटे और असमर्थ राजाओं को "राजक" कहा जाता था। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि "वह विश्र जिसने दस-दस सहस्त्र दिये केवल वही राजा है, अन्य तो सरस्वती के तट पर केवल "राजक " है।[2] किन्तु उत्तरवर्ती युग में "राजा" का अभिप्राय सामन्तों से जान पड़ता है। महाभारत में लिखा है कि घर-घर में राजा है किन्तु सम्राट पद पाने के अधिकारी नहीं है।[3] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा सम्राट की अपेक्षा हीन होता था।[4] शुक्र के मत में जिस शासक की वार्षिक आय दस से बीस लाख तक होती, वह "राजा" कहा जाता था।[5]

महाराज—

"राजा" की अपेक्षा यह उच्चतर पद था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यदि कोई राजा अन्य प्रबल राजा को पराजित कर उसके राज्य को अपने अधीन कर लेता तो वह "महाराज" हो जाता था।[6] शुक्र के मत से पचास लाख तक का वार्षिक आय वाला राजा "महाराज" था।[7]

सम्राट—

राजा की विभिन्न उपाधियों में यह सर्वोच्च उपाधि थी। एकराट्, अधिराज, सार्वभौम आदि राजपदवियाँ "सम्राट" के ही दूसरे नाम थे। जो सम्पूर्ण भुवन का एकछत्र आधिपति होता है, जिसके समान कोई अन्य आधिपति नहीं होता और जिसे हानि पहुँचाने की क्षमता वाला अन्य राजा नहीं होता वह राजा "सम्राट" कहलाता है।[8] वाजपेय यज्ञ का विधिवत् सम्पादन करने पर इस उपाधि

1. *ऐत0 ब्रा0 8/14; शत0 ब्रा0 5/1/1/3*
2. *चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमन।   ऋ0 8/21/18*
3. *गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियकराः ।*
   न व साम्राज्यमाप्ता स्ते सम्राट शब्दों हि कृत्स्नभाक्।।   म0 भा0 सभापर्व : अ0 5, श्लोक 2
4. *अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्।   शत0 ब्रा0 5/1/1/13 एवं 9/3/4/8*
5. *शुक्र0 अ0 1, श्लोक 185*
6. *इन्द्रो वा एव पुरा वृवस्य वधाय वृत्र ह त्वामहाराजो विजिग्यान एव महेन्द्रो भवत्।*
   शत0 ब्रा0 17/3/3/4
7. *पंचाशल्लक्षपर्यन्तो महाराजः प्रकीर्तित ।   शुक्र0 अ0 1, श्लोक 185*
8. *आसाद् विश्वा भवना नि सभा हिति तेनेद सर्वमा स्पूणाति तस्य हि न हन्ता स्ति न गधो।*
   येनेदं सर्वमा स्पूतं तस्मादाहासीट् विश्वा भुवना नि समाड़ इति । शत0 ब्रा0 3/3/4/4

को धारण कर सकता था।[1] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ऐन्द्रमहाभिषेक से अभिषिक्त राजा ही इस उपाधि का अधिकारी माना जाता था।[2] शुक्र ने सम्राट की राजकीय वार्षिक आय दस करोड़ मानी है।[3]

स्वराट्–

विश्व के सभी प्राणियों को आत्मा ही समझकर शासन करने वाला राजा "स्वराट्" कहा जाता था।[4] वह विष्णु के समान एकदम स्वतन्त्र होता है, पराधीनता का इसमें लेश भी नहीं होता।[5] सर्वमेघ यज्ञ करने पर यह उपाधि धारण की जा सकती थी।[6] किन्तु शुक्र का मत उसके नितान्त विपरीत है। उनकी दृष्टि में एक करोड़ वार्षिक आय वाले राजा स्वराट् कहे जाते थे।[7]

विराट्–

पचास करोड़ वार्षिक आय वाले राजाओं को शुक्र ने विराट् कहा है।[8]

सामन्त–

ये शक्तिशाली राजाओं के अधीनस्थ हुआ करते थे। शुक्र ने इनकी वार्षिक आमदनी एक लाख से तीन लाख राजत (चाँदी का रूपया) मानी है।[9]

इनके अतिरिक्त महासामन्त, महाराज -- राजाधिराज-देवपुत्र, परमभटटारक, महाराजाधिराज, परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वर, जैसी अनेक राजपदवियों के उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं।

---

1. *सम्राट वाजपेयेन । शत0 ब्रा0 2/3/4/8*
2. *ऐत0 ब्रा0 39/1*
3. *शुक्र0 अ0 1, श्लोक 186*
4. *आस्मेवेदं सर्वामिति – स स्वराड़ भवति । छान्दोग्य0 7/25/2*
5. *शत0 ब्रा0 13/7/1/1*
6. *---- सर्वमेधे सर्वान् मेध्यान् इत्वा – – – स्वाराज्य – – – ।*
   शत0 ब्रा0 13/7/1/1
7. *शुक्र0 अ0 1, श्लोक 186*
8. *शुक्र0 अ0 1, श्लोक 186*
9. *शुक्र0 अ0 1, श्लोक 183–84*

उपर्युक्त उपाधियों को राजा लोग यद्यपि अपने पराक्रम के बल पर स्वयं अर्जित करते थे किन्तु अन्य राजागण भी उन्हें विधिवत् स्वीकार कर मान्यता देते थे।

धार्मिक अनुष्ठानों का महत्व—

इन उपाधियों के सन्दर्भ में धार्मिक अनुष्ठानों का असाधारण महत्व था। यद्यपि राजा अपने प्रताप और ऐश्वर्य के अनुसार सफलता प्राप्त कर छोटे या बड़े राज्य के अधिपति बनते थे किन्तु जब तक वे विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा नहीं कर लेते थे तब तक उन्हें नये रूप में मान्यता नहीं मिलती थी। वस्तुतः पहले से ही अधिगत की गयी प्रभुसत्ता की स्थापना इन अनुष्ठानों के सम्पन्न करने पर ही मान्य समझी जाती थी, उदाहरण के लिये कर्ण ने दिग्विजय कर ली थी किन्तु ब्राह्मणों की सम्मति न मिल सकने के कारण दुर्योधन राजसूय यज्ञ नहीं कर सका। परिणामतः राज्य पर उसका अधिकार स्वीकार नहीं किया गया और अधिकांश राज्य युधिष्ठिर को ही राजा मानते रहे। वैदिक परम्परा के अनुसार राजपद की प्राप्ति के लिये राजसूय, सम्राट पद के लिये वाजपेय एवं ऐन्द्रमहाभिषेक तथा स्वराट् के लिये सर्वमेघ यज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक था। इन अनुष्ठानों के पूरा करने पर राजा का अभिषेक धार्मिक विधियों के साथ सम्पन्न किया जाता था। इस अवसर पर अन्य राजा भी उपस्थित होते थे। उनकी उपस्थिति में नव अभिषिक्त राजा शपथ तथा दण्ड ग्रहण करता था और वे भेंट, उपहार, प्रमाण आदि के द्वारा उसकी नवीन स्थिति को स्वीकार करते थे।

राजसूय यज्ञ—

राज्याभिषेक के समय किया जाने वाला राजसूय यज्ञ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृत्य था। इसे उद्घाटन समारोह भी कह सकते हैं। प्रारम्भ में समस्त प्रजा इसमें सम्मिलित होती थी और जो राजचिन्ह राजा को दिया जाता था उसे "पन" कहते थे। बाद में केवल प्रजाप्रतिनिधि ही अभिषेक में भाग लेने लगे। राजा इसमें रत्नियों को हवि देता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इन रत्नियों की संख्या 12 थी। इसके पश्चात् राजा देवताओं को बलि देता था। बलि लेने वाले देवता में सविता, अग्नि, सोम, वृहस्पति, इन्द्र, रूद्र, वरूण आदि का नाम उल्लेखनीय है।[1] राजसूय यज्ञ एक

---

1. डॉ० हरिशचन्द्र शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ० 382

राजनीतिक संस्कार है और यह केवल क्षत्रियों के लिये ही निहित माना है।डॉ0 जायसवाल के मतानुसार समाज के प्रधानों या राजाओं को अभिषिक्त करने कि लिये श्रुतियों में तीन यज्ञ कहे गये हैं। इनमें से सबसे पहला यज्ञ राजसूय है। डॉ. जायसवाल ने राजसूय एवं बाजपेय दोनों यज्ञों को एक दूसरे का पूरक बताया है। उनकी दृष्टि में दोनों कृत्यों की बहुत सी बातें समान हैं। राजा जिन रत्नियों के घर जाता था, उन्हें रत्न हवियाँ सौंपता था, ये थे-सेनानी, पुरोहित, महिषी, (महारानी) सूत, ग्रामीण, क्षत्रीय, संगहित (कोषाध्यक्ष), भागद्रधा (भूमि कर वसूल करने वाला), अक्षावाय, गोविकृत, पालागल। फिर सोम और इन्द्र को राजा पार देता था। अभिषेक समारोह में विभिन्न नदियों, समुद्र, आकाश एवं अन्य पदीय श्रोतों का जल मंगवाया जाता था, फिर कुछ देवताओं को बलि दी जाती थी,फिर विभिन्न वर्णो के लोग या वर्गो के प्रतिनिधि जल को राजा के ऊपर छिड़कते थे। तदुपरान्त राज्य पुरोहित द्वारा राजा का अभिषेक किया जाता था तथा वह कहता था कि "अन्तरिक्ष और इस पृथ्वी को जो दिव्य जल अंपने सत्व रस से तृप्त करते है उन सब जलों के तेज से मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, जिससे तुम इस तेज से युक्त हो।"[1] तत्पश्चात् वेद संस्कार होता था जिसके अनुसार 10 अहुतियाँ दी जाती थीं। यह संस्कार दस दिन तक चलता था। राज्याभिषेक का अन्तिम सस्कार वह था जिसमें विद्यातिवी आहुतियाँ दी जाती थीं। इस प्रकार राजा का संस्कार होकर राजसूय यज्ञ पूर्ण होता था।

वाजपेय-यज्ञ—

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वाजपेय यज्ञ ब्राह्मण एवं क्षत्रियों दोनों द्वारा किया जाता था[2] क्योंकि इसे वृहस्पति और इन्द्र दोनों ने किया था। यह यज्ञ राजसूय यज्ञ से बड़ा होता है क्योंकि यह सम्राट् द्वारा किया जाता था। दीक्षितार का कथन है कि इस यज्ञ में सम्राट द्वारा उत्तर की ओर 17 वाण छोड़े जाते थे। ऐसा करके यह प्रदर्शित किया जाता था कि वह अनेक शासकों का शासक है। इसमें रथ की दौड़ करायी जाती थी तथा राजा विजयी होता था। यह शक्ति का प्रतीक है

---

1. राजा वे राजसूर्यनेष्टा। शतपथ ब्राह्मण : 8/4/3/9

2. अर्थववेद- 4/8/5; शतपथ ब्राह्मण : 8/4/3/9

और फिर प्रजा उसको अन्य राजाओं से श्रेष्ठ मानती थी। इसे सम्राट् कहते थे। प्राक् कौटिल्य काल में भिन्न-भिन्न प्रकार के राजाओं के लिये भिन्न- भिन्न प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न किया जाना नितान्त आवश्यक था। बिना उन यज्ञों के सम्पन्न किये उन्हें वह पद प्राप्त नहीं हो सकता था। सम्राट पद के लिये वाजपेयी यज्ञ का सम्पन्न किया जाना आवश्यक था। चक्रवर्ती के लिये राजसूय यज्ञ किया जाता था।[1]

उत्तरवर्ती कौटिल्य काल में राज्यों के स्वरूप और अवधारणा भिन्न हो चुकी थी। पुरातन मान्यतायें देश और काल की परिस्थितियों से प्रभावित हुई और शुग काल में ब्राह्मण कार्य की पुरातन मान्यताओं की पुन: प्रतिष्ठा हुई तथा पहली बार राजपद की गरिमा का जनता में प्रदर्शित करने के लिये पुष्य मित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ किया।[2]

अश्वमेध यज्ञ—

डॉ0 फ़्लीट के अनुसार यह धार्मिक अनुष्ठान अश्व पर केन्द्रित था। उनमें कुछ चुने हुये अश्वों को स्वतन्त्रता पूर्वक सशस्त्र व्यक्तियों के संरक्षता में घूमने के लिये छोड़ दिया जाता था। इस अनुष्ठान का अन्त कभी-कभी अश्ववामी पर और कभी-कभी अनुष्ठानावधि तक अश्व को बांध कर रखने पर केन्द्रित था।

अश्वमेध यज्ञ को दिग्विजय के बाद किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में इसे राष्ट्रीय यज्ञ कहा है तथा इसे राष्ट्रीय समृद्धि का प्रतीक माना है।[3] यह यज्ञ एक वर्ष 15 दिन में पूरा होता था। इसे अश्वमेघ इसी लिये कहते थे कि इसमें यज्ञ का घोड़ा होता था जिसे आस पास के प्रदेशों में छोड़ा जाता था।[4] उसके साथ एक सैनिक दल भी होता था। यदि कोई उस घोड़े को बांध लेता था तो उससे युद्ध किया जाता था और वह जिन-जिन राज्यों से जाता था उससे यह समझा जाता था कि उन राजाओं ने घोड़ा छोड़ने वाले राजा की आधीनता स्वीकार कर ली है। लौटने पर नहला-धुला कर

---

1 शतपथ0 8/4/3/9

2. डॉ0 हेमचन्द्र राय चौधरी : प्राचीन काल का भारत राजनीतिक इतिहास, पृ0 343

3. डॉ0 हरिशचन्द्र शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृ0 387

4. डॉ0 हेमचन्द्र राय चौधरी : प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0 343 एवं 491

एवं सजा कर घोड़े की बलि दी जाती थी और अश्व के शरीर के पास राजमहिषी लेटती थी। इसका अर्थ था साम्राज्य की धन-धान्य, सम्पत्ति एवं शक्ति की प्राप्ति।[1] वैदिक काल के बाद ब्राह्मण काल एवं गुप्त काल में पुन: एकबार यज्ञों की परम्परा चली और पुष्यमित्र शुंग, समुद्रगुप्त एवं भारतीय राजाओं ने अश्वमेघ यज्ञ प्रारम्भ किये।[2]

राज्यों द्वारा व्यवहृत राज्जीय चक्रवर्तित्व का स्वरूप—

सामान्यतया "चक्रवर्ती" शब्द का अर्थ "सम्पूर्ण पृथ्वी का एकछत्र सम्राट" समझा जाता है। सार्वभोम सम्राट इसी का अन्य पर्यायवाची शब्द है। यद्यपि सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य में चक्रवर्ती सम्राटों का वर्णन इसी रूप में हुआ है तथापि उनका व्यवहारिक स्वरूप वैसा न था, यह सम्बन्धित स्थलों के प्रगाढ़ अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है।

वैदिक काल से ही प्रत्येक आर्य राजा के सामने "सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाने"[3] और "समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकमात्र शासक"[4] बनने की उत्कृष्ट अभिलाषा एवं महान् आदर्श उपस्थित रहता था। राजपद पर अभिषिक्त होने के बाद राजा का प्रथम कर्तव्य होता था— द्विग्विजय करना। उसका प्राचीनतम उल्लेख यजुर्वेद में हुआ है जहाँ पुरोहित नवनियुक्त राजा को परामर्श देते हुये कहता है - "हे राजन्! राष्ट्र विरोधी और प्रजा को क्लेश देने वाले प्राणियों का नाश करने के लिये विजय हेतु पूर्व दिशा में प्रस्थान कर।[5] तू विजय हेतु दक्षिण दिशा में प्रस्थान कर[6], तू पश्चिम दिशा में विजय हेतु प्रस्थान कर[7], तू उत्तर दिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[8] हे राजन! तू ऊर्ध्वदिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[9] कहने की आवश्यकता नहीं है कि दिग्विजय की इस वैदिक परम्परा का

---

1. *बाकाटक अभिलेख*
2. *श्रीरामगोपाल : प्राचीन भारतीय का राजनीतिक इतिहास पृ0 142*
3. *कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। ऋ0 10/2/3*
4. *ऐत0 ब्रा0 8/18*
5. *यजु0 10/10*
6. *यजु0 10/11*
7. *यजु0 10/12*
8. *यजु0 10/13*
9. *यजु0 10/14*

पालन प्रत्येक राजा करता था-रामायण, महाभारत, पुराण और संस्कृत साहित्य में वर्णित राजाओं की दिग्विजयों के उल्लेख इसके साक्षी हैं।

चारों दिशाओं में विजय करने के कारण इस विजय कार्य को दिग्विजय कहा जाता था। साहित्यिक उल्लेखों में इस विजय को "सम्पूर्ण पृथ्वी की विजय" कहा गया है। उदाहरण के लिये दुष्यन्त पुत्र भरत ने सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर हजारों अश्वमेघ का यज्ञ किये थे।[1] किन्तु प्रबुद्ध आलोचक भलीभाँति समझ सकते है कि उपर्युक्त प्रसंग में सम्पूर्ण पृथिवी का तात्पर्य मात्र भारतवर्ष वह भी सम्पूर्ण भारत नहीं - अपितु केवल "आर्यावर्त" ही हो सकता है। फिर भी भरत को सर्वत्र चक्रवर्ती या सार्वभोम सम्राट कहा गया है।[2] यह स्थिति गुप्तनरेशों के उन उल्लेखों से और भी स्पष्ट हो जाती है जिनमे उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी के सम्राट के रूप में सादर स्मृत किया गया है भले ही उनके साम्राज्य का विस्तार मात्र उत्तरभारत तक ही सीमित था।[3] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महाभारत, पुराणों तथा रघुवंश में वर्णित दिग्विजय के प्रसंगों से भी यह बात भली भांति प्रमाणित हो जाती है कि प्राचीन भारतीय चक्रवर्ती राजाओं द्वारा जिन देशों पर विजय प्राप्त की गई थी, वे सभी देश भौगोलिक दृष्टि से वृहत्तर भारत की सीमा के ही अन्दर स्थित हैं। कालिदास ने पारसियों पर रघु की जिस विजय का उल्लेख किया है[4] उसे ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह प्रथम निष्कर्ष स्थिर किया जा सकता है कि चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्राधिकार भारत की सीमाओं से बाहर नहीं था। इस निष्कर्ष की पुष्टि प्राचीन नीतिग्रन्थ भी करते हैं। कौटिल्य ने "उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तक और पूर्व से पश्चिम तक एक हजार योजन विस्तृत देश (पृथिवी) को चक्रवर्ती का क्षेत्र " माना है।[5] काव्यमीमांसा में राजेशखर ने भी लगभग यही बात कही है।[6] इस प्रकार दिग्विजय के प्रसंगों में "सम्पूर्ण पृथ्वी" का

---

1. *शत0 ब्रा0 13/5/4/13*
2. *म0 भा0 आदिपर्व : अ0 73, श्लोक 129 ; भागवत0 9/20/33*
3. *सलैक्ट इन्स्क्रिप्शंस, भाग-1, पृ0 259 ; रघु0 1/5*
4. *रघु0 4/60-64*
5. *देश : पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाण तिर्यक् चक्रवर्तिक्षेयम्। अर्थ0 9/1/18*
6. *काव्यामीमांसा, अ0 17*

अर्थ मात्र "भारत वर्ष" ही निश्चित होता है। यहाँ स्पष्ट कर देना भी अनुचित न होगा कि चक्रवर्ती क्षेत्र के चार समुद्रों से घिरे होने की कल्पना मात्र पारम्परिक है क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से भारत के केवल तीन ओर ही समुद्र है। डॉ0 रायचौधरी का अनुमान है कि मध्य एशिया में स्थित किसी बड़ी झील को भ्रमवश उत्तरी समुद्र के रूप में कल्पित कर लिया गया होगा।[1] किन्तु डॉ0 डी0 सी0 सरकार का मत है कि उत्तर दिशा का कल्पित समुद्र मध्य एशिया का विशाल रेगिस्तान होना चाहिये[2] जिसे साहित्य में बालुका-समुद्र[3]" के रूप में वर्णित किया गया है। इन दोनों मतों में हमें डॉ0 रायचौधरी का मत अधिक समीचीन जान पड़ता है क्योंकि अनेक स्थलों में भारतवर्ष की उत्तरी सीमा हिमालय में स्थित "बिन्दुसर" स्वीकार की गई है। राजशेखर ने स्पष्ट रूप से "बिन्दुसर से कुमारी पुर" (कुमारी अन्तरीप) तक क्षेत्र को चक्रवर्ती का क्षेत्र कहा है।[4] इस प्रकार पूर्व में बंगाल की खाड़ी, पश्चिम में अरबसागर, उत्तर में बिन्दुसर और दक्षिण में हिन्द महासागर से घिरा भारतवर्ष चारों दिशाओं में चार समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी के रूप में अनायास ही कल्पित कर लिया गया होगा।

इस प्रकार यद्यपि चार समुद्रों से घिरे सम्पूर्ण भारत को "चक्रवर्ती का क्षेत्र" सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया गया था, किन्तु इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि प्राचीन साहित्य में वर्णित कोई भी चक्रवर्ती साम्राट सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपने अधिकार में नहीं ला सका। व्यवहार में चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र कहीं अधिक छोटा था। बाणभट्ट ने हर्ष को सात चक्रवर्तियों का शासक बताया है।[5] इससे स्पष्ट है कि वाणभट्ट के समय में भारतवर्ष में सात चक्रवर्ती सम्राट अपने-अपने क्षेत्रों में राज्य कर रहे थे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि "चक्रवर्ती में "चक्र" शब्द का अर्थ "राजमण्डल"[6] है न कि सम्पूर्ण पृथ्वी और "चक्रवर्ती" शब्द से अभिप्राय उस शक्तिशाली राजा से

---

1. *डॉ0 एच. सी. राय चौधरी : स्टडीज इन इण्डियन एन्टीक्विटीज, पृ0 79-80*
2. *डी0 सी0 सरकार : चक्रवर्तिन् एण्ड हिज क्षेत्र, स्वरूपभारतीय, (1954) में प्रकाशित लेख।*
3. *राजतरंगिणी, 4/172, 279, 294 तथा 8/2763*
4. *काव्यमीमांसा, अ0 17*
5. *हर्षचरित्र : चतुर्थ उच्छ्वास*
6. *आप्टे: स्टूडेन्ट्स सं0 इ0 डिक्शनरी, पृ0 200*

है जो राजण्डल पर अपना शासन स्थापित करता है। हमारे इस मत की पुष्टि क्षीरस्वामी द्वारा दी गई चक्रवर्ती की परिभाषा से भी होती है।[1] प्राचीन भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। भरतीय राजनीतिज्ञों ने अन्तर्राष्ट्रीय (अन्तर्राज्यीय) सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में आठ या 12 राजाओं के पृथक्-पृथक् मण्डलों की कल्पना की थी। प्रत्येक मण्डल में कोई न कोई शक्तिशाली विजिगीषु राजा होता ही था जो सम्पूर्ण मण्डल पर आधिपत्य स्थापित कर चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का इच्छुक रहता था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण भारत में एकाधिक चक्रवर्तियों का एक साथ होना सामान्य बात थी।

पालीसाहित्य में चक्रवर्ती सम्राट -तीन श्रेणीयों में परिगणित किये गये है - चक्रवाल चक्रवर्ती, दीपचक्रवर्ती और प्रदेश चक्रवर्ती। सम्पूर्ण द्वीपों का सम्राट चक्रवालचक्रवर्ती कहा जाता था। केवल एक द्वीप का राजा द्वीपचक्रवर्ती और द्वीप के एक भाग मात्र का राजा प्रदेश चक्रवर्ती कहा जाता था।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रथम दो प्रकार के चक्रवर्ती सम्राट मात्र काल्पनिक थे जबकि तीसरे प्रकार के चक्रवतियों के अस्तित्व को नकारा नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में चक्रवर्ती राज्य की सीमा व्यावहारिक रूप में केवल विशिष्ट राजमण्डल तक ही सीमित हुआ करती थी।

चक्रवर्ती सम्राट अपने मंडल पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के बाद विजित राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित नहीं कर लेते थे। उनकी दिग्विजयों का लक्ष्य राज्यों और राजवंशो का विनाश न होकर केवल उन्हें अपने वश में कर लेना[3] और उनसे कर वसूल करना मात्र होता था।[4] इस प्रकार की विजय को धर्मविजय कहा गया है। अशोक, पल्लवराज शिवस्कन्द वर्मा, पृथिवाषेण ओर समुद्रगुप्त की विजय धर्मविजय" ही थीं।[5] विजित राजा विजेता राजा को विशिष्ट अवसरों पर स्वयं उपस्थित होकर या अपने दूतों के माध्यम से भेंट-उपहार आदि देते थे। महाभारत के सभापर्व में

---

1. *डॉ0 पी. वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, (हिन्दी अनुवाद), पृ0 606*
2. *डी0 सी0 सरकार : चक्रवर्तिन एण्ड हिज क्षेत्र, पृ0 3*
3. *सर शिवस्वामी अययर् : इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू मॉरल्स, पृ0 114*
4. *आप0 धर्म0 20/1/1; म0 भा0 सभापर्व : अ0 26, श्लोक 7-16*
5. *डॉ0 पी. वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, (हिन्दी अनुवाद), पृ0 607*

वर्णित अर्जुन की दिग्विजय के प्रसंग में रघुवंश में वर्णित रघु का दिग्विजय के प्रसंग में तथा प्रयाग की स्तम्भ प्रशस्ति में विजित राजाओं द्वारा विजेता को भेंट, पुरस्कार, उपहार आदि देने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि चक्रवर्ती राज्य के अधीन अन्य सभी राज्य एक प्रकार से पूर्ण स्वतन्त्र हुआ करते थे। उनका अपना कानून और शासन होता था। राज्य की भूमि-सम्पत्ति आदि पर भी अपना ही अधिकार होता था। यद्यपि उन्हें विशिष्ट अवसरों पर चक्रवर्ती की सेवा में उपस्थित होना पड़ना था और नियमित रूप से कर, भेंट आदि देनी पड़ती थीं।

अध्याय–द्वितीय

।। राजमण्डल ।।

अध्याय–द्वितीय

।। राजमण्डल ।।

प्राचीन समय में सम्पूर्ण भारत एक राजनीतिक सूत्र में संगठित नहीं था। उस काल में भारत प्राय: बहुत से छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त रहा। यह सभी राज्य साम्राज्यलिप्सा से अनुप्रेरित थे। कतिपय महत्वाकांक्षी तथा शक्तिशाली राजा अपने पड़ोस के राज्यों को विजित कर साम्राज्य विस्तार के लिये तत्पर रहते थे। इस काल में राज्यों की स्थापना और विस्तार का क्रम चलता रहा। शत्रु से आत्मरक्षार्थ अथवा उसको पराभूत करने के अभिप्राय से यह राज्य परस्पर मैत्री सम्बन्ध भी स्थापित किया करते थे।

मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक तत्व अन्तर-राज्य सम्बन्धों के निर्धारण में महत्वपूर्ण योग प्रदान करते थे। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने राज्य की एकाकी स्थिति की कल्पना नहीं की थी। राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध अवश्यंभावी माना जाता था। फलत: विजिगीषु और उसके निकटवर्ती अथवा सुदुरवर्ती राज्यों में शत्रु, मित्र, मध्यस्थ एवं उदासीन सदृश सम्बन्धों की स्थापना होती थी। सामाजिक तत्वों में भ्रातृत्व भावना, सांस्कृतिक आदान—प्रदान शिक्षा एवं विवाह सम्बन्ध अन्तर-राज्य-सम्बन्धों के जन्म एवं निर्वाह में सहायक होते थे। व्यापारिक वस्तुओं के आवागमन, विक्रय, नियंत्रण आदि के लिये भी इन सम्बन्धों का प्रारम्भ होता था। धर्म प्रचार के प्रयत्न, विदेशों में अपने धर्म के संरक्षण के निमित्त भी अन्त-राज्य-सम्बन्ध स्थापित होते थे। राजनीतिक तत्वों में राजनीतिक मैत्री, सीमातिक्रमण, साम्राज्यलिप्सा आदि दो राज्यों के बीच मैत्री अथवा शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों को जन्म देते थे। इन स्थिति ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की विवेचना करने के लिये अनुप्रेरित किया।

प्राचीन राजशास्त्र ग्रन्थों ने अपने युगानुरूप अन्तर-राज्य-सम्बन्धों को व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं सूक्ष्मरूप में प्रस्तुत किया है और उनके समस्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तर-राज्य राजनीति के विषय में उनकी ऐसी आधारभूत मान्यतायें अवश्य थीं, जिन्हें आधुनिक भाषा में सिद्धान्त कहा जा सकता है। प्राचीन आचार्यो के विवरण से ज्ञात होता है

कि राज्य की विदेश नीति के संचालन में सर्वोच्च अधिकारी स्वयं राजा ही होता था, किन्तु इस क्षेत्र में उसके विशिष्ट सहयोगी मंत्री[1] (पर-राष्ट्र-मंत्री) तथा दूत[2] होते थे। इसके अतिरिक्त राज्यों के मध्य आपसी व्यवहार हेतु सुनिश्चित एवं सर्वमान्य राजनयिक साधनों (चार उपाय एवं षडगुण मंत्र) का विकास किया गया था। आचार्यों ने अन्तर-राज्य-राजनीति को 'मण्डल सिद्धान्त' के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, जिसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण में शक्ति, भूगोल तथा राजहित के कारणों का विशिष्ट महत्व होता था।

मण्डल सिद्धान्त—

प्राचीन भारत में विभिन्न राज्यों की परराष्ट्र नीति के निर्धारण हेतु जिस कूटनीतिक विचारधारा का जन्म हुआ उसे मण्डल सिद्धान्त का नाम दिया गया है। प्रो. अल्तेकर ने स्वीकार किया है कि स्मृति एवं नीति ग्रन्थकारों की प्रख्यात "मण्डल नीति" शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। प्राचीन आचार्यों ने दुर्बल राज्यों को अपने पड़ौसी शक्तिशाली राज्यों से सावधान रहने का परामर्श दिया और उनकी रक्षा हेतु अन्य राजाओं से मैत्री स्थापित करने के लिये मण्डल सिद्धान्त की व्यवस्था की।[3]

वैदिक साहित्य में राजमण्डल का उल्लेख नहीं मिलता है। रामायण में भी इस पर समुचित प्रकाश नहीं डाला गया है। लेकिन महाभारत में मण्डलस्थ राजाओं के साथ राजनैतिक तथ्यों को दृष्टिगत रखकर यथोचित व्यवहार करना अथवा अरि पर आक्रमण करने से पूर्व पार्ष्णिग्राह की गतिविधि का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त करना आदि का उल्लेख है। नारद और धृतराष्ट्र ने तो राजाओं को अरि की ही नहीं, उदासीन तथा मित्र राजाओं की गतिविधि की भी जानकारी करने का निर्देश दिया है।[4]

मण्डल सिद्धान्त का उद्देश्य राज्यों के बीच शक्ति सन्तुलन की स्थापना करना तथा विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करना है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य चार प्रकार

1. *डॉ0 ए0 एस0 अल्तेकर: प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0 110*
2. *याज्ञ0 1/328 पर मिताक्षरा टीका*
3. *डॉ0 ए0 एस0 अल्तेकर: प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0 224*
4. *म0 भा0 सभापर्व : 5/25-26; आश्रमवासिकपर्व : 6/1*

के होते हैं–

1. मित्र राज्य 2. शत्रु राज्य, 3. मध्यम राज्य, 4. उदासीन राज्य।

इस सिद्धान्त का मूलाधार यह है कि दो पार्श्ववर्ती राज्य, जिनकी सीमायें आपस में मिलती हैं, एक-दूसरे के स्वाभाविक शत्रु होते हैं और शत्रु राज्य के अनन्तर स्थित राज्य स्वाभावतः एक-दूसरे के मित्र होते हैं।

मध्यम राज्य वह शक्तिशाली राज्य है जो वियाभिलाषी राजा के राज्य और उसके अरि राज्य, दोनों की सीमा पर स्थित है। वह इन दोनों राजाओं को एक साथ या अलग-अलग सहायता देने और उनके निग्रह करने में समर्थ होता है। उदासीन वह राज्य है जो विजयाभाषिलाषी और मध्यम राजा से परे स्थित होता है।

मण्डल के अन्तर्गत बारह राजाओं को स्थान दिया जाता है। इसका केन्द्र बिन्दु जिसके सम्बन्ध में अन्य राज्यों का नामकरण करते हैं उसे हम विजिगीषु कहते हैं।[1]

विजिगीषु के आगे स्थित जिस राजा की सीमा उसके राज्य से स्पर्श करती है उसे 'अरि' अथवा 'शत्रु' की संज्ञा दी जाती है। उसके बाद क्रमशः 'मित्र',' अरिमित्र' ,'मित्र-मित्र' तथा 'अरिमित्र-मित्र' राज्य आते हैं। इसी भांति विजिगीपु के पृष्ठ भाग में क्रमशः शत्रु तथा मित्र राजाओं को स्थान दिया जाता है।[2] किन्तु अग्र भाग के राजाओं से भिन्न करने के लिये उनका नामकरण अलग तरह से किया जाता है। विजिगीषु के पृष्ठ भाग में स्थित राज्य को 'पार्ष्णिग्राह' कहा जाता है। वस्तुतः यह पृष्ठ भाग में स्थित शत्रु है। इसके बाद क्रमशः 'आक्रन्द', 'पार्ष्णिग्राहासार' तथा 'आक्रन्दासार' आते हैं। आक्रन्द पार्ष्णिग्राह का शत्रु और विजिगीषु का मित्र होता है। पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार समशः पार्ष्णिग्राह और आक्रन्द के पक्षधर राज्य होते हैं। इनका साम्य अग्र भाग के अरि-मित्र और मित्र-मित्र से किया जा सकता है।

---

1. राजा आत्म द्रव्य प्रकृति सम्पन्नो नयस्पधिष्ठानं विजिगीषुः।

अर्थ0 अधि0 6, प्रक0 97, अ0 2, वार्ता 2

2. तस्मिन्मित्रअरिमित्र मित्रमित्रम् अरिमित्रमित्रम् चानन्तर्येण भूमीनां प्रसन्यतेपुरस्तात्

पश्चात्यापाष्र्िाह आक्रन्दः पारिष्णग्राहासार आक्रान्दा सार इति।

अर्थ0 अधि0 6, प्रक0 97 अ0 2, वार्ता 2

इस प्रकार विजिगीषु तथा उसके अग्रभाग के पाँच और पृष्ठ भाग के चार राजा मण्डल के अंग माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त मध्यम और उदासीन राजा भी होते हैं। इस प्रकार मण्डलस्थ राजाओं की संख्या बारह होती हैं। इसी कारण इसको द्वादश- राजमण्डल की संज्ञा भी दी जाती है। इनमें से प्रत्येक राजा की पांच-पांच द्रव्य प्रकृतियां होती हैं—अमात्य कोष, दुर्ग, बल और राष्ट्र। अत: मण्डल के मूल राजा और उनकी प्रकृतियों की संख्या का योग 72 हो जाता है।

सर्वप्रथम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मण्डल सिद्धान्त का सम्यक निरूपग मिलता है। उन्होंने राज्यों को चार श्रेणियों में परिगणित किया है तथा उनको शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राज्यों के नाम से सम्बोधित किया है। इन राज्यों में से प्रत्येक राज्य का एक मण्डल होता है जिसमें राजा, राजा का शत्रु राज्य, राजा का मित्र राज्य मध्यम और उदासीन राजा सम्मिलित माने गये हैं। इस प्रकार यह चार प्रकार के राज्य मण्डल के घटक माने गये हैं। इन घटक राज्यों में प्रत्येक राज्य का भी एक अलग राज्य मण्डल बनता है। विजयाभिलाषी राजा, उसका मित्र राजा और उसके मित्र का मित्र राजा इन तीनों राज्यों के क्रमश: तीन राजा तीन प्रकृति कहलाते हैं।[1] इन तीनों राज्यों में से प्रत्येक राज्य की छ-छ प्रकृतियों (राजा, मन्त्री, कोष, दण्ड और जनपद) मिलकर अट्ठारह प्रकृतियाँ होती हैं[2] जो एक राज-मण्डल को निर्मित करती हैं। इसी प्रकार अरिमण्डल, मध्यम मण्डल और उदासीन मण्डल निर्मित होते हैं।[3] इस तरह एक वृहद् राजमण्डल का निर्माण होता है जिसमें बारह राजप्रकृति[4] (बारह राज्यों के बारह राजा) और प्रत्येक राज्य की पांच अन्य प्रकृतियाँ होती हैं जिनको कौटिल्य ने द्रव्य प्रकृतियों का नाम दिया है।[5] इन बारह राज्यों की सात द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं। यह बारह राज प्रकृतियाँ और साठ द्रव्य प्रकृतियाँ मिलाकर कुछ बहत्तर प्रकृतियों का एक वृहद मण्डल कहलाता है।[6]

---

1. *विजीगीषुमित्र मित्रमित्र वास्य प्रकृतयस्तिस्र:।* *अर्थ0 अधि06 अ0 2 वार्ता 32*
2. *ता: पच्चभिरर्माव्यिजनपददुर्ग कोशदण्डप्रकृतिभिरेकैकश: संयुक्तामण्डलमष्टादश कं भवति।* *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 33*
3. *अनेन मण्डलपृथकत्वं व्याख्यातमरिमध्यमोदासीनानाम्।* *अर्थ0 6 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 34*
4. *द्वादशराजप्रकृतय:।* *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 36*
5. *षष्टिर्द्रव्य प्रकृतय:।* *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 37*
6. *संक्षेपेण द्विसप्त ते।* *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 38*

कौटिल्य राजमण्डल की तुलना चक्र से भी करते हैं। विजिगीषु राजमण्डल रूपी चक्र की नाभि है, एक राज्य आगे रहने वाले मित्र राजा, उसकी नेमि तथा विजिगीषु के समीपस्थ शत्रु राजा उसके अरि हैं।[1]

मनु के मतानुसार भी मण्डल में 72 प्रकृतियां होती हैं। उनमें से चार को वह मूल प्रकृति कहते हैं—विजिगीषु, अरि, मध्यम तथा उदासीन। इसके अतिरिक्त आठ अन्य प्रकृतियाँ होती है, परन्तु उनका सम्यक् विश्लेषण नहीं किया है। भाष्यकारों के अनुसार या तो यह चार मूल प्रकृतियों में से प्रत्येक के मित्र तथा शत्रु हैं, या विजिगीष के मित्र, अरिमित्र, पार्ष्णिग्राह आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार तथा आक्रन्दासार है। इस भाँति चार प्रकार के राजाओं के अलग-अलग मित्र राजा एवं मित्र के मित्र राजा मिलकर बारह राजा हुये जो मण्डल की बारह राजप्रकृति कहलाती हैं। इसके अतिरिक्त इनमें से प्रत्येक राज्य की पांच और प्रकृतियाँ अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड होती हैं। इस प्रकार इस मण्डल के बारह राज्यों की साठ और प्रकृतियाँ होती हैं। इन अन्य साठ प्रकृतियों और बारह राजप्रकृतियों को मिलाकर मण्डल बनता है, जिसमें कुल बहत्तर प्रकृति होती हैं।[2]

कामन्दक के अनुसार विश्व में द्वादश राज मण्डल की ही प्रसिद्धि है। परन्तु उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों के मतों को भी व्यक्त किया है जो मण्डल की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। कामन्दक ने द्वादशक राजमण्डल को ही मान्यता दी है।[3]

सोमदेव ने राजमण्डल के 9 राजाओं का उल्लेख किया है। विजिगीषु, अरि, मित्र,

---

1. *नेमिमेकानतरात् राज्ञः कृस्वा चानन्तरानरान्। नाभिमात्मानमायच्छेन्नेता प्रकृतिमण्डले।*
   अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 32
2. *एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलसरू समासतः। अस्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृता।*
   अमाताराष्ट्रदुर्गार्थ दण्डाख्या पच्च चापराः। प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्तति:।
   मनु0 अ0 7, श्लोक 156-157
3. *काम0 सर्ग0 8, श्लोक 20-40*

पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रान्दासार, मध्यम तथा उदासीन।[1] यद्यपि सोमदेव ने मण्डल के 9 राज्यों के नामों का ही उल्लेख किया है जो कि कौटिल्य के द्वारा वर्णित मण्डल के राज्यों से साम्य रखते हैं। किन्तु जिस प्रकार कौटिल्य ने अरि-मित्र, मित्र-मित्र एवं अरि मित्र-मित्र को इस राज्यमण्डल में सम्मिलित कर लिया है, उसी प्रकार सोमदेव द्वारा प्रतिपादित मण्डल के 9 राज्यों में इन तीन राज्यों को सम्मिलित कर लेने पर उनके राजमण्डल में भी बारह राज्य हो जाते हैं।[2]

मण्डल के घटक : अन्तर-राज्य-राजनीति के अभिकर्ता राज्य—

मण्डल का के केन्द्र-बिन्दु विजिगीषु होता है। उसके राज्य के चारों ओर स्थित राज्यों के अधिपति या तो अरि-प्रकृति होते है, अथवा मित्र-प्रकृति के। प्राचीन आचार्यो ने यह स्वीकार किया है कि मित्रता अथवा शत्रुता स्थायी नहीं होती, परिस्थितिवश शत्रु मित्र हो जाता है और मित्र शत्रु।

1. विजिगीषु अर्थात् विजय की इच्छा करने वाला राज्य, मण्डल का केन्द्र माना गया है। कोई भी राज्य विजिगीषु हो सकता है। इसी की स्थिति के अनुसार सारे मण्डल के सम्बन्ध ों को समझा जा सकता है।

2. अरि अर्थात् शत्रु-अन्तर्राज्य सम्बन्ध में यह एक सामान्यतः स्वीकृत माना गया है कि निकटतम पड़ौसी सदा ही शत्रु होता है।

3. मित्र अर्थात् विजिगीषु का मित्र— यह संख्या 2 का निकटतम पड़ौसी होने के कारण संख्या 2 का शत्रु होगा। अपने शत्रु का शत्रु अपना मित्र होता है। अतः संख्या एक और संख्या दो एक-दूसरे के शत्रु होगें। संख्या एक और तीन आपस में मित्र होंगे, क्योंकि संख्या दो दोनों का ही शत्रु होगा।

4. अरि मित्र अथवा विजिगीषु के शत्रु (संख्या 2) का मित्र। यह अपनी स्थिति के कारण अपने निकटस्थ पडौसी राज्यों संख्या 3 संख्या 5 का स्वाभाविक शत्रु होगा तथा

---

1. *नीतिवाक्यामृत : अ0 29, श्लोक 19*

2. *डा0 एम. एल. शर्मा : नीतिवाक्यामृत में राजनीति, पृ0 160*

संख्या 2 का मित्र।

5. मित्र-मित्र अर्थात् विजिगीषु के मित्र का मित्र। इसका राज्य अरि मित्र के ठीक बाद का होगा। संख्या 3 के समान यह भी संख्या 6 का स्वाभाविक मित्र होगा तथा 2 और 4 का शत्रु।

6. अरिमित्र-मित्र अर्थात् शत्रु के मित्र का मित्र 1 यह संख्या 5 का शत्रु होगा और अरिमित्र (संख्या 4) का मित्र। इस प्रकार विजिगीषु और मित्र राज्यों से उसके सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण होंगे।

उपर्युक्त शत्रु-मित्र, अरि-मित्र, मित्र-मित्र और अरिमित्र विजिगीषु के सामने की ओर स्थित राज्य माने गये हैं। विजिगीषु के पीछे की ओर स्थित राज्यों का क्रम भी ऐसा ही होगा। जो निम्नलिखित है-

7. पार्ष्णिग्राह अर्थात् पीछे स्थित शत्रु। संख्या 2 के समान यह भी विजिगीषु का निकटतम पड़ौसी होने के कारण उसका शत्रु होगा। किसी के साथ युद्ध करने के लिये प्रस्तुत या युद्ध करने वाले विजिगीषु पर यह पीछे से आक्रमण करेगा।

8. पार्ष्णिग्राहसार अर्थात् पीछे की ओर स्थित वह राज्य जो पार्ष्णिग्राह के पक्ष का हो। इसकी तुलना संख्या 4 के साथ की जा सकती है।

9. आक्रन्द अर्थात् पीछे की ओर स्थिर मित्र (संख्या 3) के समान विजिगीषु का मित्र होने के कारण उसके साथ तुलनीय है।

10. आक्रन्दसार अर्थात् पीछे की ओर स्थित मित्र 1 (संख्या 8) का मित्र, जिसकी तुलना सामने पर स्थिति मित्र-मित्र (संख्या 5) के साथ की जा सकती है।

11. मध्यस्थ अथवा मध्यगत अर्थात् बीच में स्थित राज्य। स्पष्ट है कि इसकी स्थिति विजिगीषु और उसके शत्रु (क्रमशः संख्या 1 और 2) के बीच में होनी चाहिये। इसे इतना शक्तिशाली होना चाहिये कि दोनों पक्षों की सहायता कर सके या दोनों से ही अपनी स्थिति को प्रभावित होने से बचा सके।

12. उदासीन- जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, इसका तात्पर्य उस राज्य से है जो तटस्थ या उदासीन रहे, अर्थात् उसकी स्थिति उपर्युक्त सभी प्रकार के राज्यों से अप्रभावित रहे।

अपनी तटस्थता की नीति को बनाये रखने के लिये यह स्वाभाविक है कि यह भी एक शक्तिशाली राज्य हो।

प्राचीन भारत की अन्तर-राज्य राजनीति के संदर्भ में चार प्रकार के अभिकर्ता राज्यों (अन्तर-राज्य राजनीति में भाग लेने वाले राज्यों) का उल्लेख किया गया है -स्वयं विजिगीषु राजा का राज्य, मित्र राज्य, शत्रु राज्य तथा उदासीन राज्य।[1] यद्यपि मण्डल सिद्धान्त की व्याख्या के बारे में प्राचीन राजशास्त्रियों में कुछ मतभेद दिखलाई पड़ता है[2] तो भी अधिकांश आचार्य अन्तर राज्य राजनीति के आधारभूत अभिकर्ता राज्यों के मूल प्रकार एवं संख्या के विषय में एकमत दिखलायी देते हैं। डा0 काणे के अनुसार आचार्य कौटिल्य तथा मनु ने मण्डल सिद्धान्त के माध्यम से अन्तर राज्य राजनीति में चार प्रमुख राज्यों (अभिकर्ता राज्यों) की कल्पना की है- विजिगीषु राज्य, अरि राज्य (शत्रु राज्य), मध्यम राज्य तथा उदासीन राज्य।[3]

इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि यद्यपि आचार्य शुक्र ने मण्डल सिद्धान्त का उल्लेख तो नहीं किया है तथापि अन्तर राज्य राजनीति के मूल अभिकर्ता राज्यों के प्रकार एवं गणना के विषय में शुक्र के मत और कौटिल्य, मनु आदि आचार्यो के मत में पर्याप्त समानता दीख पड़ती है। यहां चर्चित मण्डल सिद्धान्त तथा शुक्र ने अन्तर राज्य राजनीति में मूल अभिकर्ता राज्यों की संख्या चार ही स्वीकारी है और दोनों ने इस गणना में एक जैसे तीन राज्यों का उल्लेख किया है—विजिगीषु राज्य, अरि राज्य तथा उदासीन राज्य। ध्यातव्य है कि दोनों के विवरण में सीमित अन्तर भी है। चौथे राज्य के रूप में जहाँ शुक्र ने मित्र राज्य का उल्लेख किया है,

---

1. *मनु0 7/155-156, काम0 8/20, शुक्र0 4/18*
2. *मनु0 7/154-156; याज्ञ0 1/345-384; अर्थ0 6/2/97/16-55; काम0 8/20-35*

   डॉ0 पी. वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग दो), पृ0 689-691

   एन. एन. ला: स्टडीज इन ऐशिएण्ट हिन्दू पालिटी, पृ0 195-203

   डॉ0 राघवेन्द्र वाजपेयी : वार्हस्पत्य राज्य व्यवस्था, पृ0 211-212

   डॉ0 एम. एल. शर्मा : नीतिवाक्यामृत में राजनीति, पृ0 158-160
3. *डॉ0 पी. वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग दो), पृ0 691*

वहाँ ही मण्डल-सिद्धान्त में मध्यम राज्य का उल्लेख किया है। संभवत: मण्डल-सिद्धान्त ने अपनी विजिगीषु राज्य की धारणा में ही मित्र राज्य को निहित माना है तथा पृथक रूप से उल्लेख करना उचित नहीं समझा है। वस्तुत अन्तर राज्य राजनीति की दृष्टि से विजिगीषु राज्य और उसके मित्र राज्य में राजहित एवं विदेशनीति के क्षेत्र में आधारभूत एकता होती है। इसके अतिरिक्त मित्र राज्य विजिगीषु राज्य के अत्याधिक प्रभाव में होता है और प्राय: अन्तर-राज्य-राजनीति के क्षेत्र में वह विजिगीषु राज्य का अनुकरणकर्ता होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि मण्डल-सिद्धान्त द्वारा मूल अभिकर्ता राज्यों की गणना में विजिगीषु राज्य को स्थान देने के बाद मित्र राज्य का अलग से उल्लेख नहीं करना अनुचित नहीं है। किन्तु शुक्र ने इस विषय में मण्डल-सिद्धान्त से भिन्न मत अपनाते हुये अभिकर्ता राज्यों की गणना में विजिगीषु राज्य (अपने राज्य) के साथ ही मित्र राज्य का भी उल्लेख किया है। वस्तुत: शुक्र ने राज्यों की बीच स्थायी मित्रता की धारणा का विरोध किया है[1] और इस प्रकार उन्होंने किन्हीं दो राज्यों (विजिगीषु राज्य एवं मित्र राज्य) के बीच राजहित एवं विदेशी हित की आधारभूत एकता की धारणा को भी नकारा है। संभवत: अपने इस दृष्टकोण के कारण ही शुक्र ने अभिकर्ता राज्यों की अपनी गणना में विजिगीष राज्य (अपने राज्य) एवं मित्र राज्य को दो अलग-अलग राज्यों के रूप में मान्यता दी है।

शुक्र ने मण्डल सिद्धान्त के समान अभिकर्ता राज्यों की गणना में उदासीन राज्य का तो उल्लेख किया है, किन्तु मध्यम राज्य का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह है कि राजहित एवं विदेशनीति के प्रसंग में इन दोनों राज्यों (मध्यम एवं उदासीन राज्यों) में कोई आधारभूत अन्तर नहीं दीख पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्र की उदासीन राज्य की धारणा में ही मध्यम राज्य की कल्पना निहित है। ज्ञातव्य है कि याज्ञवल्क्य ने अपने मण्डल सिद्धान्त में मध्यम राज्य को उदासीन राज्य का ही एक उपभेद स्वीकारा है।[2] कामन्दक ने अपने मण्डल

---

1. *भवंतीतिकिमाच्श्चर्यराज्यलुब्धानतेहिकिम्।*

   नराज्ञोविद्यतेमित्रंराजामित्रंनकस्यवै।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 9

2. *याज्ञ0 अ0 1, श्लोक 345*

सिद्धान्त के अन्तर्गत विजिगीषु राज्य के अतिरिक्त मित्र, रिपु (शत्रु) तथा उदासीन नामक तीन मूल अभिकर्ता राज्यों के अस्तित्व को स्वीकारा है।[1] इस प्रकार शुक्र एवं कामन्दक दोनों ने अन्तर-राज्य राजनीति में एक जैसे चार मूल अभिकर्ता राज्य स्वीकारें हैं और दोनों ने ही इस प्रसंग में मध्यम राज्य की उपेक्षा की है।

अन्तर-राज्य-राजनीति के मूल अभिकर्ता राज्यों से सम्बन्धित प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों के विवरण के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारत के अन्तर-राज्य-राजनीति में पांच प्रकार के मूल अभिकर्ता राज्य होते थे—अपना राज्य, (विजिगीषु राज्य), मित्र राज्य और अरि राज्य (शत्रु राज्य), मध्यम राज्य तथा उदासीन राज्य। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राचीन चिन्तकों ने अन्तर राज्य राजनीति में अभिकर्ता राज्यों के वर्गीकरण हेतु उनकी भौगोलिक स्थिति को प्रमुख आधार बनाया है। शुक्र ने अभिकर्ता राज्यों के वर्गीकरण हेतु भौगोलिक तत्व को आधार मानते हुये कहा है कि अपने राज्य (विजिगीषु राज्य) की सीमा से लगे हुये सभी राज्य शत्रु राज्य होते हैं, उनके बाद के मित्र राज्य होते हैं और उनके भी बाद के उदासीन राज्य कहे जाते हैं।[2] कौटिल्य ने भी अपने मण्डल सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्तर-राज्य राजनीति के अभिकर्ता राज्यों के वर्गीकरण का आधार उनकी भौगोलिक स्थिति को स्वीकारा है।[3] किन्तु इस विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि प्राचीन आचार्यो ने अन्तर-राज्य राजनीति में अभिकर्ता राज्यों की अन्त:क्रिया एवं पारस्परिक सम्बन्धों को मात्र उनकी भौगोलिक स्थिति के सन्दर्भ में ही अभिव्यक्त किया है, वस्तुत: उन्होंने इसे अभिकर्ता राज्यों के राजहित एवं उनकी शक्ति के संदर्भ में भी प्रकट किया है।

प्राचीन भारत की अन्तर-राज्य-राजनीति के अभिकर्ताओं की तुलना आधुनिक विश्व की अन्तर राज्य राजनीति के अभिकर्ताओं से की जाये तो ज्ञात होता है कि उनमें पर्याप्त अन्तर है। ये अन्तर मात्र उनके वातावरण (ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ जो उनकी क्रियाओं को प्रभावित

---

1. काम0 अ0 8, श्लोक 86

2. डॉ0 वी. के. सरकार : शुक्रनीति, टिप्पणी 1, पृ0 128

3. डॉ0 पी. वी. काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 2), पृ0 690-691

करती हैं) से सम्बन्धित नहीं है, अपितु स्वयं अभिकर्ताओं की प्रकृति एवं रचना से भी सम्बन्धित है। वस्तुतः आधुनिक अन्तर राज्य राजनीति के प्रमुख अभिकर्ता ऐसे राष्ट्र राज्य हैं, जो अपनी प्रकृति एवं रचना में प्राचीन भारत के अन्तर राज्य राजनीति के अभिकर्ता राज्यों से सर्वथा भिन्न हैं। आधुनिक अन्तर राज्य राजनीति में संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में एक ऐसा अभिकर्ता भी उपस्थित है, जो स्वयं राज्य नहीं है, अपितु प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों का समुदाय है। प्राचीन भारत की अन्तर राज्य राजनीति में ऐसे किसी अभिकर्ता का सर्वथा अभाव दिखलाई पड़ता है। किन्तु इन अन्तरों के बावजूद प्राचीन भारत तथा आधुनिक विश्व की अन्तर राज्य राजनीति के अभिकर्ता राज्यों के विषय में बीज रूप में एक समानता भी देखी जा सकती है। यह समानता सम्पूर्ण अन्तर राज्य राजनीति के संदर्भ में अभिकर्ता राज्यों की क्रियाविधि के नियमों से सम्बन्धित है। प्राचीन भारतीय आचार्यो ने अभिकर्ता राज्यों से सम्बन्धित जो विवरण दिया है उससे विदित होता है कि उन्होंने अन्तर राज्य राजनीति को बिखरे हुये राज्यों के एक समुदाय (संगठित समुदाय) के रूप में ग्रहण नहीं किया है; वस्तुतः उन्होंने भी आधुनिक विद्वानों की तरह इसे एक ऐसे सुसंगठित निकाय के रूप में मान्यता दी है, जिसके अंग (अभिकर्ता राज्य) सुनिश्चित राजनीतिक नियमों के अन्तर्गत क्रियाशील दिखलाई पड़ते हैं। इस दृष्टि से समस्त प्राचीन भारतीय आचार्यो ने अभिकर्ता राज्यों की विदेश नीति के संचालन हेतु विभिन्न राजनीतिक साधनों (चार उपायों व षाडगुण्य मंत्रों) का उल्लेख किया है तथा विजेता एवं पराजित राज्यों के मध्य व्यवहार के नियमों पर भी प्रकाश डाला है।

विजिगीषु—

कोई भी राजा विजिगीषु माना जा सकता है। विजिगीषु को शक्तिसम्पन्न महत्वाकांक्षी एवं राजोचित गुणों से युक्त होना आवश्यक था। आचार्य कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु को आत्मसम्पद् एवं अमात्यादि द्रव्य प्रकृति सम्पन्न तथा नीति का अनुसरणकर्त्ता होना चाहिये।[1]

कामन्दक ने विजिगीषु राजा के अपेक्षित गुणों का उल्लेख करते हुये अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"कुलीनता, उत्साह, लक्ष्य प्राप्ति का ज्ञान रखने वाला, बुद्धिमत्ता, प्रगल्भता,

---

1. *राजात्यमद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो न्यस्याधिष्ठानं विजिगीषुः।*

अर्थ0 6/2/16

अदीर्घसूत्रता, अक्षद्रता, नम्रता, अपनी प्रधानता, देशकाल ज्ञाता, दृढ़ता, सर्वक्लेश सहनशीलता, सभी विषयों का पूर्ण ज्ञान, दक्षता, मंत्र गोपनीयता, आशा की कामना रखना, भक्ति की भावना, कृतज्ञता, शरण में आये हुये की रक्षा, सहनशीलता, चपलता, त्याग, शास्त्र के अनुसार कार्य करने की प्रवृत्ति, दूरदर्शिता, श्रम का सहने वाला, धर्म की दुष्ट लोगों से रक्षा करना, प्रजा की उन्नति करना, ये सभी गुण विजिगीषु राजा में होने चाहिये। इसके अतिरिक्त राजा को प्रतापी होना अनिवार्य बतलाया है।[1]

मनु ने विजिगीषु के गुणों का विश्लेषण नहीं किया है, परन्तु भाष्यकारों के अनुसार उसे विजयाकांक्षी तथा उत्साह गुण सम्पन्न होना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे अमात्यादि प्रकृतियों का समर्थन भी प्राप्त होना चाहिये।[2]

आचार्य सोमदेव ने विजिगीषु की व्याख्या प्राय: अन्य आचार्यो की भाँति की है। उनके अनुसार उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त उसे दैवी कृपायुक्त भी होना चाहिये।[3]

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों के मतों के विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी ऐसे राजा को विजिगीषु माना जा सकता है जो राजोचित (आत्म) गुणों से युक्त हो, जिसे अपनी द्रव्य प्रकृतियों का समर्थन प्राप्त हो तथा जो विजयाकांक्षी हो और अन्य राजाओं

---

1. *सम्पन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साह: कृतश्रम:*
   जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मुत: ।
   कौलीनं वृद्धसेवित्वमत्साह: स्थूललक्षिता।
   चित्तज्ञता बुद्धिमत्त्वं प्रागल्भ्यं सत्यवादिता।
   अदीर्घसूत्रताऽक्षीद्रं प्रश्रय: स्वप्रधानता।
   देशकालज्ञता दाढयै सर्वक्लेशसहिष्णुता।
   एकार्थाभिनिवेशित्वमविलखणमुच्यते।
   दारुणस्तु स्मृत: शत्रुर्विजिगीषुगुणान्वित:। काम0 सर्ग 8, श्लोक 6-14
2. *प्रज्ञोत्साहगुणप्रकृतिसमर्थो विजिगीषु: मनु0 7/155 पर कुल्लूक की टीका।*
3. *राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्न: नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषु:*
   नीतिवाक्यामृत : अ0 29, श्लोक 22

को विजित करने की सामर्थ्य रखता हो।[1] उसे स्वयं भी उत्साह एवं प्रज्ञागुण सम्पन्न तथा कृतश्रम होना चाहिये। निश्चित ही इस प्रकार का राजा अन्य राजाओं को पराजित करने में सामर्थ्यवान सिद्ध हो सकता है।

मित्र—

मित्र राज-मण्डल का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। मण्डल के अन्तर्गत इसका स्थान अरि के अनन्तर होता है, अर्थात् अरि का राज्य विजिगीषु और उसके मित्र के राज्य के मध्य में स्थित होता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने मित्र को राज्य का अंग मानकर[2] इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि कोई राष्ट्र बिना राजनीतिक गठबन्धन के स्थिर नहीं रह सकता है। देश में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने हेतु अन्य राज्यों में मैत्री स्थापित करना परमाश्वयक है।

ऋग्वेद में मित्र विषयक अधिक विवरण तो उपलब्ध नहीं होता है लेकिन युद्ध के अवसर पर मित्र की सहायता के संकेत अवश्य मिलते हैं। दस राजाओं ने संघबद्ध होकर राजा सुदास पर आक्रमण किया था। रामायण में भी मित्र संग्रह पर अत्याधिक बल दिया गया है।[3] सीता हनुमान से राम के विषय में प्रश्न करती हैं कि क्या वह मित्रों के प्रति मित्रभाव रखते है ? क्या वह प्रयत्नपूर्वक मित्र संग्रह करते हैं तथा क्या उन्होंने मित्रों का उपकार करके उन्हें अपने लिये कल्याणकारी बना लिया है?[4] राम के अनुसार भी मित्र संग्रह रत राजा ही अर्थ का भागी होता है।[5] महाभारत से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। युधिष्ठर का कथन है कि जिस विषय परिस्थिति में सुहृद सहायक होते हैं उसमें न तो प्रचुर धन काम आता है न भाई-बन्धु।[6]

---

1. एच. एन. ला : इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ0 28-31

2. अर्थ0 6/1/1 ; मनु0 9/294; याज्ञ0 1/353; काम0 4/1

3. रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 28, श्लोक 10-11

4. रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 34, श्लोक 16-17

5. मित्राणां संग्रहे रत: त्रिवर्गफलभोक्ता तु राजा....... । रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 37, श्लोक 22

6. म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 126, श्लोक 3-4

कौटिल्य अन्तर्राष्ट्रीय नीति की सफलता के लिये मित्र-राष्ट्र को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। उन्होंने मित्र के गुणों और उसके साथ सम्बन्धों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[1] उनके अनुसार पारस्परिक उपकार की भावना ही मित्रों का प्रधान लक्षण होती है। प्रत्येक राजा को अपने मित्र की सहायता के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। ऐसे युग में जब राष्ट्रों में प्राय: संघर्ष हुआ करता था मित्रों की सहायता प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक था।

कामन्दक के मतानुसार राजा को सभी अवस्थाओं में प्राय: मित्र का संग्रह करना चाहिये। बहुत मित्र वाला राजा ही शत्रुओं को अपने वश में कर सकता है। जहाँ राजाओं के ऊपर आपत्ति आने पर उसके दूर करने में सन्मित्र उपस्थिति रहता है, उस में भ्राता, पिता अथवा अन्य कोई जन उपस्थित नहीं हो सकता है।[2]

सोमदेव ने भी मित्र के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। वह मित्र की परिभाषा इस प्रकार करते है कि जो राजा किसी दूसरे राजा के प्रति उसकी सम्पत्ति और विपत्ति दोनों ही परिस्थितियों में समान स्नेह रखता हो, वह उस राज्य का मित्र होता है।[3]

सोमेश्वर तो मित्र को राजा को धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि का साधन मानते है।[4]

मनु भी मित्र के महत्व को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि "राजा सोना एवं भूमि पाकर उतना समृद्धशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर।[5]

---

1. *अर्थ0 7/9*
2. *प्रायो मित्राणि कुर्वीति सर्वावस्थानि भूपति:।*
   बहुमित्रो हि शकोति वशे स्थापियिंतु रिपून।
   न तत्र तिष्ठति भ्राता न पिताऽन्योऽपि वा जन:।
   पुंसामापत्प्रतीकारे सन्त्रिमं यत्र तिष्ठति।
   काम0 सर्ग 8, श्लोक 83-84
3. *नीतिवाक्यामृत : अ0 23, श्लोक 1*
4. *कुर्वीत नुपतिर्मित्रं धर्माथसुखसिद्वये।* *मानसोल्लास : 2/7/686*
5. *हिरण्य भूमिसम्प्राप्तया पार्थिवो न तथैधते।*
   यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्। *मनु0 अ0 7, श्लोक 208*

मित्र के प्रकार—

यह सत्य है कि मित्रबल से शक्ति एवं सामर्थ्य का विकास होता है और मनोबल बढ़ता है परन्तु सभी मित्र एक समान नहीं होते हैं। व्यक्तिगत जीवन में भी व्यक्ति अपने मित्रों को उनकी मनोवृत्ति के आधार पर अनेक श्रेणियों में विभक्त कर लेता है। अतः प्राचीन आचार्यो ने मित्रबल का गठन करने वाले राज्य तथा राजाओं को अनेक श्रेणियों में विभक्त किया है।

महाभारत के शान्तिपर्व में चार प्रकार के मित्रों का उल्लेख मिलता है-सहार्थ, भजमान, सहज तथा कृत्रिम।[1] इनमें भीष्म भजमान तथा सहज को श्रेष्ठ मानते हैं। अन्य दो को वह शंका की दृष्टि से देखते हैं। कर्णपर्व में भी चार प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया गया है—(1) सहज मित्र (जिनके साथ स्वाभाविक मैत्री होती है), (2) सन्धि करके बनाये गये मित्र, (3) धन देकर अपनाये गये तथा (4) जो किसी के प्रवल प्रताप से प्रभावित हो स्वतः शरण में आ जाते हैं।[2]

कौटिल्य ने तीन प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया है—प्रकृति, सहज और कृत्रिम। राजा के अपने राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले अरिराज्य की दूसरी ओर अरिराज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य को कौटिल्य प्रकृति मित्र के नाम से सम्बोधित करते हैं।[3] उदाहरण के लिये भारत राज्य का प्रकृति अरिराज्य पाकिस्तान और प्रकृति मित्रराज्य अफगानिस्तान होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार पाकिस्तान राज्य भारत और अफगानिस्तान दोनों का अरिराज्य माना जायेगा। इसलिये भारत और अफगानिस्तान राज्यों में मित्र भाव का होना स्वाभाविक होगा। माता और पिता से सम्बन्धित राजा सहज मित्र माना गया है।[4] राजा के माता अथवा पिता का जिन राज्यों के राजाओं से विशेष सम्बन्ध होता है वह राजा उस राजा के धन हेतु होगें ऐसा न्याय संगत ही है, इसलिये इस प्रकार के राज्य सहज मित्र राज्य होगें। धन और जीवन हेतु

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 80, श्लोक 3-6*
2. *म0 भा0 कर्णपर्व : अ0 64, श्लोक 27*
3. *भूमेका तरं प्रकृति मित्रं।   अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 27*
4. *मातापितृसम्बन्द्धं सहजम।   अर्थ0 अधि0 6, अ0 2 वार्ता 27*

जो राजा किसी दूसरे राज्य का आश्रय ग्रहण करता है तो इस प्रकार आश्रय ग्रहण करने वाला राजा आश्रय देने वाले राजा का कृत्रिम मित्र कहलायेगा।[1] उपर्युक्त तीन प्रकार के मित्रों में प्रकृति मित्र ही मण्डल सिद्धान्त का अंग है।

कौटिल्य ने गुण भेद के आधार पर छः प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया है। तथा उन्हें नित्यमित्र, वश्य-मित्र, लघुत्थान-मित्र, पितृपैतामह-मित्र, महद् मित्र और अद्वैध्य मित्र नाम से सम्बोधित किया है।[2] इन छः प्रकार के मित्र राजाओं के विशेष लक्षण भी उन्होंने इस प्रकार में बतलायें हैं—

(1) नित्यमित्र—

जो मित्र लोभ अथवा स्वार्थ के बिना ही अपने पूर्व के सम्बन्ध (मित्रता) की रक्षा में तत्पर रहता है वह नित्य मित्र कहलाता है।[3]

(2) वश्यमित्र—

साम, दान और भेद उपायों के द्वारा दुर्बल राजा किसी सबल राजा द्वारा मित्र बनाकर वश में रखे जाते हैं, इस कोटि के मित्र राजाओं को कौटिल्य ने वश्यमित्र की श्रेणी में परिगणित किया है।

वश्यमित्र के भेद—

कौटिल्य ने वश्यमित्र छः प्रकार के बतलाये हैं और उनको सर्वभोग वश्यमित्र चित्रभोग वश्यमित्र, महाभोग वश्यमित्र, एकतोभोगी वश्यमित्र, उभयभोगी वश्यमित्र और सर्वतोभोगी वश्यमित्र नाम से सम्बोधित किया है।[4]

---

1. धन जीवित हेतोराश्रितं कृत्रिममिति। *अर्थ0, अधि0 6, अ0 2, वार्ता 28*

2. नित्यं वश्यं लघूत्थानं पितृपैता सहंमदत्। अद्वैध्यं चेति संपन्न मित्रषड्गुणमृच्यते।

अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, श्लोक 51

3. ऋते यदर्थं प्रणायाद्रक्ष्यते यच्च रक्षति। पूर्वोपचितसंबन्धं तन्मित्रं नित्यमुच्यते।

अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, श्लोक 51

4. सर्वचित्रमहाभोगं त्रिविधं वश्यमुच्यते। एकतोभोग्युभयतः सर्वतोभोगि चापरम्।

अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, श्लोक 52

(अ) सर्वभोग वश्यमित्र—जो राजा अपने मित्र राजा के निमित्त दण्ड (सेना), कोश और भूमि आदि सब कुछ अर्पण कर देता है वह राजा सर्वभोग वश्यमित्र कहलाता है।[1]

(आ) चित्रभोग वश्यमित्र—जो राजा बड़े-बड़े बाजार, नगर,ग्राम या खान से उत्पन्न रत्न, सार, कुप्य तथा द्रव्य, बन हस्तिवन अथवा बैल आदि द्वारा बने हुये रथ, यान-वाहन आदि से अपने मित्र राजा का उपकार करता है वह राजा चित्रभोग वश्यमित्र कहलाता है।[2]

(इ) महाभोग वश्यमित्र—जो राजा सेना अथवा कोश द्वारा अपने मित्र राजा का महान् उपकार करता है वह महाभोग वश्यमित्र कहलाता है।[3]

(ई) एकतोभोगी वश्यमित्र—जो वश्यमित्र अपने मित्र के शत्रु मात्र का प्रतिकार करता है वह एकतोभोगी वश्यमित्र कहलाता है।[4]

(उ) उभयभोगी वश्यमित्र—जो वश्यमित्र अपने अपने मित्र के शत्रु और उस (शत्रु) के मित्र दोनों का प्रतिकार कर देता है वह उभयभोगी वश्यमित्र कहलाता है।[5]

(ऊ) सर्वतोभोगी वश्यमित्र—जो वश्यमित्र अपने मित्र राजा के शत्रु उस (शत्रु) के मित्र तथा उसके पड़ोसी बनचर, भील आदि सब का प्रतिकार कर देता है वह सर्वतोभोगी वश्यमित्र माना गया है।[6]

(3) लघुत्थान मित्र—

बिना ही प्रयत्न के सेना द्वारा सहायता करने वाले मित्र राजा को कौटिल्य लघुत्थान

---

1. *यहदण्डकोश भूमीरूपकरोति तत्सर्वभोगम्। अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 14*
2. *तेषां परण्यपत्तनग्रामखनिसंजातिन रत्नासारकुष्येन द्रव्यहस्तिवनब्रजसमुत्थेनयान वाहनेन वा यद्बहुश उपकरोति तच्चित्रभोगम्। अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 12*
3. *यदण्डेन कोशेन वा महदुपकरोति तनमहाभोगम्। अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 13*
4. *यदिमित्रमेकतः प्रतिकरोति तदेकतोभोगि। अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 15*
5. *यदमित्रमासारं चोपकरोति तदुभयभोगि। अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 16*
6. *यदमित्रासारप्रतिवेशढविकान्सर्वतः प्रतिकरोति तत्सर्वतोभोगि। अर्थ0, अधि0 7, अ0 16, वार्ता 17*

मित्र कहते हैं।

(4) पितृपैतामह मित्र—

जो कुल क्रमागत मित्र होता है वह पितृपैतामह मित्र कहलाता है।

(5) महद् मित्र—

जो महान सेना युक्त मित्र राजा होता है वह महद् मित्र कहलाता है।

(6) अद्वैध्य मित्र—

जिनका परस्पर एक ही स्वार्थ सम्बन्ध हो, जो उपकारी और विकारहीन हो, और आपत्ति में भी दूर न होने वाला हो ऐसा मित्र अद्वैध्य मित्र कहलाता है।[1]

इस प्रकार कौटिल्य ने छः प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी राजा होते हैं जो किसी दूसरे राजा और उस राजा के शत्रु दोनों के मित्र होते हैं जिनको कौटिल्य ने उभय मित्र की संज्ञा दी है। उभय मित्र भी कई प्रकार के बतलाये गये हैं—

(अ) उभयभावी मित्र—

जो अपना मित्र होने से ध्रुव और शत्रु का मित्र होने से बल तथा किसी का भी मित्र न होने से उदासीन होता है वह उभयभावी मित्र कहलाता है।[2]

(आ) दूसरा उभयभावी मित्र—

जो विजय के लिये आक्रमण करने वाले राजा का शत्रु है परन्तु इसी राजा के शत्रुओं में उलझा होने से मित्र भी बनता है, जो शत्रु शक्तिशली होकर उपकार भी कर देता है अथवा उपकार नहीं भी करता है यह दूसरे प्रकार का उभयभावी मित्र माना गया है।[3]

---

1. *एकार्थेनार्थसम्बन्धमुपकार्यविकारि च।*
   मित्रभावि भवत्येतन्मित्रमद्वैध्यमापदि। अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 55
2. *मित्रभावाद्ध्रवं मित्रं शत्रुसाधारणाच्चलम्।*
   न कस्यचिदुदासीनं द्वयोरुभयभावि तत्। अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 56
3. *विजिगीषोरमित्रं यन्मित्रमन्तविर्धतां गतम्।*
   उपकरि निविष्ट या शक्तं वानुपकारि तत्। अर्थ0, अधि0 9, अ0 7, वार्ता 57

(इ) तीसरा उभयभावी मित्र—

जो मित्र दुर्बल होने के कारण शत्रु और आक्रमण करने वाले राजा दोनों की सहायता में तत्पर रहता है और दोनों से द्वेष नहीं रखता उसे तीसरा उभयभावी मित्र कहते हैं।[1]

कामन्दक ने मित्र चार प्रकार के बतलाये हैं—

1. औरम—माता-पिता के सम्बन्ध के आधार पर जो मित्र होते हैं वह औरम कहलाते हैं।

2. कृत सम्बन्ध—विवाहादि सम्बन्ध स्थापित कर बनाया गया मित्र कृत सम्बन्ध मित्र कहा जाता है।

3. वंश क्रमागत—परम्परा से चले आये हुये मित्र वंश में उत्पन्न मित्र को वंश क्रमागत मित्र की संज्ञा दी गई है।

4. व्यसन रक्षित— संकट मोचन कर जिसे मित्र बनाया गया है, वह व्यसन रक्षित मित्र होता है।

कामन्दक ने तीन अन्य प्रकार के मित्रों का वर्णन किया है—उत्तम, मध्यम, तथा कनिष्ठ। इस वर्गीकरण का आधार उनके कार्य हैं। अधिक उपकार करने वाला उत्तम, मध्यम उपकार करने वाला मध्यम तथा लघु उपकार करने वाला कनष्ठि मित्र होता है।[2]

सोमदेव के अनुसार भी तीन प्रकार के मित्र होते हैं- सहज, कृत्रिम तथा नित्य। उनके अनुसार जिन राजाओं में पिता-पितामह से परम्परागत मित्र सम्बन्ध चला आता है, वे सहज मित्र कहलाते हैं।[3] उन्होंने उस मित्र को कृत्रिम की संज्ञा दी है जो धन, जीविका आदि के आधार पर राजनैतिक आश्रय ग्रहण करता है।[4] जो बिना किसी प्रयोजन (स्वार्थ) के अपने मित्र की रक्षा में सदैव प्रवृत्त रहता है, वह नित्यमित्र होता है।[5]

---

1. *अरेनतुश्र्च यद्वृद्धि दौर्बल्याद्नुवर्तते।*
   अभयस्थाप्यविद्विष्टं विद्यादुभयभावि तत्। *अर्थ0, अधि0 7, अ0 9, वार्ता 60*
2. *काम0 सर्म 8, श्लोक 78*
3. *तत्सहजं मित्रं यत् पूर्वपुरुषपरम्परयात: सम्बन्ध:।* *नीतिवाक्यामृत : समुद्देश्य 23, श्लोक 3*
4. *यद्वृत्तिजीवित हेतोराश्रितं तत् कृत्रिमं मित्रम्।* *नीतिवाक्यामृत : समुद्देश्य 23, श्लोक 4*
5. *य: कारणमन्त्रेण रत्रयो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम्।* *नीतिवाक्यामृत : समुद्देश्य 23, श्लोक 2*

मित्र के गुण–

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा के मित्रों के गुणों का भी विवेचन किया है। कामन्दक राजा को निर्देशित करते हैं कि सत्यप्रिय, त्यागी, सम्मत तथा उसके पक्ष का कट्टर समर्थक, प्रिय बोलने वाला, समय के जानने में समर्थ, अव्यभिचारी, श्रेष्ठकुल में उत्पन्न व्यक्ति को ही मित्र बनाये तथा मित्र में पवित्रता, त्याग, शूरता, सुख-दुख में समानता, अनुराग, दक्षता, सत्यता आदि गुण होने चाहिये।[1]

भीष्म के अनुसार उत्तम मित्र वे हैं जो अपने मित्र राजा की उन्नति से कभी तृप्त नहीं होते वरन् उसकी उत्तरोत्तर उन्नति की आकांक्षा करते हैं। इसके विपरीत उसकी अवनति से दुखी होते हैं। वह कुलीन, वाक्सम्पन्न, ज्ञानवान, रूपवान, लोभहीन, परिश्रमशील, कृतज्ञ, माधुर्यगुणयुक्त, सदा व्यायामशील, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, दोषशून्य, सुमित्रों से सम्पन्न तथा लोक विख्यात व्यक्ति को ही मित्र बनाने का आदेश देते हैं।[2]

रामायण में भी सच्चा मित्र वह कहा गया है जो अपने मित्र के सुख-दुख में समान व्यवहार करता है। स्वार्थी तथा कृतघ्न मित्रों को निन्दित बताया गया है। जो मित्र अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर उपकारी मित्र की सहायता नहीं करता है वह नृशंस ही नहीं, बध्य भी है।[3]

मनु भी धर्मज्ञ, कृतज्ञ, तुष्ट-प्रकृति, अनुरक्त तथा स्थिर कार्य प्रारम्भ करने वाले मित्र को ही श्रेष्ठ मानते हैं।[4]

सोमेश्वर ने भी सुहृद के लक्षणों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार उसे कुलीन, सुशील, सुख-दुख में समान स्थिति वाला, दृढ़चित्त, धन तथा प्राणों के प्रति उदार, नीतिकुशल, शौचसम्पन्न तथा व्यसनरहित होना चाहिये।[5]

---

1. *काम0 सर्ग 4, श्लोक 68 एवं 75*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 162/3-4; 103/27; 81/3-6, 16 एवं 20; कर्णपर्व : 64/27*
3. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 29, श्लोक 40; एवं अ0 33, श्लोक 8-10*
4. *मनु0, अ0 7, श्लोक 209*
5. *मानसोल्लास : 2/7/685-686*

कौटिल्य, सोमदेव प्रभृति आचार्यो के अनुसार मित्र राजा को उन्हीं गुणों से युक्त होना चाहिये जो विजिगीषु में अपेक्षित हैं। इसके अतिरिक्त उसे विजिगीषु के प्रति सदैव सच्ची निष्ठा तथा उपकार भावना से अनुप्रेरित होना चाहिये। ऐसा गुण-सम्पन्न मित्र ही विजिगीषु की उन्नति में सहायक होता है।[1]

मित्र के प्रति व्यवहार–

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तक इस तथ्य से भली-भाँति अवगत थे कि वैदेशिक नीति में मित्रता और शत्रुता स्थायी नहीं होती है। परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ शत्रु मित्र बन जाते हैं एवं मित्र शत्रु। अत: आचार्यो ने मित्र के प्रति सम्यक् व्यवहार करने का आदेश दिया है, जिससे मित्रता में व्यवधान न उपस्थित हो। महाभारत के शांतिपर्व में आया है कि न कोई भी किसी का मित्र है न शत्रु।[2] मित्र एवं शत्रु किसी व्यक्ति अथवा राज्य द्वारा किये गये जाने वाले कर्मो तथा उसके उद्देश्यों से प्राप्त होते हैं।[3]

रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव का यह कथन उल्लेखनीय है कि मित्र बना लेना तो सुगम है परन्तु मित्रता का निर्वाह करना बहुत कठिन है। मित्र धनी हो या निर्धन, सुखी हो या दु:खी, निर्दोष हो या सदोष, उसके साथ सदैव एक जैसा व्यवहार करना उचित है।[4]

---

1. *पितृपैतामहं नित्यं वश्यमद्वैध्यं महल्लघुसमुत्यमिति मित्रसंपत्।* *अर्थ0 6/1/12*

   त्यागविज्ञानसत्त्वाढ्यं महापक्षं प्रियंवदम्। आयतिक्षममद्वेष्यं मित्रं कुर्वीत सत्कुलम्।

   काम0 सर्ग 4, श्लोक 66

   व्यसनेषुस्थानं अर्थेष्वविकल्प: स्त्रीषु परमं शौचं। कोपप्रसाद विषयेष्वप्रतिलक्षत्वम्-इति मित्र गुणा:।

   नीतिवाक्यामृत : समुद्देश्य 23, श्लोक 5

2. *कारणेनेव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।* *काम0 सर्ग 8, श्लोक 52*

   नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं वापि न विद्यते। सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।

   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 51

   कृत्यकल्पतरु, (राजधर्मकाण्ड), पृ0 97

3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 110*

4. *सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं परिपालनम्।* *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 31, श्लोक 7*

इसी प्रकार हनुमान सुग्रीव से कहते हैं कि जो राजा अपने मित्र के साथ सतत् सद्व्यवहार करता है उसकी राज्य, कीर्ति तथा प्रताप की सदैव अभिवृद्धि होती है।[1] गुण-सम्पन्न मित्र के साथ मित्रता का सम्बन्ध टूटना हानिकारक माना गया है।[2] इसलिये साधु पुरूष आवश्यकता पड़ने पर मित्र के लिये धन और सुख ही नहीं, देश का भी परित्याग कर देने का आदेश देते हैं।[3] अपने महत्वपूर्ण कार्यो को भी स्थगित कर मित्र के कार्यो को सम्पन्न करना चाहिये।[4] रामायण में मित्रकृत उपकार के बदले प्रत्युपकार करने पर विशेष बल दिया गया है। ऐसा न करने से धर्म की हानि होती है।[5] अप्रत्युपकारी मित्र को नृशंस ही नहीं वध्य भी माना गया है।[6] सद्मित्र की अवहेलना निन्दनीय और मित्रवध नितान्त गर्हित माना गया है।[7]

भीष्म के अनुसार राजा को अपने मित्र को समृद्धिशाली बनाना तथा उसकी हानि और सम्भावित विपत्ति के निवारणार्थ समुचित प्रयत्न करना चाहिये। कालकवृक्षीय मुनि का भी राजा को यही आदेश है कि वह मित्र के दुख से दुखी और सन्तप्त हो। स्वयं कष्ट सहकर भी उसे मित्र कार्य बड़े प्रेम और प्रसन्नता से सम्पन्न करना चाहिये।[8] वह ऐसे शासकों के साथ सन्धि न करने का आदेश देते हैं जो अपने मित्रों का अपकार करते हैं, उनको धैर्य से विचलित करते हैं, कल्याणकारी मित्र का परित्याग करते है, तथा जो केवल अपने स्वार्थ के लिए मित्रता स्थापित करते हैं, मित्र द्वेषी हैं या मुख से तो मित्रता की बातें करते हैं परन्तु वास्तव में शत्रु भाव रखते हैं।[9] उन्होंने कहा है कि जो अल्प बुद्धि व्यक्ति मित्र भाव में स्थिर नहीं रहता है

---

1. *यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधुवर्तते।*
   तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चाभिवर्धते। रामा0, किष्किन्धाकाण्ड : अ0 28, श्लोक 10
2. *रामा0, किष्किन्धाकाण्ड : अ0 31, श्लोक 7*
3. *रामा0, किष्किन्धाकाण्ड : अ0 31, श्लोक 7 एवं 8-9*
4. *रामा0, किष्किन्धाकाण्ड : अ0 28, श्लोक 13*
5. *रामा0, किष्किन्धाकाण्ड : अ0 28, श्लोक 13*
6. *रामा0, किष्किन्धाकाण्ड : अ0 33, श्लोक 8*
7. *रामा0, किष्किन्धाकाण्ड : अ0 36, श्लोक 6 एवं (गीता संस्करण), अ0 17, श्लोक 37*
8. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 80, 138, 139, 173*
9. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 168, श्लोक 6-16*

वह विपत्तिग्रस्त होने पर अपने मित्रों की सहायता से वंचित रह जाता है।[1]

उनके अनुसार राजा को अपने मित्रों से भी सतर्क रहना चाहिये[2] क्योंकि स्वार्थवश या अवसर के अनुरूप कितने ही मित्र शत्रु हो जाते है और शत्रु मित्र बन जाते है।[3] जो मनुष्य स्वार्थ के सम्बन्ध का विचार किये बिना ही मित्रों पर केवल विश्वास और शत्रुओं पर केवल अविश्वास करता है उसकी बुद्धि को चंचल ही समझना चाहिये।[4] वामदेव प्रभृति ऋषियों के अनुसार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा अपने मित्रों की गतिविधि का ज्ञान प्राप्त करते रहना चाहिये।[5] मित्र वही श्रेष्ठ है जिस पर विश्वास किया जा सकता है। कुमित्र का परित्याग कर देना ही उचित है।[6] भीष्म का आदेश है कि ऐसे मित्रों को शत्रु की भाँति नष्ट कर देने का ही प्रयत्न करना चाहिये।[7]

महाभारत में मित्र-संग्रह राजा के लिये नितान्त आवश्यक माना गया है और यह आदेश दिया गया है कि आपत्तिकाल में मित्रों से मंत्रणा करने के पश्चात ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्धारित करना चाहिये। मित्र सम्यक् परामर्श ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता भी देते हैं। मित्रों द्वारा प्रस्तुत सहायता के उदाहरण इतिहास में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

कामन्दक ने मित्र के प्रति व्यवहार की नीति का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। उनका मत है कि सन्मित्र के संकट में पडने पर जीवन का उत्सर्ग भी करना पड़े तो करे क्योंकि आपत्ति आने पर जहाँ सन्मित्र साथ देता है वहाँ पर भाई, पिता या अन्य कोई व्यक्ति काम नहीं आता।[8] दृढ़-प्रतिज्ञा वाले मित्रों की अमित्रों से रक्षा करें, मित्रों पर मिथ्या अभियोग न लगावे

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 128*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 80, श्लोक 6*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 137-138, 142, एवं अ0 80, श्लोक 8*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 143-144*
5. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 93, श्लोक 36*
6. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 139, श्लोक 93 एवं 96*
7. *अमित्रा एव राजानं भेदेनोपचरन्त्युत। तां राजा निकृति जानन् यथामित्रान् प्रबावते।*

   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 100, श्लोक 6
8. *न तत्र तिष्ठति भ्राता न पिताऽप्योऽपि वा जनः।*

   पुंसामापत्प्रतीकारे सम्त्रिगंतिष्ठति। काम0 सर्ग 8, श्लोक 84

और मिथ्या अभियोग लगाने वालों को प्रोत्साहित न करे तथा जो व्यक्ति मित्रों से भेद करावे ऐसे लोगों को त्याग दे।[1] बड़े मध्यम और छोटे मित्रों के अन्तर को विजिगीषु राजा समझे तथा उनके अनुरूप व्यवहार करे। राजा का वही मित्र है जो हितकारी हो, सम्मान तथा प्रेम करता हो तथा निस्वार्थ उपकार करे। यदि भोग को प्राप्त मित्र भी उपकार करे तो उसे दण्डित करे, यदि अत्याधिक उपकार करने लगे तो उसे नष्ट कर दे।[2] विजिगीषु राजा को मित्र पर अत्याधिक विश्वास नहीं करना चाहिये। राजा मित्र के दोष, गुण पर विचार करे तथा दोषी मित्र का त्याग दे, अन्यथा स्वयं का धर्म तथा अर्थ नष्ट होता है। मित्र के प्रति व्यवहार को और भी अधिक स्पष्ट करते हुये कामन्दक कहते हैं कि यह समस्त विश्व स्वार्थी व्यक्तियों से भरा है तथा स्वार्थ से ही शत्रु तथा मित्र बनते हैं। अतः विजिगीषु स्वयं भी अपने हित करने वाले राजा को मित्र और अहित करने वाले को शत्रु माने।[3]

कौटिल्य ने इस विषय पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है किन्तु उनका स्पष्ट आदेश है कि राजाओं को अपने मित्र पर सदा अनुग्रह करना चाहिये क्योंकि मित्रों से उसकी सदैव उन्नति होती है।[4]

---

1. *न हि मिथ्याऽभियुञ्जीत शृणुयाच्चापि तद्विधम्।*
   मित्रभेदन्तु ये कर्युस्तान्सवस्तिु परित्यजेत्।।
   अमित्राण्यवतो मित्रैर्न गृहणीयादृढ़व्रतैः।
   इति मण्डलवृत्तं हि मण्डलज्ञाः प्रचलक्षते।। कामO सर्ग 8, श्लोक 79 एवं 85
2. *सा बन्धुर्योऽनुबध्नाति हितेऽर्थे वा हितादरः।*
   अनुरक्तं विरक्तं वा तन्मित्रमुपकारि यत्।।
   मित्राणामन्तरं विद्यान्मध्यज्यायः कनीयसाम्।
   मध्यज्यायः कनीयासि कर्माणि च पृथकपृथक्।। कामO सर्ग 8, श्लोक 74 एवं 78
3. *मित्रं विचार्य बहुशो ज्ञातदोषं परित्यजेत्।*
   त्यजन्नभूतदोषं हि धर्मार्थावुपहन्ति हि।।
   अमित्राण्यपि कुर्वति मित्राण्युपचयावहान्।
   अहिते वर्त्तमानानि मित्राण्यपि परित्यजेत्।। कामO सर्ग 8, श्लोक 75, 76 एवं 72-73
4. *अर्थO अधिO 7, अO 8, वार्ता 23*

यद्यपि सभी आचार्यों ने मित्र के साथ मैत्रीपूर्ण निष्कपट व्यवहार करने का आदेश दिया है परन्तु वह मित्र नीति में सावधानी बरतने का भी आदेश देते हैं। भीष्म तो यहाँ तक कहते हैं कि मित्र की गतिविधि जानने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिये क्योंकि शत्रु भेदनीति के प्रयोग से मित्रों में भेद उत्पन्न कर देते हैं। कौटिल्य का मत है कि राजा को अपने मित्र पर सदा अनुग्रह करना चाहिये क्योंकि मित्रों से उसकी सदैव उन्नति होती है[1] परन्तु बिना कारण त्याग कर चले जाने वाले तथा अकारण मित्रता स्थापित करने वाले मित्र से सदैव सावधान रहना चाहिये। ऐसे मित्र का ग्रहण करने वाला निश्चय ही मृत्यु का आलिंगन करता है।[2] मनु ने भी यही विचार व्यक्त किया है।[3]

शुक्रनीति के अनुसार राजा का न कोई मित्र है और न वह किसी का मित्र है। मित्रवत् व्यवहार करने वाले राज्य तथा राजा भी गुप्त रूप में शत्रु होते हैं तथा ऐसे अवसर की खोज में लगे रहते हैं जब वे आक्रमण कर लाभ प्राप्त कर सकें क्योंकि उनमें भी विजय तथा भूमि लाभ की इच्छा होती है।[4]

सोमदेव ने मैत्री भेद के प्रमुख कारण स्त्री संगति, विवाद, अभीक्ष्णयाचन, अप्रदान अर्थ-सम्बन्ध, परोक्षेदोषग्रहण तथा पैशुन्याकर्षन बतलाये हैं।[5]

प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत यह व्याख्या आज भी मान्य है और यह माना जाता है कि विश्व राजनीति में न कोई किसी का स्थायी मित्र है न शत्रु, केवल राष्ट्रीय हित स्थायी होते हैं। अपने राष्ट्रीय हितों के संरक्षण तथा संवर्द्धन के आधार पर ही एक राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र को शत्रु अथवा मित्र समझता है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के निमित्त मित्र बनाने की बात तो कही है परन्तु उनसे सर्वदा सतर्क रहने के लिये निर्देश भी दिये हैं।

---

1. अर्थ0 अधि0 7, अ0 8, वार्ता 23

2. अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 61

3. शत्रुसेविनि मित्रे च गूढ़े युक्तितरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः।। मनु0 अ0 7, श्लोक 186

4. शुक्र0 अ0 4, श्लोक 109

5. नीतिवाक्यामृतम् : समुद्देश 23, श्लोक 7

अरि—

राजमण्डल के प्रसंग में अरि ऐसे राजा को कहते हैं जिसकी सीमा विजिगीषु की सीमा से मिलती है। सीमा सम्बन्धी विवादों से निकटवर्ती राज्यों की शत्रुता स्वाभाविक है। प्राचीन भारतीय आचार्यो ने शत्रु की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है, किन्तु दो तथ्य सभी में पाये जाते हैं—(1) शत्रु की सीमा विजिगीषु की सीमा से मिलती है, और (2) वह विजिगीषु के प्रति शत्रुता का भाव रखता है।

भीष्म उस राजा को शत्रु मानते हैं जो विजिगीषु को हानि पहुँचाता है और उसके विनाश का इच्छुक होता है।[1] वृहस्पति के अनुसार पीड़ित देखकर प्रसन्न और प्रसन्न देखकर जो पीड़ा का अनुभव करता है वही शत्रु है।

कामन्दक का मत है कि शत्रु वही है जिसका लक्ष्य उसी वस्तु को प्राप्त करना है जिसे विजिगीषु राजा प्राप्त करना चाहता है[2] अर्थात् दोनों ही राजाओं के स्वार्थ एक है। ऐसा टकराव अधिकतर सीमावर्ती राज्यों में ही संभव है किन्तु कामन्दक ने इसे स्पष्ट नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि कामन्दक शत्रुता का कारण राष्ट्रीयहित (स्वार्थ) को मानते थे। यदि दो राजाओं के स्वार्थ एक हैं तो वे सीमा से लगे राज्य हों या दूर-दूर शत्रु हो जाते है।[3] ऐसा ही मत शुक्र ने व्यक्त किया है।[4]

सोमदेव भी शत्रु की परिभाषा प्रायः इसी प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार जो राजा दूसरे राजा के अहित में संलग्न रहता है तथा उसके प्रतिकूल आचरण करता है वही उसका "अरि" कहा जाता है।[5] नीतिवाक्यामृत का कथन है कि यह कोई नियम नहीं होना चाहिये कि पड़ोसी सदा अरि ही हो और दूर का राजा मित्र हो। सान्निध्य एवं दूरी शत्रुता एवं मित्रता के

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 114, श्लोक 50*
2. *काम0 सर्ग 8, श्लोक 14*
3. *ये तस्य क्षतमिच्छन्ति ते तस्य रिपवः स्मृताः। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 80, श्लोक 19*
4. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 5*
5. *य एष स्वस्याहितानुष्ठेन प्रतिकूल्यं विर्भित स। नीतिवाक्यामृतम् : समुद्देश्य 29, श्लोक 23*

कारण नहीं हैं, बल्कि उद्देश्य ही मुख्य है जिसके फलस्वरूप शत्रु अथवा मित्र बनते हैं। सामान्यतः पड़ोसी राजा बहुधा अरि हो जाता है। कौटिल्य का भी यही मत हैं। वे कहते हैं कि अरि वह है जो पड़ोसी हो और शत्रु गुणों से सम्पन्न हो।[1]

साधारणतया सीमा सम्बन्धी विवादों के कारण निकटवर्ती राज्यों में प्रायः विग्रह बना रहता है। ऐसे राज्य विजिगीषु के अग्रभाग और पृष्ठ भाग दोनों ही ओर हो सकते हैं। दोनों में भिन्नता व्यक्त करने के अभिप्राय से प्राचीन आचार्यों ने विजिगीषु के अग्रभाग में स्थित राज्य के स्वामी को "अरि" और पृष्ठ भाग में स्थित स्वामी को "पार्ष्णिग्राह" कहा है। इन दोनों के गुण समान हैं, केवल उनमें नामों में भेद है।[2]

शत्रु प्रकृति—

शत्रु प्रकृति के राजाओं को उनके स्वभाव के आधार पर प्राचीन आचार्यो ने सहज, कृत्रिम तथा प्राकृत श्रेणियों में विभक्त किया है। "सहज" शत्रु वे है जो अपने कुटुम्ब से सम्बन्धित हों जैसे- विमाता पुत्र, "कृत्रिम" शत्रु वे हैं जिनकी विजिगीषु ने हानि की हो अथवा जिसने विजिगीषु की हानि की हो और विरोधी भावनायें बढ़ाता हो तथा "प्राकृत" शत्रु वे हैं जिसकी सीमा विजिगीषु से मिली हो। मिताक्षरा में इस सन्दर्भ में प्रकाश डाला गया है।[3] विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा अग्निपुराण के मत से प्राकृत वास्तव में कृत्रिम शत्रु हैं।[4]

कामन्दक केवल दो प्रकार के शत्रुओं को मान्यता देते हैं—सहज तथा कार्यज। स्वाकुलोत्पन्न शत्रु को वह सहज शत्रु मानते हैं और ऐसे व्यक्ति को जो कार्यवश शत्रु बन जाता है वह कार्यज शत्रु को संज्ञा प्रदान करते हैं। उनके अनुसार सहज शत्रु अधिक दारूण होता है क्योंकि विजिगीषु के छिद्र, मर्म तथा बल से भली-भाँति परिचित होने के कारण वह उसको सहज ही हानि पहुँचा सकता है। इस प्रकार के प्रमुख उदाहरण विभीषण और सुग्रीव

---

1. *डॉ0 पी. वी. काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग 2), पृ0 689*
2. *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 17*
3. *याज्ञ0 अ0 1, श्लोक 345*
4. *विष्णुधर्मोत्तर0 2/145/15-16; अग्निपुराण : 233/21-22*

के हैं, जिन्होंने अपने शत्रु ज्येष्ठ भ्राताओं को राम की सहायता से समूल नष्ट कर दिया था।[1]

महाभारत में चार प्रकार के शत्रुओं का उल्लेख है, यद्यपि उनका विश्लेषण नहीं किया गया है।[2]

कौटिल्य ने शत्रु को तीन वर्गों में विभाजित किया है– प्रकृति शत्रु, सहज शत्रु एवं कृत्रिम शत्रु। विजिगीषु की सीमा से सम्बद्ध राज्य का स्वामी प्रकृति शत्रु और उसके अपने ही वंश में उत्पन्न दायभागी सहज शत्रु होते हैं। इनके अतिरिक्त वह शत्रु जो स्वयं विरूद्ध हो जाते हैं अथवा किसी को विरोधी बना देते हैं कृत्रिम शत्रु कहे जाते हैं।[3]

सोमदेव ने तीन प्रकार के शत्रुओं का उल्लेख किया है—सहज शत्रु, कृत्रिम शत्रु तथा अर्न्त शत्रु (सीमा पर स्थित राज्य का स्वामी)। उनके मतानुसार अपने ही कुल का व्यक्ति राजा का सहज शत्रु होता है,[4] क्योंकि वह ईर्ष्यावश उसकी समृद्धि सहन नहीं करता और सर्वदा उसके विनाश का चिन्तन करता है। जिसके साथ पूर्व में विजिगीषु द्वारा वैर—विरोध उत्पन्न किया गया है तथा जो स्वयं आकर उससे वैर—विरोध करता है, ये दोनों उसके कृत्रिम शत्रु हैं।[5] जो राजा विजिगीषु की सीमा पर शासन करता है वह अर्न्त शत्रु है।[6]

---

1. *सहज: कार्यजश्चैव द्विविध: शत्रुरुच्यते।*
   सहज: स्वकुलोत्पन्न इतर: कार्यज: स्मृत:।।
   विभीषणस्य सोदर्यस्तथा सूर्यसुतस्य च।
   सर्वतन्त्रापहारित्वात्तथोच्छेद्यो: निजो रिपु:।।
   छिद्रं कर्म्म च वित्तञ्च विजानाति निजो रिपु:।
   दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कवृक्षमिवानल:।। *काम0 सर्ग 8, श्लोक 56, 61, 62*
2. *म0 भा0 आश्रमवासिकपर्व : अ0 6, श्लोक 2*
3. *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 25-26*
4. *समाभिजन: सहजशत्रु:।* *नीतिवाक्यामृत, समुद्देश 29, श्लोक 33*
5. *विरोधी विरोधयिता वा कृत्रिम: शत्रु:।* *नीतिवाक्यामृत, समुद्देश 29, श्लोक 34*
6. *अनन्तर: शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैष एकान्तत: कार्य हि। मित्रत्वा मित्रत्वयो: कारणं न पुनर्निर्विप्रकर्षसन्निकर्षो।* *नीतिवाक्यामृत, समुद्देश 29, श्लोक 35*

शत्रु के गुण—

अर्थशास्त्र के अनुसार मण्डलस्थ अरि भी राजा ही होता है। अत: उसमें भी विजिगीषु जैसे गुण ही अपेक्षित हैं।[1] गुणों के आधार पर ही अरि को दुरूच्छेद तथ सुखच्छेद माना गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि प्राज्ञ, कुलीन, शूरवीर, दक्ष, दानशील एवं अविकारी शत्रु दुरूच्छेद होता है।[2] कामन्दक ने भी इसी मत की पुष्टि की है।[3] इसके विपरीत लुब्ध, क्रूर, आलसी, असत्यवादी, प्रमादी, भीरू, अस्थिर, मूढ़ एवं योधावमन्ता शत्रु सुखच्छेद होता है।[4] कौटिल्य भी शत्रु-सम्पत का उल्लेख करते हैं जिनसे युक्त शत्रु का उच्छेदन सरलता से किया जा सकता है। इसकी परिभाषा वह इस प्रकार करते हैं— अराजकुलोत्पन्न, लुब्ध, क्षुद्र-परिवार, विरक्त-प्रकृति, अन्यायी, व्यसनी, निरूत्साही, दैवाश्रित, अविवेकी, क्लीव तथा नित्यापकारी राजा ही अरि-सम्पत युक्त हैं। इस प्रकार का शत्रु बड़ी सरलता से विनष्ट किया जा सकता है।[5] सोमदेव का भी मत है कि लोभी, दुष्टहृदय, विरक्त-प्रकृति, अन्यायपरायण, व्यसनी, आश्रयहीन शत्रु का उच्छेदन सरलतापूर्वक किया जा सकता है।[6]

शत्रुनीति—

अरि श्रेणी के राज्यों को प्राचीन आचार्यो ने उनकी शक्ति तथा नीति के आधार पर यातव्य (शत्रुवत व्यवहार करने वाला वह रजा जो विपत्तियों में फंस गया हो) पर आक्रमण करके नष्ट कर देना चाहिये, उद्देश्य (वह राजा जो शत्रुवत व्यवहार करता हो तथा जिसके मित्र भी न हों) उसे भी नष्ट कर देना चाहिय, पीड़नीय (वह राजा जिसकी शक्ति कमजोर हो) उसे भी नष्ट कर देना चाहिये तथा कर्शनीय (वह राजा जो शक्तिशाली हो और जिसके मित्र हों) उसे दुर्बल बनाया जाये।

---

1. *अर्थ0 अधि0 6, अ0 1, वार्ता 15*
2. *प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्ष दातारमेव च।*
   कृतज्ञं घृतिमन्तं च कष्टमाहुररि बुधा;।। *मनु0 अ0 7, श्लोक 210*
3. *काम0 सर्ग0 8, श्लोक 14*
4. *काम0 सर्ग 8, श्लोक 15*
5. *अर्थ0 अधि0 6, अ0 1, वार्ता 13-14*
6. *नीतिवाक्यमृत, समु0 29, श्लोक 30-31*

धर्मशास्त्र के अनुसार धर्म मर्यादा की रक्षा करते हुये शत्रु का विनाश करना चाहिये। कौटिल्य, कणिक प्रभृत्ति आचार्यो का मत है कि जिस प्रकार भी संभव हो शत्रु का विनाश कर देना ही उचित है। उनके अनुसार ध्येय की प्राप्ति मुख्य है, साधन गौण।

कामन्दक शत्रु के प्रति व्यवहृत चार नीतियों का उल्लेख करते हैं—उच्छेदन, अपचय, कर्शन तथी पीड़न। उच्छेदन का अर्थ है शत्रु की समस्त प्रकृतियों का विनाश करना। अपचय से तात्पर्य है शत्रु पक्ष के प्रमुख व्यक्तियों का विनाश करना। कर्शन नीति द्वारा उसके कोष और दण्ड (सेना) का विनाश तथा महामात्रो का वध किया जाता था। पीड़न से तात्पर्य है शत्रु पक्ष के प्रमुख नायक का वध करना।[1]

कामन्दक विजिगीषु राजा को निर्देशित करते हैं कि विजिगीषु राजा को दुर्बल शत्रु को नष्ट करना चाहिये। रावण तथा बालि ने अपने सगे भ्राता विभीषण तथा सुग्रीव के सभी अधिकार छीनकर उनका उच्छेदन कर दिया था। उन्होंने एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख किया है कि यदि राजा के पड़ोसी शत्रु राज्य पर कोई अन्य बलशाली राजा आक्रमण करे तब उसे पड़ोसी राजा की सहायता करनी चाहिये, अन्यथा वह बलशाली राजा उसके शत्रु को पराजित करके उसे भी हानि पहुँचा सकता है। यदि वह यह समझे कि एक शत्रु का विनाश होने पर दूसरा शत्रु अधिक बलवान हो सकता है, तब उसे नष्ट होने से बचाना चाहिये, परन्तु यदि वह पुनः शत्रुता का व्यवहार करने लगे तब उनके कुल के अन्य योग्य व्यक्ति को उसके विरूद्ध खड़ा कर देना चाहिये। विष से ही विष नष्ट किया जा सकता है, वज्र ही वज्र को भेदता है, मछली ही मछली को खाती है— इसी प्रकार स्वकुल का व्यक्ति ही अपने कुल के दूसरे व्यक्ति

---

1. *उच्छेदापचयो काले पीडनं कर्षणन्तथा।*
   इति विद्याविदः प्राहुः शत्रौ वृत्तं चतुर्विधम् ।।
   रेचनं कोषदण्डाभ्यां महामात्यवधस्तथा।
   एतत्तार्षणमित्याहुराचार्याः पीडनं परम् ।।

   काम0 सर्ग 8, श्लोक 57-58

का नाश कर सकता है। राम ने रावण का विनाश करने के लिये विभीषण का सम्मान किया।[1]

कामन्दक कहते हैं कि धन, सम्मान आदि कारणों से ही शत्रु और मित्र बनते हैं। अत: जिन कारणों से शत्रु बने उन कारणों का निवारण राजा शत्रु के मित्र को अपना मित्र बनाकर, सैन्यशक्ति से सुसज्जित होकर युद्ध हेतु गमन करें। मित्र के द्वारा एवं स्वयं शत्रु को नष्ट करे तथा राजा शत्रु के मित्र को अपने मित्र व मित्र के मित्र से नष्ट करावे। इस प्रकार की सद्नीति द्वारा दोनों ओर से हुये आक्रमण से शत्रु पराजित होता है। विजिगीषु राजा सभी प्रकार के प्रयत्नों द्वारा शत्रु के सामान्य मित्रों को अपने पक्ष में करे। मित्रवर्ग से रहित शत्रु साधारण प्रयत्न से पराजित किया जा सकता है। कामन्दक विजिगीषु राजा को निर्देशित करते हैं कि अपने शत्रु की शक्ति से अपनी शक्ति को बढ़ाकर युद्ध की इच्छा से स्वयं मित्रों को साथ लेकर मध्य में चलता हुआ युद्ध करे और अपने को शत्रु से कमजोर समझे तो नम्रता के साथ संधि कर ले।[2] जहाँ पर

---

1. *विभीषणस्य सोदर्यस्तथा सूर्यसूतस्य च।*
सर्वतन्त्रापहारिवात्तथोच्छेद्यो निजो रिपु: ।।
बलिना विगृहीतस्य द्विषत: कृच्छ्रवर्तिन:।
कुर्वीतापचयं शत्रोरात्मोच्छित्तिविशंकया ।।
यस्मिन्नुच्छिद्यमाने तु रिपुरन्य: प्रवर्त्तते ।
न तस्योच्छित्तिमन्विछेत्कुर्वीतेनं स्वगोचरम् ।।
वंशागतो रिपुर्यस्तु विचलेद्दूरवग्रह:।
तस्य संशमनायाशु तत्कुलीनं समुन्नयेत् ।।
विषं विषेण व्यथते वज्रं वज्रेण भिद्याते ।
गजेन्द्रो दृष्टसारेण गजेन्द्रणैव बध्यते ।।
मत्स्यो मत्स्यं रामादत्ते ज्ञातिर्ज्ञातिगरांशयम् ।
रावणोच्छित्तये रामो विभीषणमपूजयत् ।।

—काम0 सर्ग 8, श्लोक 61 एवं 64 - 68

2. *काम0 सर्ग 8, श्लोक 45, 47-51, 52, 55, 71*

दान नीति से कार्य न चले तभी शत्रु के प्रति दण्ड नीति का उपयोग किया जानां चाहिये।[1]

महाभारत में भीष्म बृहस्पति को उद्धत करते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि जलाने में समर्थ हो सकती है और स्वल्प मात्रा में विष मृत्यु का कारण बन सकता है उसी प्रकार लघुसाधन सम्पन्न शत्रु भी उपयुक्त आश्रय पाकर समृद्धिशाली राजा को भी संत्रप्त कर सकता है।[2]

प्राचीन भारतीय राजविज्ञों ने शत्रुनीति पर विस्तृत प्रकाश डाला है। रामायण में कुम्भकरण रावण से कहता है कि जो राजा शत्रु की अवज्ञा करके आत्मरक्षा का प्रबन्ध नहीं करता वह अनेक अनर्थो का भागी होता और अपने पद से भी च्युत हो जाता है।[3]

कौटिल्य ने ज्ञातव्य, उच्छेदनीय, पीड़नीय तथा कर्शनीय चार प्रकार के शत्रु माने हैं। व्यसनी शत्रु को वह ज्ञातव्य, आश्रयविहीन या दुर्बल-आश्रय शत्रु को उच्छेदनीय तथा जो न आश्रय विहीन हैं और न दुर्बलाश्रय उसे पीड़नीय अथवा कर्शनीय मानते हैं।[4] दूसरे शब्दों में ऐसे शत्रु के प्रति पीड़न या कर्शन नीति अपनानी चाहिये। सोमदेव[5] तथा कृष्ण मिश्र[6] ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

शत्रु को पीड़ित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण उपाय था शत्रु के साथ मित्रता स्थापित

---

1. *चतुरङ्गबलं मुकत्वा कोषो मन्त्रश्च युध्यते ।*
   तत्साधुमन्त्रो मन्त्रेण कोषेण च जयेदरीन् ।। *काम0 सर्ग 17, श्लोक 2*
   सामादीनामुपायातां त्रयाणा विफले नये ।
   विनयेननयसम्पन्नो दण्डं दण्डेषु दण्डवित् ।। काम0 सर्ग 18, श्लोक 1
2. म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 58, श्लोक 17–18
3. रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 63, श्लोक 20
4. अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 20–22
5. नीतिवाक्यमृतम् : समुद्देश 29 श्लोक 29–30
6. लधीयस्यपि रिपौ नानवहितेन जिगीषुणा भवितव्यम् ।
   प्रबोधचन्द्रोदय : पृ0 61–62
   विपाकदारुणो राज्ञां रिपुरल्पो*ऽप्यरान्तुद: ।*
   उद्वेजयति सूक्ष्मोऽपि चरणं कण्टकाड.कुर: ।
   शिशुपालबध : 2/34; भोज प्रबन्ध : अ0 14

करना। भीष्म इसे शत्रु को पीड़ित करने का सर्वोत्तम उपाय मानते हैं। महाभारत में एक रोचक किन्तु सर्वथा सत्य नीति का प्रतिपादन किया गया है : शत्रु पर प्रहार करने के लिये उद्धत होकर भी उसके प्रति प्रिय वचनों का प्रयोग करे, प्रहार करने के पश्चात भी प्रिय वाणी बोले और उसका मस्तक काटकर भी उसके लिये शोक प्रकट करे।[1] विश्व को धोखा देने का यह श्रेष्ठ उपाय है।यद्यपि आचार्यो ने शत्रु को नि:शेष करने का ही आदेश दिया है तथापि वह इस कार्य में सावधानी बरतने का भी आदेश देते हैं। वे शत्रु को दण्ड द्वारा तिरस्कृत या पीड़ित करने के पक्ष में नहीं है, क्योंकि तिरस्कृत या क्षतिग्रस्त शत्रु सदैव बदला लेने के अवसर की तलाश में रहता है।[2] बृहस्पति का मत है कि जो राजा अपने शत्रुओं का सदैव तिरस्कार ही किया करता है वह सुख से नहीं सो पाता है। वह दुष्टात्मा राजा बांस और घास-फूस से प्रज्वलित चट-चट शब्द करने वाली अग्नि के समान सदैव जागता ही रहता है।[3] अत: आवेश और आक्रोश में आकर शत्रु को युद्ध द्वारा ही अवनत करने की इच्छा न करनी चाहिये।[4] अन्य उपायों के विफल होने पर अथवा जब शत्रु की स्थिति कमजोर हो और अवसर अपने अनुकूल हो तब उस पर प्रहार करना चाहिये।[5] उपर्युक्त अवसर बारम्बार नहीं मिलता है अत: इसे हाथ से न जाने देना चाहिये।[6] इसी भाँति राजा को इस बात से भी सावधान किया गया है कि वह अनेक शत्रुओं से एक ही समय में संघर्ष न करे।[7]

पराजित शत्रु के साथ उदारतापूर्ण व्यवहार—

सामान्यत प्राचीन आचार्यो ने युद्ध में राजा एवं राष्ट्र के प्रति कठोरता की नीति का समर्थन किया है तथा उच्छेदन और उन्मूलन करना राजा का कर्तव्य माना है, किन्तु उन्होंने पराजित

---

1. *प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात प्रहत्येव प्रियोत्तरम् ।* *म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 54*
2. *असिनापि शिरश्छित्वा शोचेत च सदेत च ।।* *म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 103, श्लोक 31*
3. *म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 103, श्लोक 12*
4. *म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 103, श्लोक 7*
5. *म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 103, श्लोक 1, तथा अ0 13, श्लोक 15 एवं 28*
6. *म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 103, श्लोक 20—22*
7. *म0 भा0, शान्तिपर्व : अ0 103, श्लोक 28*

राजा के प्रति व्यवहार के जो नियम प्रतिपादित किये हैं, वे पर्याप्त उदार हैं और राजनीतिक बुद्धिमता एवं विवेक से युक्त हैं। विजेता की अधीनता स्वीकार करने पर पराजित शत्रु पूर्णरूपेण रक्षणीय माना है।

कौटिल्य ने सदाचारी पराजित राजा के राज्य को विजेता राजा द्वारा अपहरण किये जाने का निषेध किया है और कहा है कि विजित राजा की भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा को अधिकार नहीं करना चाहिये।[1] प्रत्युत उसे चाहिये कि वह विजित के वंशजों को योग्यतानुसार रिक्त पद पर नियुक्त कर दे,[2] राजपद पर भूतपूर्व राजा के पुत्र को पदासीन कर देना चाहिये।[3] यदि वश में किये गये राजाओं के प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया जायेगा तो उन राजाओं के पुत्र-पौत्र भी विजेता राजा के पुत्र-पौत्र के अनुगामी रहेंगे।[4] जो राजा पराजित किये हुये राजाओं का वध करा देता है अथवा उनको बंदी बनाता है तथा उनकी भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर अधिकार कर लेता है तो वह में सम्मिलित सभी राजाओं मण्डल को अपने विरूद्ध उभाड़ देता है।[5] ऐसे राजा के अमात्य भी भयभीत होकर विद्रोही राजमण्डल में सम्मिलित हो जाते हैं[6] और वह उस राजा के प्राणों एवं राज्य के ग्राहक बन जाते हैं।[7] वस्तुत: प्राचीन भारत में पराजित राजा के मूलोच्छेद की परम्परा आमान्य थी।[8] इस दृष्टि से कौटिल्य ने विजेता राजा को परामर्श दिया है कि वह 'असुर विजयी' नहीं बने।[9]

शुक्र ने विजेता राजा को निर्देश दिया है कि उसे ऐसे विजित राजा के प्रति उदारता (पालन पोषण अथवा उपकार) की नीति अपनानी चाहिये, जो उसके अनुकूल आचरण करता

---

1. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 42*
2. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 43*
3. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 44*
4. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 45*
5. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 46*
6. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 47*
7. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 48*
8. *शुक्र0 4/119-1193, 4/1220*
9. *डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ0 367*

हो, किन्तु प्रतिकूल आचरण करने वाले विजित राजा के प्रति कठोरता (पीड़ा अथवा दण्ड) की नीति ही उचित होती है।[1]

रामायण में उल्लेख है कि विजयी को चाहिये कि वह विजित देश पर दूसरे राजा को प्रतिष्ठापित कर दे, जिससे स्थायी शासन चल सके।[2] इस नीति के प्रमाण महाभारत एवं ऐतिहासिक अभिलेखों में भी मिलते हैं।[3] रूददामा एवं गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के बारह राजाओं को पराजित करके उनके राज्यों को आत्मसात नहीं किया था वरन् अपनी आधीनता स्वीकार करने के पश्चात् वे राज्य उनको ही लौटा दिये थे।[4] विष्णुधर्मसूत्र में लिखा है कि विजेता को विजित देश की परम्पराओं का नाश नहीं करना चाहिये। विजिगीषु को चाहिये कि वह मृत राजा के सम्बन्धियों को राजपद पर आरूढ़ करे।[5] सोमदेव[6] एवं मनु[7] भी इन्हीं विचारों के समर्थक थे।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भारतीय साम्राज्यवाद पराजित राज्यों को आत्मसात करने की अपेक्षा उनको वशीभूत करना ही श्रेष्ठ मानता है।

मध्यम—

राजमण्डल में मध्यम राजा को भी स्थान दिया गया है। कौटिल्य, कामन्दक तथा मनु आदि आचार्यो ने एक ही प्रकार से इनकी परिभाषा की है।

कौटिल्य बतलाते है कि विजियाभिलाषी राजा और उसके अरि राजा दोनों के राज्यों की सीमा पर स्थित राज्य का शक्तिशाली राजा जो उन दोनों राजाओं को एक ही साथ अलग-अलग सहायता देने एवं उनको निग्रह करने में समर्थ हो मध्यम राजा कहलाता है।[8] इस प्रकार कौटिल्य

---

1. *शुक्र0 4 (7) । पं. 808—809*
2. *रामा0 7/62/ 18—19*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 33, श्लोक 43—46*
4. *समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।*
5. *विष्णुधर्मसूत्र : 3/42 एवं 47—49*
6. *नीतिवाक्यमृत : युद्ध समुद्देश, श्लोक 63, 66, 67, 72, 73*
7. *मनु0 अ0 7, श्लोक, 201, 206, 208*
8. *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 24*

द्वारा वर्णित मध्यम राजा की विशेषता यह है कि वह जियाभिलाषी राजा और उसके अरि दोनों के राज्यों की सीमा पर स्थिति होता है। दूसरी विशेषता यह है कि मध्यम राजा को इतना शक्तिशाली होना चाहिये कि अवसर पड़ने पर इन दोनों प्रकार के राज्यों पर एक साथ अथवा पृथक-पृथक अनुग्रह करने और उन्हें निग्रह करने में समर्थ हो।[1] इसलिये मध्यम राजा को विजयाभिलाषी और उसके शत्रु राजा दोनों से कहीं अधिक बलशाली होना चाहिये। यहाँ तक कि वह इन दोनों प्रकार के राजाओं की संयुक्त शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली होना चाहिये जिससे समय पड़ने पर वह इन दोनों राजाओं का एक ही साथ दमन करने में समर्थ हो सके। कौटिल्य का यह सिद्धान्त न्यायसंगत प्रतीत होता है। आधुनिक काल में भी देखा जाता है कि यदि दो राज्यों में किसी कारण बैर उत्पन्न हो जाता है तो उन दोनों में समझौता कराने में वही राज्य सफल होता है जो उन राज्यों में से प्रत्येक अथवा दोनों राज्यों को दण्ड देने अथवा उन्हें सक्रिय सहायता देने की सामर्थ्य रखता है क्योंकि ऐसा राज्य ही उन दोनों राज्यों पर अपना आतंक जमाकर उनके मध्य समझौता कराने में समर्थ हो सकता है। अन्यथा निर्बल राज्य की बात से उन दोनों राज्यों पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस प्रकार सबल राजा की मध्यस्थता वास्तविक मध्यस्थता मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ भारत एवं पाकिस्तान के मध्य सम्पन्न हुये ताशकंद समझौते को इस संदर्भ में देखा जा सकता है।

कामन्दक के अनुसार विजिगीषु और उसके अरि, इन दोनों राजाओं की सीमा पर स्थिति राज्य का शक्तिशाली राजा जो इन दोनों राजाओं के मेल होने पर अनुग्रह में तथा शत्रुता होने पर इनको परास्त करने में समर्थ हो, मध्यम राजा कहलाता है।[2]

कौटिल्य तथा कामन्दकीय परम्परा से भिन्न, सोमदेव मध्यम या मध्यस्थ राजा उसे

---

1. *अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः संहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः ।*

   अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 29

2. *मनु0 अ0 7, श्लोक 155 ; काम0 सर्ग 0 8, श्लोक 18*

   काम0 सर्ग 8, श्लोक 86

मानते हैं जो विजिगीषु तथा अरि दोनों की अपेक्षा अधिक बलशाली होता है परन्तु कारणवश मध्यस्थता धारण किये रहता है।[1] सोमदेव का यह मत कामन्दक के विपरीत है। उनके अनुसार जब सम्पूर्ण विश्व स्वार्थपरायण है तब मध्यमस्थता कैसे सम्भव हो सकती है।[2]

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने विजिगीषु तथा अरि राज्य दोनों को एक साथ एवं पृथक-पृथक सहायता देने अथवा विग्रह करने वाले को मध्यम राज्य माना है।[3]

उदासीन—

मनु के अनुसार मित्र राजा के पश्चात् जो समीपवर्ती राजा होगा, वह न मित्र होगा और न शत्रु होगा। इसी कारण इसे उदासीन नाम से अभिहित किया है।[4] कुल्लूक के मतानुसार उदासीन वह शक्तिशाली राजा है, जिसका राज्य विजिगीषु के राज्य के सामने हो, पीछे हो या दूर हो और जो किसी कारणवश या विजिगीषु के कार्य कलापों के कारण उदासीन हो उठा हो।[5]

कौटिल्य का मत है कि विजयाभिलाषी और मध्यमराजा से परे अपनी बलिष्ठ सप्तप्रकृतियों से सम्पन्न बलवान राजा उपर्युक्त तीनों प्रकार के राजाओं (अरि, विजयाभिलाषी और मध्यम) को पृथक-पृथक अथवा उन सबको एक साथ सहायता देने (अनुग्रह करने) अथवा उनको निग्रह करने में समर्थ हो ऐसा राजा "उदासीन" नाम से सम्बोधित किया जाता है और इस राजा के राज्य को "उदासीन राज्य" माना जाता है।[6]

---

1. *परभूषापेक्षया स्वयं समध्किबलोऽपि कुतश्चित्कारणाद्*
   न्यस्मिन्नृपतौ विजिगीषमाणे यो मध्य स्वभावमवलम्बते स: मध्यस्थ:।
   नीतिवाक्यामृतम् : समुद्देश 29, श्लोक 21
   डॉ0 पी0 वी0 काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग –3), पृ0 691
2. *सर्व: स्वार्थपरो लोक: मध्यस्थता क्वचित। काम0 सर्ग 8, श्लोक 73*
3. *अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड 3, श्लोक 690*
4. *मनु0 अ0 7, श्लोक 158*
5. *मनु0 अ0 7, श्लोक 153 पर कुल्लूक भट्ट की टीका।*
6. *अरि विजिगीषुमध्यानां बहि: प्रकृतिभ्यो बलबन्तर:*
   संहतासंहातानामारिविजिगीषु मध्यतानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे संहतानामुदासीन:।।
   अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, श्लोक 30

इस प्रकार कौटिल्य द्वारा उदासीन राज्य की जो परिभाषा की गयी है वह परिभाषा तत्सम्बन्धी आधुनिक राज्य की परिभाषा से नितान्त भिन्न है। आधुनिक युग के उदासीन राज्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी शक्ति एवं प्रभाव की अधिकता के महत्व के कारण उदासीन कोटि में परिगणित किये जाते हों। आधुनिक काल के उदासीन राजा बड़े से बड़े और छोटे से छोटे दोनों कोटि के हो सकते हैं। शक्ति एवं प्रभाव की न्यूनता एवं अधिकता उनके उदासीन होने के लिये किसी प्रकार से बाधक अथवा साधक सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार कौटिल्य का उदासीन राज्य विशेष राज्य है जिसकी समानता इस युग के उदासीन राज्यों से नहीं की जा सकती।

सोमदेव उदासीन राज्य की परिभाषा भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार अपने राज्य के आगे, पीछे अथवा पार्श्व में स्थित अथवा राज्य मण्डल में स्थित विग्रहीत राजाओं का निग्रह करने अथवा संधीभूत राजाओं पर अनुग्रह करने में समर्थ होने पर भी, किसी राजा के विरूद्ध किसी दूसरे राजा द्वारा विजय की कामना से आक्रमण किये जाने पर जो (कारण वंश) चुपचाप बैठा रहता है, वह उदासीन कहलाता है।[1]

मनु ने उदासीन राजा में अपेक्षित गुणों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार उसे आर्यता (सज्जनता), पुरूषज्ञान, शौर्य, कृपालुता तथा स्थूललक्षता आदि गुणों से परिपूर्ण होना चाहिये।[2]

याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका में शत्रु तथा मित्र की भाँति उदासीन राजा को भी तीन प्रकार का माना है—सहज, कृत्रिम, तथा प्राकृत। विजिगीषु के राज्य के पश्चात दो राज्यों के अनन्तर जिसका राज्य स्थित होता है उसे प्राकृत उदासीन कहते हैं। सहज तथा कृत्रिम उदासीन वे हैं जिनमें न सहज शत्रु के लक्षण होते हैं और न सहज मित्र के।[3] उदासीन अपनी बलिष्ठ

---

1. *अग्रत: पृष्ठत: कौणे वा सन्तिकृष्टे वा मण्डले स्थितो मध्यममादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित् कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीन:।।*

   नीतिवाक्यमृतम् : समुद्देश 29, श्लोक 21

2. *मनु0 अ0 7, श्लोक 211*

3. *याज्ञवल्क्य0 1/345 पर मिताक्षरा टीका।*

सात प्रकृतियों से सम्पन्न, परम शक्ति संकुल राज्य कहा जाता है। यह तीनों भाँति के राजाओं विजिगीषु, मध्यम तथा शत्रु को पृथक-पृथक अथवा एक साथ अनुकूल एवं निग्रह करने में समर्थ समझा जाता था।

कौटिल्य के उदासीन राज्य की परिभाषा आधुनिकयुगीन तटस्थ राज्यों से भिन्न है। एक तटस्थ राज्य के लिये आज आवश्यक नहीं कि वह सर्वथा शक्ति सम्पन्न हो। दुर्बल राज्य भी तटस्थ रह सकते हैं, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय नियम का यह सैद्धान्तिक आदर्श मात्र है। यथार्थत: कोई सबल राज्य ही तटस्थ रह सकता है। किसी लघु और निर्बल राज्य को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से किसी शक्ति समुदाय में प्रविष्ट होना ही पड़ता है। अत: कौटिल्य का विधान अधिक पुष्ट एवं तार्किक है।

मण्डल में उदासीन और मध्यम —दोनों ही प्रकार के राजाओं को विजिगीषु और उसके शत्रु के मध्य की गतिविधियों से कोई बास्ता नहीं रहता। किन्तु दोनों की प्रकृति में सूक्ष्म अन्तर है। उदासीन दोनों में से किसी का पक्ष ग्रहण नहीं करता, किन्तु मध्यम या मध्यस्थ राजा दोनों ही पक्षों का हितेषी होता है।[1] गीता की मधुसूदनी टीका में इसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। उसके अनुसार विवादग्रस्त दोनों पक्षों की उपेक्षा करने वाला उदासीन और उन दोनों पक्षों का हितैषी मध्यस्थ कहलाता है।[2] मधुसूदनी टीका की यह व्याख्या तटस्थता की आधुनिक परिभाषा के अधिक समीप है। हमारे विचार से उदासीन और मध्यम – दोनों ही का अर्न्तभाव आज के 'तटस्थ' के अन्तर्गत किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय राजनीति के ये दोनों ही शब्द आधुनिक तटस्थता के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। इनमें उदासीन पूर्णनिरपेक्ष अर्थात् पूर्ण तटस्थ (Absolute Neutral) था।

हेनरी व्हीटन तथा ओपेनहाइम का मत है कि विश्व के प्राचीन राज्य न तो तटस्थता की अवधारण से परिचित थे और न उसे व्यवहार में ही लाते थे क्योंकि युद्धमान राज्य कभी

---

1. *उदासीनो न कस्याचित् पक्षंभजते, मध्यस्थो यो विरूदयो: उभयो: हितैषी।*

गीता0 6/9 पर शंकर भाष्य।

2. *उदासीनों विवदमानयोत्भयोरप्पुपेक्षक:। मध्यस्थो विवदमानयोस्भयोरपि हितैषी।*

गीता0 6/9 पर मधुसूदनी व्याख्या।

भी तीसरे पक्ष की निष्पक्षता के दृष्टिकोण को कोई महत्व नहीं देते थे।[1] पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता प्राचीन यूनान और रोम के बारे में हो सकती है किन्तु कम से कम प्राचीन भारत के सन्दर्भ में सत्य नहीं है।[2] प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ तटस्थता की अवधारणा को भली-भाँति समझते थे तथा उसका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वैदेशिक नीति के रूप में पर्याप्त सोच समझ कर प्रयोग भी करते थे।

तटस्थता के विविध पक्ष—

तटस्थता एक प्रकार की मनोवृत्ति या स्वभाव है, अतः उसकी विविधता एकदम स्वाभाविक है। तटस्थता की स्थितियाँ - उदासीन और मध्यम-तटस्थता के विभिन्न पक्षों की परिचायिका हैं। आसन की नीति भी बनावटी तटस्थता का ही एक रूप है जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विभिन्न उद्देश्यों की सिद्धि के लिये अपनायी जाती है। उद्देश्य सिद्धि के लिये अपनाये जाने के कारण उद्देश्य भेद से तथा अपनाये जाने की परिस्थितियों के भेद से इस आसनरूपी तटस्थता के अनेक पक्ष सम्भव हैं। उदाहरण के लिये कभी-कभी यह नीति शत्रु को कमजोर और अपने को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से अपनानी पड़ती है और कभी-कभी किसी तीसरी शक्ति के हस्तक्षेप के डर से भी । मनु ने दो परिस्थितियों का उल्लेख किया है कभी-कभी भाग्यवश सेना आदि के क्षीण हो जाने पर या समृद्ध रहने पर भी आसननीति अपनाने को बाध्य होना पड़ता है और कभी-कभी मित्र के अनुरोध पर उसकी रक्षा के लिये इस नीति का आश्रय लेना पड़ता है।[3] कौटिल्य ने स्थान, आसन और उपेक्षा की जो परिभाषायें दी हैं, वे भी उन परिस्थितियों को ही स्पष्ट करती है जिनमें किसी राज्य को आसननीति अपनानी आवश्यक हो जाती है। कामन्दक ने पाँच प्रकार के आसनों का उल्लेख किया है।[4] सोमेश्वर ने आसन की दस स्थितियों

---

1. *हेनरी व्हीटन: ऐलीमेन्ट्स ऑफ इण्टरनेशलन लॉ, पृ0 564*

   ओपेनहाइम: इण्टरनेशनल लॉ, भाग-2, पृ0 347

2. *एस. वी. विश्वनाथ : इण्टरनेशनल लॉ इन ऐन्सिएण्ट इण्डिया, अ0 10*

3. *क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवातपूर्वकृतेन वा।*

   मित्रस्य चानुरोधेन द्विविध स्मृतमासनम्। मनु0 अ0 7, श्लोक 166

4. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 12-22*

का उल्लेख किया है।[1] ये सभी पक्ष अपूर्ण तटस्थता (Partial Neutrality) की विभिन्न स्थितियों को स्पष्ट करते हैं।

उदासीन राज्य की उदासीनता पूर्ण तटस्थता है। किन्तु मध्यम राज्य द्वारा अपनी जाने वाली तटस्थता का एक उद्देश्य है- युद्धमान पक्षों को विनाश से बचाकर उनका कल्याण करना। इस कार्य के लिये मध्यम को किन्हीं भी उपायों का सहारा लेना पड़ सकता है। अत: मध्यम तटस्थता के भी अनेक पक्ष हो सकते हैं। इस प्रकार संक्षेप में प्राचीन भारतीय तटस्थता के तीन ही पक्ष है-उदासीन, मध्यम और आसनस्थ।

प्राचीन भारत में तटस्थता–

आचार्य वाताव्याधि ने अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में केवल दो ही नीतियों का अस्तित्व स्वीकार किया है सन्धि और विग्रह।[2] आसन, उदासीनता और मध्यस्थता जैसी स्थितियाँ उन्हें स्वीकार न थीं। कामन्दक भी मध्यम या मध्यस्थ का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे।[3] अत: यदि पाश्चात्य विद्वान भी प्राचीन तटस्थ और तटस्थता का आभाव मानें तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

लेकिन तटस्थता के विविध पक्षों पर विचार करते समय स्पष्ट किया जा चुका है कि उदासीन, मध्यम और आसन की नीतियाँ वस्तुत: तटस्थता की नीति के ही विभिन्न पक्ष थे, अत: प्राचीन भारत में तटस्थता विषयक विचारों और व्यवहारों का अभाव नहीं माना जा सकता। एक-दो लेखकों को छोड़कर सभी आचार्यो ने उपर्युक्त नीतियों को मान्यता दी है।

उपर्युक्त तीनों ही प्रकार की तटस्थता के उदाहरण प्राचीन भारतीय साहित्य में मिल जाते हैं। कादम्बनरेश काकुत्स्थ वर्मन अपनी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ था किन्तु शत्रु पर आक्रमण करने में अशक्त होने के कारण आसन की नीति अपनाकर तटस्थ रहता था।[4] सुबेल पर्वत पर राम की सेना की स्थिति भी "आसन नीति" का ही एक रूप थी। राजा जयपाल ने

---

1. मानसोल्लास : 2/14/930-948

2. द्वैगुण्यमिति वातव्याधि: सन्धि विग्राहाभ्या हि षाड्गुण्ये सम्प्रधप्त इति। अर्थ0 7/1

3. सर्व: स्वार्थपरोलोक: न मध्यस्थता क्वचिता। काम0 सर्ग 8, श्लोक 73

4. ऐपीग्राफिका इण्डिका, 7, 5/1/1/13

प्राग्ज्योतिष के राजा को तटस्थ रहने के लिये बाध्य किया था।[1] महाभारत युद्ध में कृष्ण बहुत समय तक मध्यम बने रहे थे।

इस मण्डल में मध्यम और उदासीन निश्चिय ही तटस्थ राज्य थे। अन्य राज्य परिस्थितिवश जब आसन की नीति अपना लेता था तो वह भी अस्थायी रूप से तटस्थ राज्य बन जाता था।

विविध राज-मण्डल—

कामन्दक का मत है कि राजा को विशुद्ध मण्डल में विचरण करना चाहिये। विशुद्ध मण्डल में विचरण करता हुआ राजा रथी के समान शोभित होता है परन्तु अशुद्ध मण्डल में गमन करने से वह रथ चक्र में फंसे हुये के समान विदीर्ण हो जाता है। अखण्ड मण्डल वाले चन्द्रमा के समान विजयाकांक्षी राजा सभी प्राणियों से शोभित होता है। इसलिये विजिगीषु को सम्पूर्ण मण्डल युक्त रहना चाहिये।[2]

कामन्दक ने राज्य मण्डलों के अनेक प्रकार बताये हैं, जिनका आवश्यक होने पर आश्रय लेकर राजा अपने कल्याण में सलंग्न रहता है। कामन्दक द्वारा वर्णित विविध राजमण्डलों के विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

(1) त्रिक मण्डल—

कामन्दक ने जय की इच्छा वाले, अरि और मध्यम इन तीनों राजाओं के मण्डल को त्रिक मण्डल कहा है। इस प्रकार त्रिक मण्डल का निर्माण तीन राजाओं द्वारा किया गया है। अरि से तात्पर्य उस राजा से है जिसके विरूद्ध विजिगीषु विजय कामना से आक्रमण करता है। इस प्रकार तीनों राजाओं के मण्डल को कामन्दक ने त्रिक मण्डल की संज्ञा दी है।[3]

---

1. *डा0 हीरालाल चटर्जी: इण्टरनेशनल लॉ एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ0 134*
2. *रथो विराजते राजा विशुद्धे मण्डले चरन् ।*
   अशुद्धे मण्डले सर्पन्शीयते रथचक्रवत् ।।
   रोचते सर्वभूतेभ्य: शशीवाखण्डमण्डल: ।
   सम्पुर्णमण्डलस्तम्भाद्विजिगीषु: सदा भवेत् ।।

   काम0 सर्ग 8, श्लोक 2-3
3. *मण्डलत्रिकमित्याहुविजिगीष्वारिमध्यमा:।*

   मित्रयुक्ता: पृथक् चेत: षट्कमित्यपरे जगु:।।

   काम0 सर्ग 8, श्लोक 31

(2) चतुष्क मण्डल—

कामन्दक ने विजय की इच्छा रखने वाले विजिगीषु, शत्रु, मध्यम और उदासीन राजाओं को चार मूल प्रकृति माना है। उनका का विचार है कि मंत्र कुशल मय ने इसी को चतुष्क मण्डल कहा है। इस मण्डल का निर्माण चार राजाओं द्वारा होता है।[1]

(3) षट्क मण्डल—

कामन्दक का मत है कि पुलोमा और इन्द्र ने विजिगीषु, आरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, मध्यम और उदासीन इन छः राजाओं के द्वारा षटक -मण्डल की रचना मानी है। परन्तु दूसरे आचार्यो के मतानुसार विजिगीषु, अरि, मध्यम और इन तीन राजाओं के पृथक-पृथक मित्र (तीन मित्र राजा) इन छः राजाओं का षट्क मण्डल बनता है।[2]

(4) अष्टक मण्डल—

आचार्य कामन्दक ने विजिगीषु, अरि, मध्यम एवं उदासीन तथा इन चारों के पृथक-पृथक मित्र—इन आठ राजाओं का अष्टक मंडल बतलाया है।[3]

(5) दशक मण्डल—

उन्होंने दस राजाओं के मंडल को दशकमण्डल कहा है। विजिगीषु, उसका अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र,अरिमित्र-मित्र, आक्रन्द, पाष्णिग्राहसार और आक्रन्दसार इन दस राजाओं से दशकमण्डल का निर्माण होता है।[4]

---

1. *मूलप्रकृतयस्त्वेताश्चतस्त्र: परिकीर्तिता:।*

   आहेव मन्त्रकुशलक्ष्चतुष्कं मण्डलं मय:।। *काम0 सर्ग 8 श्लोक 20*

2. *विजिगीषुररिमित्रं पार्ष्णिग्राहोऽथ मध्यम:।*

   उदासीन: पुलोमेन्द्रो षट्क मण्डलमूचतु:।।

   मण्डलत्रिकमित्याहुर्विजिगीष्वरिमध्यमा:।

   मित्रयुक्ता: पृथक् चेत: षट्कमित्यपरे जगु:।। *काम0 सर्ग 8 श्लोक 21 एवं 31*

3. *काम0 , सर्ग 8, श्लोक 34*

4. *विजिगीषो: पुरस्ताच्च यं परचाच्च प्रकीर्त्तिता: ।*
   दशकं मण्डलमिदं मण्डलज्ञा: प्रचक्षते ।। 35 ।।
   काम0 सर्ग 8, श्लोक 35

(6) द्वादशक मण्डल—

बारह राजाओं द्वारा जो मण्डल बनता है वह द्वादशमण्डल कहा जाता है। इस मण्डल के बारह राजा इस प्रकार हैं—विजिगीषु,अरि, मध्यम और उदासीन। उनमें से प्रत्येक के एक-एक अर्थात चार मित्र राजा और अरि (जिस राजा पर आक्रमण किया गया है) तथा पार्ष्णिग्राह इस प्रकार ये बारह राजा हुये। इन बारह राजाओं से निर्मित मण्डल द्वादशक मण्डल कहा गया है।[1]

(7) अष्टादशक मण्डल—

कामन्दक ने वृहस्पति के मत का उल्लेख करते हुये कहा है कि उपर्युक्त द्वादशक मण्डल के 12 राजा और विजिगीषु तथा अरि एवं दोनों में प्रत्येक का एक-एक शत्रु और मित्र मिलाकर 18 राजाओं का अष्टादशक मण्डल बनता है।[2]

(8) षटविंशत्क मण्डल—

द्वादशक मण्डल के बारह राजाओं, प्रत्येक राजा के अरि और मित्र अर्थात् 12 मित्र राजा और 12 अरि राजा, कुल 24 राजा हुये, इनमें मध्यम एवं उदासीन को भी मिलाकर कुछ छब्बीस राजाओं का मण्डल कामन्दक के अनुसार षटविंशत्क मण्डल है।[3]

(9) प्रकृति मण्डल—

द्वादशकमण्डल के बारह राजा और उनकी प्रकृतियों अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड सब मिलाकर बहत्तर प्रकृतियों से निर्मित मण्डल को कामन्दक ने प्रकृति मण्डल को कामन्दक ने प्रकृति मण्डल की उपाधि दी है।[4]

(10) अष्टोतरशतक प्रकृति मण्डल—

कामन्दक के मतानुसार अष्टादशकमण्डल के अठारह राजा और उनमें प्रत्येक

---

1. *उदासीनो मध्यमश्च विजिगीषोस्तु मण्डलम् ।*
   उशनामण्डलमिदं प्राह द्वादशराजकम् ।। *काम0 सर्ग 8, श्लोक 22*
2. *काम0 सर्ग 8, श्लोक 25*
3. *काम0 सर्ग 8, श्लोक 23*
4. *द्वादशानां नरेन्द्राणां पञ्च-पञ्च पृथक्-पृथक्।*
   अमात्याधारच प्रकृतीरामनन्तीह मानवा:।। *काम0 सर्ग 8, श्लोक 24*

राजा की पांच-पांच प्रकृतियों अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, बल और कोष अर्थात् अष्टादश राज प्रकृतियां और नब्बे शाखा प्रकृतियां सब मिलाकर इन एक सौ आठ प्रकृतियों से अष्टोतरशतक का निर्माण होता है।[1]

(11) चतुः पंचाशतक मण्डल—

अष्टादशकमण्डल के अठारह राजा और इनमें प्रत्येक के पृथक-पृथक शत्रु और मित्र अर्थात् अठारह राजा, उनके अठारह शत्रु एवं अठारह मित्र कुल चौवन राजाओं का चतुः पंचाशतक मण्डल होता है।[2]

(12) चतुर्विंशतित्रिशत मण्डल—

चतु पंचाशतकमण्डल के चौवन राजा और उनमें से प्रत्येक की पृथक-पृथक पांच पांच प्रकृतियों (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड) अर्थात्, चौवन राज प्रकृतियों और उनकी दो सौ सत्तर शाखा प्रकृतियां मिलकर तीन सौ चौबीस प्रकृतियों का चतुर्विंशतित्रिशत मण्डल बनता है।[3]

(13) षट्त्रिशत्क प्रकृति मण्डल—

षटक मण्डल के छः राजा और उनमें से प्रत्येक की पांच-पांच प्रकृतियां, इस प्रकार छः राज प्रकृतियां और तीस शाखा प्रकृतियां मिलकर छत्तीस प्रकृतियों द्वारा षटत्रिशत्कमण्डल का निर्माण होता है।[4]

---

1. *अष्टादशानामित्येषाममात्याद्याः पृथक्-पृथक्।*
   अष्टात्तरशतं त्वैतन्मण्डलं कवयौ विंदुः।।   कामO सर्ग 8, श्लोक 27
2. *अष्टादशानामेतेषां मित्रं शत्रुः पृथक्-पृथक्।*
   चतुंःपञ्चाशत्कमिति विशालक्षः प्रभाषते।।   कामO सर्ग 8, श्लोक 28
3. *चतुःपञ्चाशतां राज्ञाममात्याद्याः पृथक् पृथक्।*
   चतुविशतिसंयुक्तं मण्डलं त्रिशतं स्मतम्।।   कामO सर्ग 8, श्लोक 29
4. *अमात्याद्याः प्रकृतय एकैकस्यैव भूपतेः।*
   मण्डलं मण्डलविदः षटत्रिंशत्कं प्रचक्षते।।   कामO सर्ग 8, श्लोक 32

(14) एकविंशत्मक प्रकृति मण्डल—

इस मण्डल में इक्कीस प्रकृतियां होती है। कामन्दक ने विजिगीषु, अरि और मध्यम राजा का मण्डल भी माना है। इस मण्डल में तीन मूल प्रकृतियां (राज प्रकृतियां) और प्रत्येक की पृथक्-पृथक् छः-छः शाखा प्रकृतियां (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड एवं सुहद) मिलकर इक्कीस प्रकृतियों द्वारा एक विशत्क प्रकृति मण्डल का निर्माण होता है।[1]

(15) अड्तालीस प्रकृतियों का मण्डल—

चार राजा (विजिगीषु, अरि, मध्यम, उदासीन) और इनमें से प्रत्येक का एक-एक मित्र राजा और उनमें प्रत्येक की पांच-पांच प्रकृतियां (आठ मूल प्रकृतियां—चालीस शाखा प्रकृतियां 48 प्रकृतियां) कुल अड़तालीस प्रकृतियों का माना गया है।[2]

(16) षष्टि मण्डल—

दशक मण्डल के दस राजा और उनमें प्रत्येक की पांच-पांच प्रकृतियां कुल साठ प्रकृतियां का षष्टि मण्डल बनता है।[3]

(17) त्रिंशत्मकमण्डल—

नेता (विजिगीषु) उसके आगे और पीछे के राजा (पार्षिणग्राह और अरि) और उसका शत्रु (जिसके विरूद्ध आक्रमण किया गया है) एवं मित्र और इन पांचों राजाओं की पृथक-पृथक पांच पांच प्रकृतियां (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड) ये सब मिलकर तीस प्रकृतियों का त्रिंशत्क मण्डल बनता है।[4]

---

1. *सप्तप्रकृतिका: सर्व्वे विजिगीष्वरिमध्यमा:।*
   एकविंशत्कमित्याहु: परे च नयवादिन:।।   *काम0 सर्ग 8, श्लोक 33*
2. *चत्वार: पार्थिबा मौला: पृथङ् मित्रै सहाष्टकम्।*
   अमात्यादिभिरेतैश्च जगत्यक्षरसंमिताम्।।   *काम0 सर्ग 8, श्लोक 34*
3. *दशानां भमिपालानाममात्याद्या: पृथक् पृथक्।*
   मण्डलं मण्डलविदं षष्टिसंज्ञं प्रचक्षते।।   *काम0 सर्ग 8, श्लोक 36*
4. *अरिमित्रे परो नेतु: पश्चिमे चेति पञ्चकम्।*
   अमात्याद्या: पृथक् तेषां त्रिशंत्कं परिचक्षते।   *काम0 सर्ग 8, श्लोक 37*

(18) चतुर्दशक मण्डल—

सात प्रकृतियों से युक्त विजिगीषु एवं शत्रु का चतुर्दशक मण्डल कहा गया है।[1]

(19) दो राजाओं का मण्डल—

अभियुक्त और अभियुज्य अर्थात् विजिगीषु एवं शत्रु दो ही प्रकृति मण्डल है।[2]

इस प्रकार कामन्दक ने विभिन्न राज मण्डलों की पृथक-पृथक चर्चा करके उनके विशेष लक्षणों की चर्चा की है।

प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र प्रणेताओं ने मण्डल के विविध रूपों का इतना स्पष्ट वर्णन नहीं किया है अत: इस दृष्टि से आचार्य कामन्दक की यह देन महत्वपूर्ण है।

मण्डल का महत्व—

शत्रुओं, अरि मित्रों के इस क्रम विशेष में होने के कारण अन्तर्राज्य सम्बन्धों में मण्डल का महत्व विशेष माना गया है। महाभारत में धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से कहा, "तुम्हें अपने शत्रु, उदासीन और मध्यस्थ राजाओं के मंडलों को अवश्य जानना चाहिये। शत्रुओं के चार प्रकारों, आतताइयों के 6 प्रकारों तथा शत्रु और मित्र के भेदों से अवगत रहना चाहिये तथा प्रत्येक मण्डल उसकी दृष्टि में रहना चाहिये।[3]

कामन्दक ने मण्डल के महत्व के विषय में स्पष्ट रूप से अपना मत नहीं व्यक्त किया है परन्तु मण्डल की इतनी चर्चा की है जिससे मण्डल के महत्व की पुष्टि हो जाती है। आचार्य चाणक्य ने मण्डल की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। वे राजमण्डल की चक्र से समता देते हैं। यद्यपि कौटिल्य ने किसी राष्ट्र-संघ और उसकी विधियों की योजना

---

1. *सप्तप्रकृतिकं युक्तं विजिगीषोरेश्च यत्।*
   चतुर्दशकमेवेतन्मण्डलं परिचक्षते।। — *काम0 सर्ग 8, श्लोक 30*
2. *द्वे एव प्रकृती न्याय्ये इत्युवाच पराशर:।*
   अभियोक्ता प्रधान: स्यात्तथान्याय्योऽभियुज्यते।। — *काम0 सर्ग 8, श्लोक 39*
3. *नेभिमेकान्तरात् राज्ञ: कृत्वा चानन्तरानएन।*
   नाभिमामत्भानमायच्छेन्नोता प्रकृति मण्डले।। — *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 64*

नहीं दी, जो राज्यों के पारस्परिक आचरणों का नियमन करता। किन्तु मंडल-संगठन का जो सिद्धान्त उन्होंने प्रतिपादित किया वह निःसन्देह राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने में अधिक व्यावहारिक था। शत्रु, मित्र, मध्यम तथा उदासीन इन चार राज्यों को राज-मण्डल का घटक कहा गया है। इन घटक राज्यों में भी प्रत्येक का अपना एक राज्य-मण्डल था।

इस प्रकार शक्ति सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मण्डल सिद्धान्त का अत्याधिक महत्व था। यह सम्बन्ध चतुर्पाय और षाड्गुण्यों के आधार पर निर्धारित किये जाते थे। इनसे परिचित रहना राजा के लिये आवश्यक माना गया था। लेकिन कूटनीतिक सम्बन्धों के संदर्भ में मण्डल और तत्सम्बन्धित नीति के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्राचीन ग्रन्थों में हुआ, उसका क्षेत्र सीमित प्रतीत होता है। द्वादश राजाओं के मण्डल को ही अधिकांश राजनीतिशास्त्रियों ने मान्यता दी है। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के ऐसे अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं जो निश्चिय ही एक मण्डलीय नहीं थे। प्राचीन भारतीय इतिहास के गम्भीर अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजाओं के अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, नेपाल, लंका, वर्मा, श्याम, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, यूनान, फारस, सीरिया, रोम, और अफ्रीका जैसे सुदूरवर्ती राष्ट्रों से भी दौत्य सम्बन्ध थे। यद्यपि यह सम्बन्ध प्रायः व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिये होते थे। तथापि अनेक बार इन्हीं सम्बन्धों के कारण सम्बन्धित राष्ट्रों की विदेश नीति भी प्रभावित होती थी, इसीलिये कभी-कभी यह सम्बन्ध कूटनीतिक बन जाते थे।

अनेक बार वैवाहिक सम्बन्ध भी राज्यों के कूटनीतिक सम्बन्धों के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे महाभारत से ज्ञात होता है कि कृष्ण, द्रुपद और शल्य वैवाहिक सम्बन्धों के कारण ही पाण्डवों के पक्ष में थे। इसी प्रकार कौरव भी अपने वैवाहिक सम्बन्धों के बल पर महाभारत युद्ध में अनेक राजाओं की सहायता प्राप्त करने में सफल हुये थे। शेषनागवंशीय बिम्बसार ने कौशल और वैशाली राजाओं की कन्याओं से विवाह करके अपनी शक्ति सुदृढ़ की थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि काशी, कौशल, मगध और वैशाली राज्य वैवाहिक सम्बन्धों के कारण ही परस्पर मित्र एवं सहयोगी थे। वत्सनरेश उदयन और मगधसम्राट प्रद्योत, शुंगवंशीय

अग्निमित्र और विदर्भनरेश माधवसेन, चन्द्रगुप्त प्रथम (मगध सम्राट) और लिच्छिवि, चन्द्रगुप्त द्वितीय अपरनाम विक्रमादित्य और वाकाटकनरेश रूद्रसेन अपने वैवाहिक सम्बन्धों के कारण ही एक-दूसरे के प्रति कृतज्ञ और सहयोगी थे।

वस्तुतः शक्ति सन्तुलन हेतु मण्डल का अत्याधिक महत्व है। कोई राजा इतना शक्तिशाली न हो जाये कि दूसरे पड़ौसी राजा को भय उत्पन्न हो जाये। आज भी राष्ट्र संघ में इस तथ्य की चर्चा सुनाई देती है।

आचार्य सोमदेव ने ठीक ही लिखा है "नमां परो हन्तु नांह परं हन्तुं च शक्तः।" मण्डल योजना का ध्येय शक्ति की दृष्टि से विभिन्न स्तरीय राज्यों के अन्तः सम्बन्धों के एक सुव्यवस्थित तथा शान्तिपूर्ण स्वरूप की स्थापना तथा उनके अस्तित्व की संरक्षा करना था। पारस्परिक प्रतिस्पर्घा और प्रतिद्वन्दिता का यह सिद्धान्त एक सन्तुलन है।[1] आधुनिक राजनीतिज्ञ एवं चिन्तक यूरोप को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रभव स्थल समझते हैं। किन्तु यह मण्डल सिद्धान्त स्वरूप और निर्माण में भिन्न होते हुये भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उद्देश्य की पूर्ति में अधिक सफल है। इसमें अन्तर्राज्य सम्बन्धों की एक स्थायी व्यवस्था है।

मण्डल सिद्धान्त में शक्ति-सन्तुलन का ध्येय तो था ही, साथ ही साथ साम्राज्यवादी नीति को एक व्यवस्थित तथा निर्दिष्ट आदर्श पर आधारित कर देने का भी अभिप्राय था। यह आदर्श युद्ध नियम तथा शत्रु के साथ मनोवोचित व्यवहार में भासित है। मण्डल सिद्धान्त का एक आधार नैतिक नियमों का पालन करना भी था।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय राजनीति में मण्डल सिद्धान्त का सदैव महत्वपूर्ण स्थान रहा है और प्रत्येक राजा के लिये इन मण्डलों की जानकारी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी थी। इसके प्रति उदासीन रहने वाले राजा का अस्तित्व ही संदिग्ध था। वर्तमान युग में भी इसकी अनिवार्यता बराबर बनी हुई है तथा आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इसी राज मण्डल के आधारभूत सिद्धान्त पर ही आधारित हैं।

---

1. *एस0 पी0 छंगाणी : इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 13*

परिशिष्ट

नीतिशास्त्र में वर्णित विभिन्न प्रकार के मण्डल तथा उनके घटक—

आचार्य		मण्डल के घटक		
मय	—	चतुष्क मण्डल	—	4 मूल प्रकृति मात्र
पुलोमेंदो	—	षट्क मण्डल	—	विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, मध्यम, उदासीन
उश्ना	—	द्वादश राजमण्डल	—	मण्डल के द्वादश मूल राजा
महर्षय:	—	षद्त्रिंशत्क मण्डल	—	द्वादशमूल राजा और उनमें से प्रत्येक के अरि एवं मित्र
मानव	—	सप्ततिर्दव्यधिक मण्डल	—	द्वादशमूल राजा और उनमें से प्रत्येक के पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ।
गुरू	—	अष्टादशक मण्डल	—	मण्डल के 12 मूल राजा एवं विजिगीषु, उसके अरि और मित्र में से प्रत्येक के मित्र और अरि।
विदु:	—	अष्टोत्तरशतक मण्डल	—	उपर्युक्त 18 राजा तथा उनमें से प्रत्येक की पाँच-पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ
विशालाक्ष	—	चतुष्पञ्चाशतक मण्डल	—	उपर्युक्त 18 राजा और प्रत्येक के शुत्रु एवं मित्र
अन्य	—	चतुर्दशक मण्डल	—	सप्त प्रकृतिक विजिगीषु तथा अरि
अन्य	—	मित्र मण्डल	—	विजिगीषु, अरि तथा मध्यम
अन्य	—	षद्त्रिशंतक मण्डल	—	उपर्युक्त 6 राजा तथा प्रत्येक की पाँच-पाँच द्रव्य प्रकृतियाँ
अन्य	—	एकविंशतिक मण्डल	—	सप्तप्रकृतिक विजिगीषु, अरि तथा मध्यम।
अन्य	—	जगत्यक्षरक (48) मण्डल	—	4 मूल राजा तथा प्रत्येक का मित्र और उन 8 राजाओं में प्रत्येक की द्रव्य प्रकृतियाँ।
अन्य	—	दशक मण्डल	—	विजिगीषु, उसके पुरोभाग में स्थित 5 तथा पृष्ठभाग में स्थित 4 राजा।
अन्य	—	षष्टिसंख्यक मण्डल	—	उपर्युक्त 10 राजा और प्रत्येक की 5 द्रव्य प्रकृतियाँ
अन्य	—	त्रिशंत्कमण्डल	—	विजिगीषु, उसके पुरोभाग में स्थित 2 (अरि, मित्र) तथा पृष्ठभाग में स्थित 2 (पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द) राजा एवं प्रत्येक की द्रव्य प्रकृतियाँ।
अन्य	—	पंचक मण्डल	—	विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह तथा आक्रन्द।
अन्य	—	त्रितय मण्डल	—	विजिगीषु, अरि तथा मित्र
पराशर	—	दो राजाओं का मण्डल	—	अभियुक्त तथा अभियुज्य।

अध्याय–तृतीय

।। षाड्गुण्य ।।

अध्याय–तृतीय

।। षाड्गुण्य ।।

प्राचीन भारत में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा वाह्य–नीति निर्धारण करने के लिये प्रचीन आचार्यो ने कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उन्हें ही षाड्गुण्य मंत्र की संज्ञा दी गयी है। साम, दाम, भेद तथा दण्ड की नीति को कार्यान्वित करने के लिये प्राचीन आचार्यो ने षाड्गुण्य योजना को प्रस्तावित किया है। इसमें निर्धारित जिस नीति की व्यवस्था की गयी थी, अधिकांश राजा उसी का अनुपालन करके अपने शासन का संचालन करते हुये अन्य राज्यों के साथ, सम्बन्ध स्थापित करते थे। राजाओं की सफलता एवं उनकी विफलता षाड्गुण्य नीति के उचित अथवा अनुचित प्रयोग पर आधारित बतलाई गयी है। जो राजा षाड्गुण्य नीति का उचित प्रयोग करता है वह सफलता प्राप्त करता है।

प्राचीन भारत के आचार्यो ने इस मन्त्र के छः गुण बताये हैं। इसलिये इन आचार्यो ने इस मंत्र को षाड्गुण्य मंत्र के नाम से सम्बोधित किया है। इस षाड्गुण्य मंत्र की योनि बहत्तर प्रकृतियों से युक्त राज्यमण्डल होता है–ऐसा कौटिल्य का मत है।[1] अतः षाड्गुण्य–मंत्र राजमण्डल व्यवस्था का एक अनिवार्य एवं मूल आधार है। इस मंत्र का उद्देश्य क्षय, स्थान और वृद्धि का निश्चय करना है।

षाड्गुण्य के छः गुण सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वेधीभाव हैं।[2] सन्धि का तात्पर्य है शत्रु से मेल करना; यान–यान आक्रमण करना, आसन–युद्ध की प्रतीक्षा करना, द्वैधीभाव–दुरंगी नीति बरतना; संश्रय अथवा समाश्रय से अभिप्राय है अपनी अपेक्षा अधिक बलवान राजा की शरण ग्रहण करना। राजाओं अथवा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण में मूलतः यही छः आधार

---

1. *षाड्गुण्यस्य प्रकृतिमण्डल योनि।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1 वार्ता 1*

2. *तत्र पणबन्ध, सन्धि, अपकारी विग्रह, उपेक्षणमासनम्। उभ्युचच्यों यानं, परार्पण संश्रय, सन्धि विग्रहीपादानं द्वेधीभाव इति षड्गुणाः।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, श्लोक 2, 5 एवं मनु0 7/160 काम0 11/35–36; नीतिवाक्यामृतम् : 9/37, याज्ञवल्क्य0 1/347; शुक्र0 4/1065–66; मार्कण्डेय पुराण : 1/24/10*

माने गये हैं।

वैदिक साहित्य में इन छः प्रकार के गुणों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है परन्तु इनका प्रयोग युद्धादि के अवसर पर अवश्य किया जाता था। महाकाव्यकाल में षाड्गुण्य का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इस काल के ग्रन्थों में षड्उक्तियों का प्रयोग षाड्गुण्य के संदर्भ में किया गया है। भीष्म का कथन है कि षाड्गुण्य सम्पन्न राजा ही पृथ्वी का उपभोग कर सकता है।[2] नारद के अनुसार इनके समुचित प्रयोग से राजा को वर्तमान में ही नहीं भविष्य में भी लाभ होता है।[3]

कौटिल्य षाड्गुण्य को राज्य का मूलमंत्र मानते हैं। उनका विचार है कि राजाओं की जय-पराजय इसी पर आधारित रहती है। षाड्गुण्य के समुचित प्रयोग से ही राजा क्षयावस्था (Deterioration) और स्थिरावस्था (Stagnation) को दूर कर वृद्धि (Progress) कर सकता है।[4] अतः अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार इन गुणों का प्रयोग करते हुये एक राजा को दूसरे राजा से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

कौटिल्य ने यह भी विवेचना की है किस स्थिति में कौन गुण अधिक उपयोगी होता है। उनके अनुसार यदि कोई राजा शत्रु की अपेक्षा अपने को निर्बल समझे तो सन्धि और यदि वह शत्रु से अधिक शक्तिशाली हो तब विग्रह, और यदि उसकी तथा शत्रु दोनों ही की स्थिति समान हो तब उसे आसन नीति का अवलम्बन करना चाहिये। इसी भाँति यदि शक्ति, देश, काल आदि अपने अनुकूल हो तो यान, और शक्ति रहित होने पर संश्रय तथा सहायता की अपेक्षा होने पर द्वैधीभाव गुण को अपनाना चाहिये।[5]

षाड्गुण्य मंत्र पर विभिन्न मत—

कोटिल्य का कथन है कि आचार्यो का ऐसा मत है कि सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय

---

1. *रामायण (गीता प्रेस) अयोध्याकाण्ड : अ0 100, श्लोक 69*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 69, श्लोक 66*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 81, श्लोक 28*
4. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 64*
5. *अर्थ0 अधि07, अ0 1, वार्ता 12-17*

और द्वैधीभाव यह षाड्गुण्य के छः गुण होते हैं।[1] कौटिल्य आचार्य वातव्याधि को इस सिद्धान्त का विरोधी मानते हैं। उनका कहना है कि वातव्याधि इस मंत्र के केवल दो ही गुण मानते हैं।[2] आचार्य वातव्याधि के मतानुसार सन्धि और विग्रह इन्हीं दो गुणों में शेष चार गुणों का अन्तर्भाव होता है।[3] परन्तु कौटिल्य इस मत की आलोचना करते हुये कहते हैं कि आसन, यान आदि गुणों का अन्तर्भाव सन्धि और विग्रह गुणों मात्र में नहीं हो सकता क्योंकि उनकी अवस्था में भेद है। इसलिये षाड्गुण्य के छः गुण मानना उचित होगा।[4]

मनु ने षाड्गुण्य के अन्तर्गत छः गुणों को मान्यता दी है। वह राजा को उपदेश देते हैं कि इन गुणों का प्रयोग समय, परिस्थिति एवं स्थान की आवश्यकता के अनुसार करना चाहिये। उन्होंने इनके विभिन्न प्रकार तथा उनके प्रयोग के उपयुक्त अवसरों का भी उल्लेख किया है।[5]

कामन्दक ने छः गुण निर्धारित किये हैं। वह यह भी कहते हैं कि कुछ विद्वान केवल दो ही गुण मानते हैं। उनके अनुसार यान और आसन विग्रह के ही रूप हैं और संश्रय तथा द्वैधीभाव सन्धि के। जब कोई राजा किसी से विग्रह करके उसके देश पर आक्रमण करता है तब यान होता है, और जब वह अपनी सीमा पर आक्रमण हेतु अथवा शत्रु के आक्रमण से बचने के लिये सेना एकत्रित करता है तब आसन। इस प्रकार यह दोनों ही विग्रह के अवान्तर भेद हैं। इसी प्रकार बिना सन्धि के न आश्रय ग्रहण किया जा सकता है और न द्वैधीभाव का ही प्रयोग किया जा सकता है। अतः यह दोनों सन्धि के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।[6] इसके पश्चात् कामन्दक वृहस्पति के मत का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि गुणों की संख्या तीन है-सन्धि, विग्रह और संश्रय। बलशाली शत्रु के भय से ही राजा अन्य बलवान राजा का आश्रय ग्रहण करता है। अतः संश्रय सन्धि से भिन्न है।[7] कौटिल्य का

---

1. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 2*
2. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 3*
3. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 4*
4. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 5*
5. *मनु0 अ0 7, श्लोक 160-176*
6. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 35-37*
7. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 38-39*

मत है कि विग्रह ही एकमात्र गुण है सन्धि आदि समस्त गुण उसी से उत्पन्न होते हैं।[1]

भगवज्जिनसेनाचार्य के महापुराण में अतिबल राजा के प्रशासन की विवेचना करते हुये लिखा है कि उसने षाड्गुण्य नीति का आश्रय लेकर शत्रु पर विजय प्राप्त की थी।[2]

सोमदेव ने भी प्राचीन नीति प्रणेताओं की तरह छः गुणों को स्वीकार किया है तथा उनके प्रयोग के उपयुक्त अवसरों का वर्णन किया है।[3]

शुक्र[4] और नीलकण्ठ भट्ट[5] ने भी मंत्र को षाड्गुण्यमय बतलाया है।

सन्धि

परिभाषा तथा महत्व—

सामान्यतया दो पक्षों के मेल-मिलाप को सन्धि कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में सन्धि का असाधारण महत्व है और ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण स्रोत मानी गयी हैं। ओपेनहाइम के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ ऐसे समझौते हैं जो संविदात्मक होते हैं, राज्यों अथवा राज्यों के संगठनों के मध्य किये जाते हैं और जो कानूनी अधिकार तथा कर्तव्य उत्पन्न करते हैं।"[6] स्टार्क ने सन्धियों को ऐसा समझौता बताया है जिससे दो या अधिक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधीन सम्बन्ध स्थापित करते हैं या करना चाहते हैं।[7]

प्राचीन भारत में सन्धि दो शत्रु-राष्ट्रों के मध्य किया गया समझौता था जिसमें पहल कमजोर राजा की ओर से होती थी। आत्मरक्षा के लिये और अपनी भावी उन्नति के लिये शक्तिशाली राजा की ओर से सन्धि के लिये प्रयास तभी किये जाते हैं जब उसे बिना लड़ाई के प्रचुर धन और भूमि मिल रही हो।[8]

---

1. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 40*
2. *महापुराण : पृ0 13*
3. *नीतिवाकयामृतम् , समुद्देश 29, श्लोक 37-58*
4. *शुक्रनीति0 अ0 4 श्लोक 1065*
5. *नीतिमयूख : पृ0 63*
6. *ओपेनहाइम: इण्टरनेशल लॉ, प्रथम भाग, (संस्करण 8), पृ0 291*
7. *स्टार्क: एन इन्ट्रोडक्शन टु इण्टरनेशनल लॉ, (संस्करण 8), पृ0 280*
8. *मनु0 अ0 7, श्लोक 206*

कौटिल्य का मत है कि सन्धि पणबंध है।[1] डॉ. राधागोविन्द बसाक इसकी टीका करते हुये कहते हैं कि सन्धि एक समय (शर्तनामा) है जिसके द्वारा जो राजा प्रदेशों के समर्पण या प्रतिरूप, धन और सैन्य के लिये तैयार हो जाते हैं।[2] संधि दो या दो अधिक राजाओं में शक्तिपूर्ण समझौता है। सन्धि के द्वारा बंधे हुये राज्य परस्पर मित्र बनते हैं। बलवान से सन्धि करने के बाद जहाँ निर्बल राज्य सुरक्षित रह जाता है वहीं यदि वह अपनी रक्षा के उपाय नहीं करता तो उसकी गति वृक्ष पर सोने वाले की नींद के समान होती है। वृहस्पति ने अपनी कमजोरी और असमर्थता को जानकर सन्धि करने की सलाह दी है।[3]

सन्धि का उद्देश्य सन्धि करने वाले दोनों पक्षों की भलाई होता है। किसी समान शत्रु को हराने, किसी राज्य के शत्रु के अत्याधिक विकास को रोकने, किसी प्रदेश को जीतने अथवा किसी शक्ति विशेष को परास्त करने के लिये भी सन्धि की जाती है। प्रत्यक्ष या अप्रत्येक्ष रूपेण संधि करने वाले राज्य का कल्याण ही सन्धि का उद्देश्य होता है।

वैदिक साहित्य में सन्धि की परिभाषा तो नहीं मिलती अपितु राजाओं के मध्य सन्धि के उदाहरण अवश्य उपलब्ध होते हैं।[4] सुदास के विरूद्ध अनेक राजाओं ने सन्धिबद्ध होकर युद्ध किया था। इसलिये इस युद्ध को दाशराज्ञ युद्ध कहा गया है। रामायण में भी सन्धि की विवेचना का अभाव है परन्तु शत्रु से सन्धि करने का उल्लेख अवश्य है। रावण के सभी हितैषीजन माल्यवान, कुम्भकरण, शुक और सारण आदि-राम से सन्धि करने का ही परामर्श देते हैं।[5]

महाभारत में सन्धि का विस्तृत वर्णन है भीष्म तो यहाँ तक कहते हैं कि प्रचुर धन देकर, अथवा राज्य परित्याग करके भी सन्धि कर लेनी चाहिये, क्योंकि जीवित रहने पर सब कुछ पुनः

---

1. *तंत्र पणबन्धः सन्धिः। अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 6; नीतिवाक्यामृतम् : समु0 29, श्लोक 38*
2. *International Law and Inter State Relations in Ancident India. That is to say treaty is an agreement beween two kings for nutral dsurrender of excharge of territories, money and army. — Arthsastra : Dr. R.G. Basak*
3. *नीतिवाक्यामृतम् : पृ0 327*
4. *ऋ0 7/83/6 एवं 7/18-19*
5. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 35, श्लोक 10-11*

प्राप्त किया जा सकता है। स्वार्थ सिद्धि का अवसर देखकर जो राजा शत्रु के साथ सन्धि कर लेता है वही फल प्राप्त करता है।[1] धृतराष्ट्र भी इसी मत के समर्थक हैं कि क्षीणशक्ति राजा की अल्पफला भूमि, स्वर्ण, कुप्य तथा अपनी सेना देकर भी शत्रु के साथ सन्धि करने का प्रयास करना चाहिये। इसके विपरीत यदि शत्रु क्षीणशक्ति हो और सन्धि के लिये इच्छुक हो तो उससे यही सब वस्तुयें लेकर सन्धि कर लेनी चाहिये।[2]

महाभारतकार ने "शत्रु के साथ धन, यथोचित सत्कार अथवा भय के कारण की गयी अस्थायी मित्रता को सन्धि" कहा है।[3] कामन्दक के अनुसार कृषि, व्यापार, दुर्ग, सेतु, हस्तिबन्धन, खान, करादान और सूने स्थानों को बसाना–ये आठ सन्धि कर्म हैं।[4]

कौटिल्य ने दो राजाओं के बीच किये सशर्त मेल को 'सन्धि' कहा है।[5] एक अन्य स्थान पर शम, सन्धि और समाधि–इन तीनों शब्दों को समनार्थक बताते हुये उन्होंने 'सन्धि' को राजाओं में परस्पर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने वाली बताया है।[6] इस प्रकार कौटिल्य की दृष्टि में "दो राजाओं के मध्य कुछ निश्चित शर्तो पर हुआ मेल जिससे पारस्परिक विश्वास भी दृढ़ हो" सन्धि है।

शुक्र ने सन्धि की परिभाषा भिन्न प्रकार से दी है। उनके अनुसार "जिन क्रियाओं से बलवान शत्रु मित्र बन जाता है, वे क्रियायें ही 'सन्धि' कहलाती हैं।"[7]

विज्ञानेश्वर ने 'सन्धि व्यवस्था कारणम्' के रूप में सन्धि की परिभाषा दी है।[8] अग्निपुराण

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 15-16*
2. *म0 भा0 आश्रमवासिकपर्व : अ0 6, श्लोक 7-12*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 59, श्लोक 37*
4. *कृधि वणिक्पथो दुर्ग सेतुः कंजरबन्धनम्।*
   खन्याकरकरादां न शून्यानां व निवेशनम्।
   अष्टो सन्धान कर्माणि प्रयोक्ता निमनीषिभिः।। — *काम0 सर्ग 5, श्लोक 78-79*
5. *''तंत्र पणबन्धः सन्धिः''* — *अर्थ0 7/1*
6. *शमः सन्धिः समाधिरित्यकोडर्थः। राज्ञा विश्वासोपगमः रामः सन्धिः समाधिरिति। अर्थ0 7/17/1*
7. *याभिः क्रियाभिर्बलवान् मित्रता याति वेरिषु।*
   सा क्रिया सन्धिरित्युक्तो......................... ।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 233
8. *याज्ञ0 1/347 पर मिताक्षरा टीका।*

ने किसी विवादास्पद विषय के सम्बन्ध में दो विदेशी राजाओं द्वारा किये गये पारस्परिक समझौते को 'सन्धि' कहा है।[1] गोदावर मिश्र के अनुसार, "पारस्परिक लाभ की अपेक्षा से दो राजाओं में स्थापित सम्बन्ध" सन्धि है।[2] द्वैधीभाव और संश्रय को भी वे सन्धि के ही रूप मानते हैं क्योंकि ये दोनों सन्धिसाध्य ही होते हैं।[3] विष्णुधर्मोत्तर पुराण[4] और सोमदेव[5] ने कौटिल्य का ही अनुसारण करते हुये सशर्त मित्रता को 'सन्धि' कहा है।

सन्धि की उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुशीलन से प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों की दो भिन्न-भिन्न विचारधारायें स्पष्ट होती हैं। एक विचारधारा के अनुसार, 'सन्धि' दो राजाओं का पारस्परिक समझौता है भले ही वह सशर्त क्यों न हो, जबकि दूसरी विचारधारा के अनुसार बलवान शत्रु को मित्र बनाने की सभी क्रियायें चाहे वे धोखा-धड़ी से ही भरपूर क्यों न हो, 'सन्धि' कहलाती हैं।

सन्धि का स्वरूप—

(क) वैदिक काल—

अपने राज्य की रक्षा करने और शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये विभिन्न राज्यों के मध्य पारस्परिक समझौतों या सन्धियों का उल्लेख वैदिक युग से ही मिलने लगता है। वहाँ 'सन्धि' के अर्थ में 'सन्ध्रा'[6] शब्द प्रयुक्त हुआ है। सन्धि शब्द का अर्थ वहाँ द्यौः और पृथिवी का मिलन स्थान अथवा प्रकाश एवं अन्धकार का मिलन-समय अर्थात् सन्ध्या है।[7]

वैदिक युग में सन्धियों का क्या स्वरूप था।[8] यह तो ज्ञात नहीं है किन्तु इतना अवश्य है

---

1. *अग्नि0 17-11*
2. *परस्परानभि भवफलकों यो............. भूपतिः।*
   स्वीकारः स्यादशो राशः संबंधः परिकीर्तितः।। — *हरिहर चतुरंग : 6/82*
3. *द्वैध व संश्रयं वापि सन्धिसाक्ष्य विलक्षणः।* — *हरिहर चतुरंग : 6/96*
4. *पणबन्धः स्मृतः सन्धिः।* — *विष्णु0 धर्मो0 2/150/35*
5. *नीतिवा0 समुद्देश्य 29, श्लोक 38*
6. *तै0 सं0 1/7!8 /4; श0 ब्रा0 1/7/1/6, 2/1/1/3*
7. *श0 ब्रा0 3/2/1/5, 1/6/55 (डॉ. सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृष्ठ 54)*
8. *ऋ0 7/18, 20, 25, 32 एवं 33*

कि उस युग की राजनीतिक स्थिति शान्त नहीं थी। आर्यो को पग-पग पर अपने विरोधियों से लड़ाई लड़नी पड़ती थी। आर्य और उनके विरोधी दोनों ही आत्मरक्षा एवं विजय के लिये संघ के मध्य मैत्री स्थापित कर अपनी-अपनी शक्ति बड़ाने लगे। यह मैत्री-सम्बन्ध राजनीति का आवश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग बन गया। ऋग्वेद में राष्ट्रों के मैत्री सम्बन्धों और मित्रराष्ट्रों के इकट्ठे होकर एक ही नेतृत्व में युद्व करने के वर्णन मिलते हैं। सुप्रसिद्व दाशराज्ञ युद्व में सुदास के विरूद्व दस राजाओं ने मिलकर युद्व लड़ा था किन्तु विजयश्री सुदास को ही प्राप्त हुई थी। एक दूसरे युद्ध में सुदास ने यमुना के किनारे भेद और उसके सहयोगी अजों और सिग्रुओं को हराया था।[1]

वैदिक युग में मित्रता और सन्धि की मूल भावना को अच्छी तरह समझा जाने लगा था। सामवेद में स्पष्ट उल्लेख है कि इन्दुरथ ने इन्द्र के स्थापित स्थान की ओर जाना शुरू किया किन्तु इन्द्र का मित्र होने के नाते उसने मित्र की प्रतिज्ञा का अनादर नहीं किया।[2] ऋग्वेद में एक स्थान पर अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह आर्यो को हानि पहुँचाने वालों की हवि स्वीकार न करें। [3] आर्यो की उदात्त भावना थी कि हम मित्र के शत्रुओं से किसी प्रकार का लाभ या आनन्द प्राप्त न करें।[4] उनका मित्र अपने मित्र को कभी धोखा नहीं देता था जब तक कि उसे मित्र के विरूद्ध उकासाया न जाय। इन्द्र कहता है कि 'हे मानवो! बहकावे में आकर ही मित्र-मित्र का वध करता है।[5] फिर भी वैदिक आर्य मित्रों द्वारा मित्र को धोखा दे दिये जाने की घटनाओं से प्रति बड़े सतर्क रहते थे। ऋग्वेद में वरूण को सच्चा मित्र, धृतव्रत, एवं उसकी सहायता को हानि रहित उत्तम सहायता बताया गया है।[6] स्पष्ट है कि वरूण की मित्रता में उन्हें किसी प्रकार के धोखे की आशंका नहीं थी।

ऋग्वेद में मित्रता का देवता 'मित्र' है जिसे 'मित्रता का प्रतिज्ञा पत्र' कहा गया है।[7]

---

1. *ऋ0 7/18/19*
2. *सामवेद : पृ0 205 (ग्रिफिथ-सम्पादित)*
3. *ऋ0 4/1/3/13*
4. *ऋ0 4/1/3/13*
5. *ऋ0 8/6/3/37*
6. *ऋ0 2/1/ 26 तथा 8/42*
7. *ऋ0 4/8/1*

यद्यपि वहाँ यह विवाह के प्रसंग में आया है किन्तु इसके प्रतीक भूत पदार्थ और सप्तपदी का प्रयोग विवाह-संस्कार के आवश्यक अनुष्ठान हैं। पत्नी मनुष्य की सच्ची मित्र है।[1] पति-पत्नी की मित्रता के अवसर पर इसका आवाहन निश्चय ही मैत्रीसम्बन्ध के सुदृढ़ीकरण के लिये महत्वपूर्ण है। ओल्डेनवर्ग का विश्वास है कि विभिन्न प्रकार की सन्धियों में मित्र देवता का ही आवाहन किया जाता था।[2] क्यूनी भी मित्र को मूलतः सम्बिध (सन्धि) का ही देवता मानते हैं।[3] मध्य एशिया के बहजकुई स्थान पर प्राप्त अभिलेख (1400 ई. पू.) में भितान्नी राज्यों में हुई सन्धि तथा विवाह सम्बन्ध के अवसर पर मित्र के साथ-साथ वरूण, इन्द्र और नासत्या (आश्विनी) देवों की स्तुति की गई है।[4] डॉ. स्टेन कोनो का विचार है कि सन्धि करने का यह तरीका मध्य एशिया वालों ने आर्यो से ही ग्रहण किया था।[5] सन्धियों के अवसर पर देवताओं की स्तुति इस बात का प्रमाण है कि वैदिक आर्य सन्धि के महत्व और उसकी पवित्रता को भली-भाँति समझते थे।

(ख) ब्राह्मण युग—

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मित्र के महत्व को स्वीकारा गया है[6] तथा उसके साथ कपट-व्यवहार की निन्दा की गयी है।[7] किन्तु शायद राजनीतिक मित्रता में छल-कपट एवं लालच का प्राधान्य था। राजनीतिक सन्धियाँ प्रायः किसी न किसी लोभ-लालच पर ही आधारित होती थीं। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में उल्लिखित है कि अग्नि और सोम इन्द्र के विरूद्ध दस्युओं की सहायता कर रहे थे। इन्द्र ने उन्हें अपनी ओर आ जाने का आमन्त्रण दिया। इस पर अग्नि ने ग्यारह कपालों में पुरोडाश देने

---

1. *तै0 सं0 6/2/9/2*
2. *ओल्डेन वर्ग: रिलि. देस वेद, 2, पृ0 188*
   डॉ0 सूर्यकान्त: वैदिक धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग, पृ0 120
3. *ल्यूडर्स: सं0 बु0 ऑफ दी ईस्ट, 1910, पृ0 921*
   डॉ0 सूर्यकान्त: वैदिक धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग, पृ0 126
4. *प्रो. जेकोबी: जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1909, पृ0 723*
5. *कोनो: मॉर्डन रिव्यू, दिसम्बर, 1921, पृ. 633-40 पर "दि आर्यन गॉडस ऑफ दी मित्तानी पीपुल" शीर्षक लेख।*
6. *शत0 ब्रा0 1/5/3/17*
7. *तै0 ब्रा0 1/7/1/7*

का प्रस्ताव रखा जिसे उन दोनों ने स्वीकार कर लिया और वे दस्युओं का साथ छोड़कर इन्द्र से आ मिले।[1]

ब्राह्मण-साहित्य से बिदित होता है कि उन दिनों सन्धियाँ पंचायती पद्धति से की जाती थीं। सन्धि के अवसर पर देवताओं को दिव्यसाक्षी के रूप में स्मृत किया जाता था। कभी-कभी किसी शक्तिशाली मध्यस्थ के समक्ष सन्धि की जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि देवताओं ने आपस में मिलकर एक पंचायत बुलाई जिसमें यह नियम बनाया गया कि जो कोई इस पंचायत के नियमों को तोड़ेगा वह हमसे दूर हो जायेगा। शक्तिशाली तनूनपात को इसमें साक्षी बनाया गया था।[2] स्पष्ट है कि इस प्रकार के पंचायती समझौते राजनीतिक सन्धियों की अस्थिरता को समाप्त करने के उद्देश्य से किये जाते होंगे।

(ग) महाकाव्य युग—

महाकाव्य के युग तक पहुँचते-पहुँचते 'सन्धि' राजनीति का आवश्यक अंग बन चुकी थी। षाड्गुण्य-सिद्धान्त राजनीति का सार मान जाने लगा था[3] और सन्धि को उन छः गुणों में सर्वप्रथम स्थान दिया गया। रामायण में सन्धि की परिभाषा तो नहीं मिलती किन्तु शत्रु के विरूद्ध पारस्परिक लाभ के लिये और शत्रु से सन्धि करने के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। राम और सुग्रीव तथा राम और विभीषण के मध्य सन्धि का प्रयोजन पारस्परिक लाभ ही था। राम ने सुग्रीव को राज्य दिलाने तथा बालि को मारने का वचन सुग्रीव को दिया था[4] और सुग्रीव ने सीता की खोज में राम की सहायता करने की प्रतिज्ञा की थी।[5] इसी प्रकार राम ने विभीषण को लंका का राजा बनाने का संकल्प लेकर उससे सन्धि की थी।[6] रावण के सभी हितैषीजन उसे राम से सन्धि कर लेने का ही परामर्श देते हैं।[7]

---

1. *शत0 ब्रा0 1/6/3/13*
2. *शत0 ब्रा0 3/4/2/6*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 59, श्लोक 79*
4. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 5, श्लोक 26 एवं 30*
5. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 7, श्लोक 3*
6. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 19, श्लोक 19-25*
7. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 19, श्लोक 14, 15, 25 एवं 33*

सन्धि करने में साम, दान, दण्ड आदि नीतियों का आश्रय लिया जाता था। सुग्रीव ने हनुमान को आदेश दिया था कि वह विभिन्न वानरों के पास अपने दूत भेजें और उन्हें अनेक प्रकार से उपहार देकर साम-नीति का प्रयोग कर यहाँ बुलायें और यदि वे इस पर भी न आयें तो उन्हें दस दिन का समय देकर प्राणदण्ड की चेतावनी दी जाये।[1]

सन्धि की पवित्रता बनाये रखने के लिये देवताओं को साक्षी बनाया जाता था। रावण और बालि[2] तथा राम और सुग्रीव ने अग्नि को [3] साक्षी करके मित्रता की थी। राम ने विभीषण के साथ मित्रता हेतु हाथ में समुद्र जल लेकर अपने भाईयों की शपथ ली थी तथा उसे लंका का राजा बनाने की प्रतिज्ञा की थी।[4] इस प्रकार सन्धि पालन में धर्म का असाधारण महत्व था तथापि अनेक अवसरों पर सन्धिपालन में 'शक्ति' महत्वपूर्ण साधन थी। सुग्रीव द्वारा सीता की खोज में विलम्ब किये जाने पर राम ने लक्ष्मण के द्वारा उसे चेतावनी देते हुये सन्देश भेजा था कि या तो वह अपनी प्रतिज्ञा पूरे करें अन्यथा उसे उसके सम्बन्धियों सहित मार दिया जायेगा।[5]

(घ) उत्तरवर्ती युग—

महाभारत एवं उत्तरवर्ती ग्रन्थों में सन्धि की नीति केवल 'कमजोर राजा की नीति' है और 'शत्रुओं को धोखा देने का सर्वोत्तम उपाय' है। बहादुर राजा को तो रणक्षेत्र में मृत्यु का आलिंगन कर अमरत्व प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।[6] अपना पक्ष दुर्बल या समबल होने पर ही देशकाल को ध्यान में रखते हुये सन्धि करनी चाहिये।[7] अपने और शत्रु के ऊपर एक साथ विपत्ति पड़ने पर भी शत्रु के साथ सन्धि करने की सलाह शुक्र ने दी है।[8] कौटिल्य के पूर्ववर्ती आचार्यो का यही मत था कि

---

1. *रामा० किष्किन्धाकाण्ड : अ० 5, श्लोक 14-15*
2. *रामा० उत्तरकाण्ड : अ० 34, श्लोक 40-42*
3. *रामा० किष्किन्धाकाण्ड : अ० 5, श्लोक 14-15*
4. *रामा० युद्धकाण्ड : अ० 19, श्लोक 19-25*
5. *रामा० किष्किन्धाकाण्ड : अ० 39, श्लोक 26-35*
6. *म० भा० शान्तिपर्व : 131/4-10; आश्रमवासिवपर्व : 6/10-12*
7. *म० भा० शान्तिपर्व : 69/15-16, 136/185-85, 131/5-8, 138/29, एवं सभापर्व : 5/15*
8. *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 138, श्लोक 193*

शत्रु के प्रबल होने पर या युद्ध की स्थिति में समान हानि लाभ होने की स्थिति में ही सन्धि करनी चाहिये।[1] कौटिल्य का कहना है कि किसी राजा को सन्धि तभी करनी चाहिये जब वह यह समझे कि सन्धि करके अपने लिये महान लाभ प्राप्त कर सकेगा और शत्रु के हितसम्पादन में बाधा पहुँचा सकेगा, अथवा शत्रु को विश्वास दिलाकर गूढ़ उपायों से उसकी प्रकृतियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकेगा या शत्रुमण्डल में भेद उत्पन्न कर शक्ति क्षीण कर उसे पूर्णतया नष्ट कर सकेगा।[2] मनु शत्रु का अपकार न कर सकने की अवस्था तथा भविष्य में शत्रु से अधिक बलशाली बनने की प्रत्याशा में ही सन्धि करने की सलाह देते हैं।[3] कामन्दक के अनुसार सबल शत्रु से आक्रान्त होने तथा बचाव के लिये अन्य उपाय न रहने पर ही सन्धि का आश्रय लेना चाहिये।[4] सोमदेव[5], गोदावर मिश्र,[6] सोमेश्वर,[7] शुक्र.[8] आदि विद्वानों का भी यही विचार है।

क्षीण शक्ति राजा को सन्धि कर लेने के बाद चैन की नींद नहीं लेनी चाहिए। आचार्य कणिक का कहना है कि जो राजा शत्रु के साथ सन्धि करके सुख से सोता है वह पेड़ पर गहरी नींद में सोये हुये मनुष्य के समान है। ऐसा व्यक्ति गिरकर ही सजग होता है।[9] भीष्म के अनुसार बलवान से सन्धि करके आत्मरक्षा के प्रति उदासीन हो जाना अपथ्य अन्न के समान हानिकार है।[10] अन्य आचार्यो का भी ऐसा ही मत है।[11] कमजोर राजा को चाहिये कि वह सन्धि करने के बाद भी शत्रु के

1. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 23*
2. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 27, 31, 35*
3. *मनु0 7/169-176, गरूडपुराण : 11/21-22*
4. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 1*
5. *नीतिवा0 समुद्देश 29, श्लोक 9*
6. *हरिहचतुरंग : 6/99*
7. *मानसोल्लास : 2/11/725-27; अभिलषित0 1/2/724-26*
8. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 70-71*
9. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 138/37, 136/183-85; गरूडपुराण : 1/114/48*
10. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 128, श्लोक 109*
11. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 138/193-94, 140/14, 103/9*

गुप्त छिद्रों का पता लगाता रहे और निरन्तर अपने को समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता रहे।[1] सन्धि का पालन तभी तक करे जब तक ऐसा करना आवश्यक हो। आचार्य कणिक का विचार है कि जब तक आवश्यक हो शत्रु को कन्धे पर ही वहन करता रहे किन्तु अनुकूल अवसर आते ही पत्थर पर घड़े के समान पटक कर नष्ट कर दे।[2] महाभारत में इन्द्र का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है जिसने नमुचि के साथ कभी बैर न करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु जब नमुचि पूर्ण आश्वस्त हो गया तो अवसर मिलते ही इन्द्र ने उसका सिर काट लिया था।[3] इस प्रसंग में कामन्दक ने इन्द्र और वृत्र की सन्धि का उल्लेख किया है। इन्द्र ने वृत्र के साथ कभी द्रोह न करने की प्रतिज्ञा की थी किन्तु अवसर पाते ही इन्द्र ने वृत्र का वध कर दिया था।[4] विश्वासपात्र बन कर इन्द्र ने दिति के गर्भस्थ शिशु को नष्ट कर दिया था।[5] भीष्म के मत में शत्रु को नष्ट करने का सर्वोत्तम साधन सन्धि या मित्रता ही है। उनका कहना है कि शत्रु पर प्रहार करने के लिए उद्यत होकर भी उसके प्रति प्रिय वचन बोले, प्रहार करने के बाद भी प्रिय ही बोले, यही नहीं तलवार से उसका सिर काट कर भी उसके लिये शोक प्रकट करे।[6]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों की दृष्टि में 'सन्धि' केवल आत्मरक्षा का "तात्कालिक साधन" और भविष्य में आत्मोन्नति का 'प्रच्छन्न उपाय' है। 'सन्धि' में भी अविश्वास की जड़े काफी गहरायी तक पैठी हुयी थीं। 'सन्धि' करने के बाद भी कभी विश्वास नहीं

---

1. *हरिहर चतुरंग : 6/152-159; म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 17 एवं 46*
2. *वहैदमित्र स्कन्धेन या वत्कालस्य पर्यय:।*
   प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि।।   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 18
3. *म0 भा0 सभापर्व : अ0 55, श्लोक 13*
4. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 54; हरिहर चतुरंग : 6/152*
5. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 65-67; हरिहर चतुरंग : 6/155*
6. *प्रहरिष्यन्प्रियं ब्रयात् प्रहत्यैव प्रियोत्तरम्।*
   असिनापि शिरश्छित्ता शोचतेत च सदेत व ।।   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 54

करना चाहिये।[1] यह राजनीतिक सिद्धान्त प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में मानो मार्ग दर्शक सिद्धान्त था। 'स्वदेशया धर्म परराष्ट्राभिमर्दनम्[2] अर्थात् अपने राष्ट्र का सम्यक् पालन और परराष्ट्र का अभिमर्दन प्रत्येक राजा का धर्म था। अत: 'सन्धि' भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की जाती थी। शक्तिशाली राजा भी अपने से क्षीणशक्ति राजा के साथ तभी सन्धि करते थे जब उन्हें ऐसा करने पर बिना किसी कठिनाई के बहुत लाभ हो रहा हो।[3]

सन्धि की विशेषतायें–

इस प्रकार सन्धि के नितान्त अस्थायी और अवसरवादी स्वरूप के प्रति प्रत्येक राजा का सशंक रहना स्वाभाविक था। प्रत्येक राजा इस ओर सतर्क रहता था कि कृतसन्धि का पालन सम्यक् प्रकार से हो और कोई भी पक्ष सन्धि की ओट में धोखा न दे सके। राजनीतिज्ञों और धर्मशास्त्रियों ने सन्धि करते समय कुछ आवश्यक सावधानियाँ बरतने का परामर्श दिया है–

1. सन्धि करने का अधिकार सामान्यतया राजा को ही था, किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में पूर्णाधिकार प्राप्त दूत आदि के माध्यम से भी सन्धि की जाती थी, किन्तु ऐसी सन्धियों का सम्बन्धित राज्याध्यक्षों द्वारा अनुमोदन आवश्यक होता था। कौटिल्य का स्पष्ट कथन है-'शासनप्रधान: हि राजान: तन्मूलत्वात सन्धि विग्रहयों:[4] अर्थात् सन्धि और विग्रह शासन (राजाओं या राजाज्ञा) के ही आधीन होते हैं। शासन द्वारा स्वीकृत होने पर ही पूर्णाधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों द्वारा सम्पादित संन्धियाँ मान्य हुआ करती थीं किन्तु उन सन्धियों को स्वीकार करने या अनुमोदित करने के लिये राज्य बाध्य नहीं थे। आज भी राज्य के लिये कोई ऐसा कानूनी या नैतिक कर्तव्य नहीं है कि वह अपने पूर्णाधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षरित सन्धि का अनुसमर्थन करे।[5] अत: दूतों के माध यम से ही गयी सन्धियों को राज्य शासन का प्रामाण्य आवश्यक था।

---

1. *गरूड़0 1/114/48; मत्स्य0 215/68; मार्कण्डेय0 24/9; रामा0 4/1/17-18*
2. *विष्णुधर्मो0 3/323/4; राजनीतिप्रकाश : पृ0 122*
3. *मनु0 अ0 7, श्लोक 206*
4. *अर्थ0 अधि0 2, अ010, वार्ता 2-3*
5. *ब्रियर्ली: दी लॉ ऑफ नेशन्स, पृ0 246*

2. सन्धि चाहे राजाओं में सीधे हो या दूत के माध्यम से, सन्धि और उसके उद्देश्यों की घोषणा की जाती थी। राम और सुग्रीव की सन्धि के अवसर पर 'ह्योक सुख दुःख च नो'[1] अर्थात् हम दोनों के सुख-दुख समान हैं तथा बालि और रावण की मित्रता के अवसर पर "द्वारा: पुत्र: पुरं राष्ट भोगाच्छादनभोजनम्, सर्वमेवाभिवतं नो भविष्यति हरीश्वर"[2] अर्थात हम दोनों एक दूसरे के स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, भोग्य सामग्री, वस्त्र एवं भोजनादि को अपना जैसा ही समझेंगे और राम-विभीषण की सन्धि के अवसर पर राम की ओर से रावण को मारने तथा विभीषण को राज्य दिलाने[3] और विभीषण की ओर से रावण वध में राम की यथा प्राण सहायता[4] करने की घोषणा की गयी थी। कौटिल्य के अनुसार 'संहित: स्म:'[5] अर्थात् हम सन्धि करते हैं इस प्रकार सन्धि की घोषणा करनी चाहिये। आज के युग में भी सन्धि और उसके उद्देश्यों की घोषणा विशिष्ट समारोहों में आवश्यक रूप से की जाती है।[6]

3. सन्धि की पवित्रता और स्थायित्व बनाये रखने के लिये अग्नि, जल आदि देवताओं को साक्षी बनाया जाता था या अन्य किसी प्रकार की शपथ लेनी पड़ती थी। कौटिल्य लिखते हैं कि पूर्व काल में राजा लोग अग्नि, जल, हल का फल, किले की ईट, हाथी का कन्धा, घोड़े की पीठ, रथ की गद्दी, शंख, रत्न, बीज, गन्ध, रस, सुवर्ण, हिरण्य (नकद धन) का स्पर्श करके शपथ लेते थे और कहते थे कि जो शपथ (सन्धि) का निरादर करे उसे ये सारी वस्तुयें सदा के लिये त्याग दें।[7] इतनी

---

1. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : 5/17*
2. *रामा0 उत्तरकाण्ड : 34/41*
3. *रामा0 युद्धकाण्ड : 19/19*
4. *रामा0 युद्धकाण्ड : 19/23*
5. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 17, वार्ता 5-8*
6. *ओपेनहाइम : इण्टरनेशनल लॉ, भाग 1, पृ0 813*
7. *शपथेन अग्न्युदक सीता प्रकारलोष्टहस्ति स्कन्धाश्वपृष्ठरथो पस्थश स्त्ररत्न बीजगन्ध रससुवर्ग हिरण्यान्या लेभिरे-हन्युरेता नि त्यजेयुश्चेन च: शपथमति क्रामेदिति। अर्थ0 7/17/122*

नौबत तो सत्य वचन का उल्लंघन करने पर ही आती थी, अन्यथा 'हम सन्धि करते हैं'[1] इतना सत्य वाक्य ही पुराने सत्यवादी राजाओं के लिये पर्याप्त था। कौटिल्य सत्य-शपथ को सन्धि पालन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में इस प्रकार की गयी सन्धि स्थायी होती है क्योंकि इसे भंग करने वाले व्यक्ति को इस लोक में अपयश और परलोक में नरक भोगने का भय रहता है।[2]

4. सन्धि की पवित्रता बनाये रखने के लिये प्राचीन भारतीय आचार्यो ने प्रतिभू और प्रतिग्रह बनाने की भी सलाह दी है। कौटिल्य का कहना है कि शपथ का अतिक्रमण कर देने पर महान् तपस्वियों या मुखियों को प्रतिभू (जामिन) बना कर सन्धि करनी चाहिये क्योंकि सन्धि बनाये रखने का उत्तरदायित्व इन्हीं लोगों पर होता है। प्रतिभू में ऐसे समर्थ व्यक्तियों को ही स्वीकार करना चाहिये जो सन्धि तोड़ने वाले को दण्डित कर सकें।[3]

सन्धि के स्थायित्व के लिये जमानत के रूप में राजा के भाई, बन्धु या अन्य किसी मुख्य व्यक्ति को लेना 'प्रतिग्रह' कहलाता है। कौटिल्य ने प्रतिग्रह में देने योग्य और स्वीकार करने योग्य व्यक्तियों का भी विवरण दिया है। राजद्रोही आमात्यों और राजपुत्रों को प्रतिग्रह में देने वाला राजा लाभ में तथा उन्हें स्वीकार करने वाला राजा हानि में रहता है। पुत्र और कन्या के विकल्प में कन्या को ही प्रतिग्रहस्वरूप देना उचित है क्योंकि कन्या दाय की अधिकारिणी नहीं होती, वह दूसरों के उपभोग के लिये ही होती है और पिता के लिये क्लेश का ही कारण होती है। कुलीन, बुद्धिमान, शूर, अस्त्र-शस्त्र में निपुण और इकलौते पुत्र को कभी बन्धक नहीं रखना चाहिये। परन्तु असमानजातीय, बुद्धिहीन, भीरू और शस्त्रास्त्र न जानने वाले पुत्र को प्रतिग्रह के रूप में दिया जा सकता है। यदि अनेक पुत्र हों तो एक पुत्र को भी बन्धक दिया जा सकता है क्योंकि उसके बिना भी काम चल जाता है।[4]

---

1. *संहिता: रूम इति सत्यसन्धा: पूर्वे राजान: सतयेन सन्दधिरे। अर्थ0 7/17/123*
2. *सतयं शपथो वा परत्रेह च स्थावर: सन्धि:। अर्थ0 7/17/23*
3. *शपथातिक्रमें महता तपस्विना मुख्याना वा प्रतिभाव्यबन्ध: प्रतिभू:। तस्मिन् य: परावग्रहसमर्थान् प्रतिभुवो गृह्णाति सो तिसंघत्ते। विपरीतों डतिसंधीयते। अर्थ0 7/17/24*
4. *बन्धु मुख्यप्रग्रह: प्रतिग्रहं..................एकपुत्रा देनकपुत्रों निरपेक्षत्वात्। अर्थ0 7/17/122*

सन्धि के परिपालनार्थ जमानत के रूप में पुरूषों को बन्धक लेने के अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में मिलते हैं। कुषाणसम्राट कनिष्क के दरबार में अनेक चीनी बन्धक थे जो दोनों राष्ट्रों के मध्य की गयी सन्धि को पक्का करने के लिये भेजे गये थे।[1]

5. सन्धि के स्थायित्व में शक्ति का असाधारण महत्व था। जब कोई पक्ष कृतसन्धि के पालन में उपेक्षा बरतता था तो दूसरा पक्ष अपनी शक्ति के बल पर उसे सन्धिपालन के लिये बाध्य करता था। राम ने सुग्रीव को अपनी शक्ति का भय दिखाकर ही सन्धिपालन हेतु बाध्य किया था।[2]

इस प्रकार यद्यपि सन्धियों की पवित्रता और स्थायित्व बनाये रखने के लिये अनेक उपाय प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों ने सुझाये थे और उनको व्यवहार में लाया भी जाता था तथापि जिन परिस्थितियों में सन्धि सम्पादित की गयी थी, उनके एकदम बदल जाने पर सन्धि को तोड़ा भी जा सकता था। कौटिल्य की दृष्टि में यह परिस्थिति थी-किसी पक्ष की शक्ति बढ़ रही है तो वह सन्धि को तोड़ सकता है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों की दृष्टि में सन्धि का पालन तभी तक आवश्यक था जब कि मूल परिस्थितियाँ यथावत् बनी रहें। भारतीयों के इस सिद्धान्त की तुलना वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परिस्थितियों के यथावत् बने रहने के सिद्धान्त से की जा सकती है।[4]

कौटिल्य ने सन्धि के चार धर्मो का उल्लेख किया है। उनके अनुसार आकृतचिकीर्षा, कृतश्लेषण, कृतविदूषण और अवशीर्ण क्रिया ये चार सन्धि-धर्म हैं।[5] साम, दान आदि उपायों से नयी सन्धि करना तथा उसके अनुसार ही समान, हीन और बड़े राजाओं की यथाशक्ति प्रतिष्ठा रखना

---

1. वी. ए. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 245

2. रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 30, श्लोक 70-85

3. अभ्युच्चीयमान: समाधिमोक्ष कारयेत्। अर्थ0 अधि0 7, अ0 17, वार्ता 122 एवं 23

4. हाल : इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 406-407

ओपेनहाइम : इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 296

ब्रियर्ली : दि लॉ ऑफ नेशन्स, पृ0 260-264

स्टार्क : इण्टर नेशनल लॉ, पृ0 313-314

केलसन : प्रिंसीपुल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 339-340

5. सन्धेरकृतचिकीर्षा कृतश्लेषण कृत विद्वषणमवशीर्णक्रिया व। अर्थ0 7/6

'आकृतचिकीर्षा' कहलाता है।[1] कृत सन्धि का प्रिय तथा हितकर आचरणों से परिपालन और समझौते के अनुसार शर्तों की रक्षा और पालन करना 'कृतश्लेष' सन्धि धर्म है।[2] शत्रु के राजद्रोही आदि दृश्य व्यक्तियों के साथ सन्धि करके शत्रु के साथ की हुई सन्धि को तोड़ देना 'कृतविदूषण' सन्धि धर्म कहा जाता है।[3] किसी दोष के कारण बहिष्कृत भृत्य या मित्र के साथ पुनः सन्धि अवशीर्ण क्रिया कहलाती है।[4] इस अवशीर्ण क्रिया में जाना-आना चार प्रकार से होता है[5]– (1) किसी कारण से अलग होना और फिर किसी कारण से मिल जाना, (2) बिना किसी कारण से अलग होना और फिर बिना कारण के ही आकर मिल जाना, (3) किसी कारण से अलग होना और फिर अकारण ही मिल जाना, (4) अकारण ही अलग होना और किसी कारण विशेष से मिल जाना। कौटिल्य ने इनमें से किसके साथ सन्धि करनी चाहिये और किसके साथ सन्धि नहीं करनी चाहिये इसका भी उल्लेख किया है।

सन्धि के प्रकार—

भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं ने सन्धि के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है। सन्धियों का प्राचीनतम वर्गीकरण महाभारत में मिलता है, वहाँ सन्धि के तीन प्रकार बताये गये हैं-हीन सन्धि, मध्यम सन्धि और उत्तम सन्धि। भय के कारण की गयी सन्धि हीन, सत्कारादि के कारण की गयी सन्धि मध्यम ओर धन लेकर की गयी सन्धि उत्तम सन्धि मानी गयी है।[6]

रामायण में सन्धि को 'द्वियोनी' कहा गया है।[7] महाभारत पर टीका करते हुये नीलकण्ठ

---

1. *अपूर्वस्य सन्धेः सानुबन्धेः सामादिभिः पर्येषणं समहीन ज्यायसा व यथा बलमवस्थापनमकृत विकीर्षा।* अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 111
2. *दूतस्य प्रियहिताभ्याम्..............रक्षण।* अर्थ0 7/6/111
3. *परस्या पसन्धेयता..............कृतवद्रूषणम्।* अर्थ0 7/6/111
4. *भत्येन...............अवशीर्ण क्रिया।* अर्थ0 7/6/111
5. *तस्या गतागतश्चतुर्विधः...................विपरातश्चेति।* अर्थ0 7/6/111
6. *सन्धिश्व विविधा भिख्यौ हीनो मध्यस्थौत्तमः।*
   भयसत्कारवित्ताख्यः कात्स्न्यैन परिवर्णितः।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 59, श्लोक 36
7. रामा0 अयोध्याकाण्ड : अ0 100, श्लोक 70

ने भी सन्धि के दो ही भेद माने हैं। वस्तुत: द्वैधीभाव और आश्रय-इन दोनों गुणों को अनेक विद्वानों ने सन्धि के ही रूप माने हैं।[1] किन्तु भारतीय आचार्यो का बहुमत द्वैधीभाव और आश्रय को सन्धि से पृथक् स्वीकार करने के पक्ष में है।

मनु ने सन्धि के दो भेद किये हैं-समानयानकर्मा और असमानयान कर्मा। तात्कालिक अथवा भविष्य में लाभ की इच्छा से शत्रु पर सम्मिलित आक्रमण करने के लिये दो राजाओं के बीच की गयी सन्धि 'समानयानकर्मा' कहलाती है। इसी अभिप्राय से पृथक्-पृथक् शत्रुओं पर पृथक्-पृथक् आक्रमण करने के लिये दो राजाओं के बीच की सन्धि 'असमानयानकर्मा' कही गयी है।[2]

सन्धियों का सुविस्तृत एवं तर्कसम्मत विवरण अर्थशास्त्र में मिलता है। कौटल्य ने अनेक दृष्टियों से सन्धियों का वर्गीकरण किया है। सर्वप्रथम उन्होने उन सन्धियों का वर्णन किया है जिनके सम्पादन में निर्बल राजा को पहल करनी पड़ी थी।[3] इस प्रकार की सन्धियों में निर्बल राजा को ही घाटा रहता था। अत: कौटिल्य ने इन्हें हीन सन्धि कहा है।

हीनसन्धियाँ—

हीन सन्धि के तीन भेद हैं—(1) दण्डोपनत सन्धि, (2) कोशोपनत सन्धि और (3) देशोपनत सन्धि। कौटिल्य ने इनका विवेचन इस प्रकार किया है—

1. दण्डोपनत सन्धि—

जब हीनबल राजा आक्रमणकारी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु राजा से सेना द्वारा सहायता देने अथवा सेना के न्यून कर देने आदि के प्रण के आधार पर उस शत्रु राजा से सन्धि कर लेता है तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य दण्डोपनत के नाम से सम्बोधित करते हैं।

दण्डोपनत हीन सन्धि भी तीन प्रकार की मानी गयी है— (क) आत्माभिष सन्धि, (ख) पुरूषान्तर सन्धि, और (ग) अदृष्ट पुरूष सन्धि।

---

1. हरिहर चतुरंग : 6/96; कामO 11/35-37; अर्थO 7/1/3-4

2. मनुO अO 7, श्लोक 163

3. प्रवृत्त चक्रेणाक्रान्तो राज्ञा बलवर्तीबल:।

सन्धि नोपमेतूर्ण कोषदण्डात्मभूमिमि:।। अर्थO 7, अधिO 3, वार्ता 23

(क) आत्माभिष दण्डोपनत सन्धि—

निर्धारित सेना अथवा सेना के उत्तम सैनिकों सहित हीनबल राजा विजेता के सामने उसी की आज्ञा के अनुसार आत्मसमर्पण कर सन्धि करता है, तो उस सन्धि को 'आत्माभिष सन्धि' माना गया है।[1]

कामन्दक ने आत्माभिष सन्धि की परिभाषा करते हुये बतलाया है कि जब किसी राजा और उसी की सेना के मध्य जो सन्धि की जाती है आत्माभिष कहलाती है।[2]

(ख) पुरूषान्तर दण्डोपन्त सन्धि—

पुरूषान्तर सन्धि में वह स्वयं अपने को तो नहीं परन्तु अपने राजकुमार और सेनापति को ससैन्य समर्पित करता है। इस सन्धि को आत्मरक्षण सन्धि भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें स्वयं राजा की रक्षा हो जाती है। उसे स्वयं अपने को समर्पित नहीं करना पड़ता है।[3]

कामन्दक ने पुरूषान्तर सन्धि को स्पष्ट करते हुये बताया कि जब दो राजाओं में इस प्रण के साथ सन्धि हो जाती है कि इन दोनों राजाओं के सेनापतियों के द्वारा उनके परस्पर कार्य सिद्धि होते रहेंगे, तो वह सन्धि पुरूषान्तर सन्धि कहलाती है।[4]

(ग) अदृष्ट पुरूष दण्डोपनत सन्धि—

"राजा अथवा अन्य कोई व्यक्ति सेना सहित अपने शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु किसी स्थान पर (शत्रु राज्य के बाहर) आवश्यकतानुसार जायेगा", इस प्रण के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह अदृष्टपुरूष दण्डोपनत सन्धि कहलाती है। इस सन्धि को दण्डमुख्यात्मरक्षण सन्धि भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अधीन सेनापति (दण्डमुख्य) एवं राजा

---

1. *स्वयं संख्यातदराडेन दण्डस्थ विभवेन वा।*
   उपस्थातव्यमित्येष सन्धिरात्मामिधो मतः ।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 24*
2. *स्वसैन्येन तु सन्धानामात्मामिय इति स्मृतः ।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 16*
3. *सेनापति कुमाराभ्यामुपस्थातव्यमित्ययम्*
   पुरषान्तरसंधिः स्यान्नात्मनेत्यात्मरक्षगाः।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 25*
4. *आवयोर्योधमुख्याभ्यां मदर्थः साध्य इत्यपि।*
   यस्मिन् पणः प्रक्रियते स सन्धिः पुरषान्तरः।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 13*

की भी रक्षा हो सकती है। इसे अदृष्टपुरूष सन्धि इसलिये कहा जाता है क्योंकि इस प्रकार की सन्धि के अनुसार किसी निर्दिष्ट पुरूष को ही अपने शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु उपस्थित होना पड़ेगा ऐसा प्रतिबन्ध नहीं रहता। इस प्रकार की सन्धि से हीनबल राजा और उसकी सेवा के मुख्य अधिकारियों की भी रक्षा हो जाती है।[1]

कामन्दक ने भी अदृष्टपुरूष सन्धि का उल्लेख किया है और जिसको वह अदृष्टनर और अदृष्टपुरूष दोनों नामों से सम्बोधित करते हैं।[2] उनका मत है कि जब शत्रु राजा के साथ हीनबल राजा के इस प्रण के आधार पर सन्धि कर लेता है कि हीनबल राजा अकेले ही शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु अपनी सेना के साथ गमन करता रहेगा अदृष्ट पुरूष सन्धि कहलाती है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त तीन प्रकार की सन्धियाँ दण्डोपनत सन्धि कहलाती हैं। इनमें से प्रथम दो प्रकार की सन्धि (आत्मभिष और पुरूषान्तर) में उच्चपद वाली स्त्री (राजकन्याओं) को प्रतिबन्दी (Hostage) के रूप में प्रस्तुत करना और तीसरी प्रकार की सन्धि (अदृष्ट पुरूष) में गुप्तचरों के द्वारा हीनबल राजा को अपना कार्य साधना चाहिये।[4]

2. कोशोपनत सन्धि—

कोशोपनत सन्धि प्रतिपक्षी को धन देकर सम्पादित की जाती है। जब हीनबल राजा अपने सबल शत्रु राजा की धन द्वारा सहायता करता रहेगा इस प्रकार वचनबद्ध होकर सन्धि कर लेता है, तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने कोशोपनत सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है। इस सन्धि के चार भेद किये गये हैं—(क) परिक्रय, (ख) उपग्रह, (ग) स्वर्ण तथा (घ) कपाल सन्धि।[5]

---

1. *एकेनान्यत्र यातम्यं स्वयं दण्डेन वेत्यम।*
   अद्दष्टपुयष: सन्धिर्दण्डमुख्यात्मरक्षण:।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 26*
2. *अद्दष्टनर ऋादिष्ट आत्मामिष उपगृह।।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 3*
3. *तवयैकन मदोयाश्र: सम्प्रसाध्यस्त्वसाविति।*
   यत्र शत्रु: पर्णकुर्यात्तिरेच्छदष: स्मृत।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 14*
4. *मुख्यस्त्रीबन्धनं कुर्यात्पूर्वयो: पश्चिमे त्वरिम्।*
   साधपेद्गूढ़मित्येते दण्डोपन्नतसंधय:।। — *अर्थ0, अधि0 7, अ0 3, वार्ता 27*
5. *तिष्टेचतुर्थ इत्येते कोशोपनत संघय:।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 32*

(क) परिक्रय कोशोपनत सन्धि—

युद्ध में शत्रु द्वारा बन्दी बनाये गये मंत्री आदि किसी मुख्य व्यक्ति की मुक्ति हेतु धन-दान के पण के आधार पर जो सन्धि की जाये उस सन्धि को परिक्रय कोशोपनत सन्धि कहा गया है।[1]

कोश के कुछ अंश अथवा सम्पूर्ण कोश दान कर अन्य प्रकृतियों (कोश के अतिरिक्त राजा, मंत्री आदि अवशेष छः प्रकृतियों) की रक्षा के निमित्त जो सन्धि की जाती है उस सन्धि को कामन्दक प्ररिक्रय सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं।[2]

(ख) उपग्रह कोषोपनत सन्धि—

यदि परिक्रयसन्धि में कई बार में अर्थात किस्तों में थोड़ा-थोड़ा करके बहुत धन देने की प्रतिज्ञा करके सन्धि की जाये तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य उपग्रह सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। वह इसी सन्धि को स्कन्धोपनेय सन्धि भी कहते हैं।[3] कौटिल्य इस सन्धि को उस सन्धि से श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें बन्धक के रूप में कन्या देने की शर्त होती है।

उपग्रह सन्धि की व्याख्या करते हुये कामन्दक कहते हैं कि प्राण रक्षा के निमित्त सर्वस्व दान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है, वह उपग्रह सन्धि कहलाती है।[4] वह स्कन्धेपनीय सन्धि को उपग्रह सन्धि से भिन्न मानते हैं। उनके मतानुसार जहाँ फल आदि थाली में सजाकर कन्धे पर रखकर भृत्यजन विजयी राजा को भेंट करते हैं और इस प्रकार जो सन्धि की जाती है उसको स्कन्धोपनेय सन्धि कहते हैं।[5]

---

1. *कोशदानेन शेषारंगा प्रकृतीनां विमोक्षराम्।*
   परिक्रयो-भवेत्संधिः स एव च यथासुखम्।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 28*
2. *कोशांशेनाथ कुप्येन सर्वकोषेण वा पुनः।*
   शेष प्रकृतिक्षार्थ परिक्रम उदाहतः।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 17*
3. *............स एव च यथा सुखम्।।*
   स्कन्धोपनेयो बहुधाज्ञेयः सन्धिरूपग्रहः।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 28*
4. *किग्रसे प्राशरक्षाश्र सर्वदानादुपग्रहः।।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 16*
5. *परिच्छिन्म फलं यत्र स्कन्धः स्कन्धेन दीदसे।*
   स्कन्धोपनेय तं प्राहुः सन्धिसन्धिविदोजनाः।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 19*

इसी सन्धि के अन्तर्गत देयधन शत्रु राजा को देश, काल के अनुसार कुछ दिन के अनन्तर भुगतान कर देने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है उस सन्धि को कौटिल्य उपग्रह सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं।[1]

(ग) सुवर्ण कोशोपनत सन्धि—

केवल परस्पर विश्वास के आधार पर की गयी सन्धि सुवर्ण सन्धि कही जाती है।[2] दान-प्रतिदान की कोई शर्त न होने तथा पूर्ण विश्वास से ह्दयों में एकीभाव हो जाने के कारण यह सन्धि स्त्रीबन्धन वाली सन्धि से भी श्रेष्ठ है। लेकिन इसमें भी स्वर्णदान की शर्त होती हैं।

कामन्दक सुवर्ण सन्धि को कांचन सन्धि एवं संगत सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि सज्जन राजाओं के मध्य मित्रता स्थापित करने के हेतु जो सन्धि की जाती है वह संगत सन्धि कहलाती है। यह संगति सन्धि अत्युत्तम होने से सुवर्ण के समान है इसीलिये सन्धि के अन्य ज्ञाताओं ने संगति सन्धि को कांचन सन्धि कहा है।[3]

(घ) कपाल कोशोपनत सन्धि—

कौटिल्य के अनुसार अत्यधिक धन दान की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह कपाल सन्धि कहलाती है। यह संधि सुवर्ण कोशोपनत सन्धि के विपरीत होती है।[4]

कामन्दक ने भी सन्धि का एक प्रकार कपाल सन्धि माना है। उनके मतानुसार दो समान सामर्थ्य वाले राजाओं के मध्य की गयी सन्धि का नाम कपाल सन्धि है।[5]

---

1. *निरूद्धौ देशकालाभ्या अत्यय: स्यादपग्रह:।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 29*
2. *सुवर्गसन्धिक्श्वासादेकींाावगतो भवेत्।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 30*
3. *रूशि: सगतसन्धिम्तु मैत्रीपूव्र उदाहत: ।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 6*
   सैन्त: सन्धिरेवैष प्रहष्टत्वात्सुवर्गवत्।
   सोडपरै: सन्धिकुशलै: काशन: परिकीत्तित:। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 8*
4. *विपरीत: कपाल: स्यादत्यादाना भभषितरु।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 31*
5. *कपाल सन्धिविज्ञेय: केवलं समसन्धित:।।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 5*

कौटिल्य उपर्युक्त चार प्रकार की कोशोपनत सन्धियाँ करने के उपरान्त हीनबल राजा को अपने सबल शत्रु राजा के प्रति अपना कार्य किस प्रकार साधना चहिये इस विषय का उल्लेख करते हुये कहते हैं—प्रथम दो सन्धियों (परिक्रय और उपग्रह) में जो कुप्य, हाथी, अश्व उन के परिच्छद के साथ-साथ लौट आने वाले देना चाहिये अथवा देर में मृत्यु देने वाले विष (slow poison) खिलाकर हाथी-घोड़े आदि देने चाहिये ।[1] तीसरी प्रकार की सन्धि (सुवर्ण सन्धि) में निर्धारित धन का आधा धन देकर निवेदन करना चाहिये कि अभी हमारी आय के साधन नष्ट हो गये हैं अत: अवशेष धन देने में असमर्थ हूँ, और चौथी प्रकार की सन्धि (कपाल सन्धि) में जहाँ तक हो सके बहाना बनाकर समय टालते रहना चाहिये, देना कुछ भी नहीं चाहिये।[2]

3. देशोपनत सन्धि—

जब हीन बल राजा अपने सबल शत्रु राजा को भूमि दान करने की प्रतिज्ञाकर उससे सन्धि करता है इस प्रकार की सन्धि देशोपनत सन्धि कहलाती है। कौटिल्य ने इसके चार भेद किये हैं—(क) आदिष्ट, (ख) उच्छिन्न, (ग) अवक्रय, तथा (घ) परिदूषण।

(क) आदिष्ट देशोपनत सन्धि—

देश का एक अंश शत्रु राजा को प्रदान कर अन्य प्रकृतियों (राजा, मन्त्री आदि) की रक्षा करने की प्रतिज्ञा के आधार पर की जाने वाली सन्धि को कौटिल्य आदिष्ट सन्धि के नाम से सम्बोधित करते है। उनका मत है कि हीनबल राजा को इस प्रकार प्रदत्त अपनी भूमि में चोर-डाकुओं के नाश हेतु यह सन्धि उपयोगी होती है।[3] कौटिल्य के कथन से ऐसा आभास होता है कि शत्रु को ऐसा भाग देना चाहिये जो चोर आदि दुष्टों से पीड़ित हो। इससे दो लाभ होते हैं प्रथम निर्बल राजा को ऐसे व्यक्तियों से मुक्ति मिल जाती है और द्वितीय वे शत्रु को पीड़ित कर सकते हैं।

कामन्दक भी आदिष्ट सन्धि की परिभाषा कौटिल्य की भाँति ही करते हुये कहते हैं कि

---

1. *पूर्व्योः प्रगयेत्कुप्यं हस्त्यश्वं वागुरान्वितम्।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 31*
2. *तृतीये प्रगयेदध कथयन्कर्मण क्षयम्।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 31*
3. *भूम्येकदेशव्या यने शेषप्रकृतिरक्षमम्।*
   आदेष्ट सन्धिस्तत्र हो गूढ़स्तेनोपधातिन:।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 33*

जहाँ पृथ्वी का कुछ अंश देकर सन्धि की जाती है उसे आदिष्ट सन्धि कहा जाता है।[1]

(ख) उच्छिन देशोपनत सन्धि—

राजधानी एवं सारभूमि को छोड़कर राज्य की अनउपजाऊ (ऊसर-बंजर) भूमि को प्रदान करने के आधार पर जो सन्धि की जाये इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने उच्छिन्न सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है। उनका मत है कि इस प्रकार की सन्धि उस राजा के लिये उपयोगी होती है जो अपने शत्रु राजा को संकट में डालना चाहता है।[2] ऐसी भूमि से शत्रु को विशेष लाभ नहीं होता।

कामन्दक इस सन्धि को उच्छिन्न संधि के नाम से सम्बोधित करते हैं जो सार भूमि के प्रदान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर की जाती है।[3]

(ग) अवक्रय देशोपनत सन्धि—

भूमि की उपज देते रहने की प्रतिज्ञा कर भूमि को शक्तिसम्पन्न शत्रु से मुक्त कराने के प्रतिबन्ध के साथ जो संधि की जाये उस सन्धि को कौटिल्य ने अवक्रय संधि की संज्ञा दी है।[4] अवक्रय सन्धि में भूमि तो नहीं वरन् भूमि की उपज शत्रु को प्रदान की जाती है।

(घ) परिदूषण देशोपनत सन्धि—

भूमि में जितनी उपज हो उससे अधिक उपज प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर शत्रु राजा से अपनी भूमि के मुक्त कराने के निमित्त जो संधि की जाती है उस सन्धि को कौटिल्य ने परिदूषण सन्धि की संज्ञा दी है।[5]

---

1. *यत्र भूम्येकदेशेन पगोन रिसवजित:।*
   सन्धीयते सन्धिविजिरादिष्ट: सन्धिरूच्यते।। — *काम0 सर्ग0 9, श्लोक 15*
2. *भूमीनामात्तु साराखां मूलवर्ज प्रसामनम्।*
   उध्वित्रसन्धिस्तत्र ष्ट: परव्यसनकांक्षिग:।। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 34*
3. *भुवां सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 18*
4. *फलदानेन भूमीना मोक्षरंग स्वादवक्रय:।।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 35*
5. *फलातिभुक्तो भूमिभ्य: सन्धि स परिदूपण:।* — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 35*

कामन्दक उस सन्धि को परिदूषण अथवा परिभूषण सन्धि कहते हैं जिसके अनुसार भूमि की सम्पूर्ण उपज प्रदान कर देने की प्रतिज्ञा कर (अपनी भूमि को विजयी राजा से मुक्त कराने के निमित्त) सन्धि की जाती है।[1]

इन चारों प्रकार की सन्धियों में प्रथम दो–आदिष्ट और उच्छिन्न–सन्धियों की स्थिति में हीनबल राजा को अपने शत्रु राजा की विपत्ति की प्रतीक्षा करते हुये (अपनी भूमि के पुनः प्राप्ति का) अवसर की खोज करते रहना चाहिये और अन्तिम दो–अवक्रय और परिदूषण–प्रकार की सन्धियों में सन्धि के अनुसार भूमि की निर्धारित उपज केवल उसी दशा में शत्रु को भेंट करनी चाहिये जब कि वह शत्रु राजा द्वारा प्रदान किये जाने के लिये विवश कर दिया जाये, अन्यथा टाल–मटोल करते रहना चाहिये।[2]

कामन्दक ने सोलह प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है।[3] इन सन्धियों में से कुछ तो वे ही सन्धियां है जिनका उल्लेख कौटिल्य ने किया है किन्तु कहीं–कहीं उनके स्वरूप के सम्बन्ध में उनका कौटिल्य से मतभेद भी है और कुछ सन्धियाँ सर्वथा नवीन है।

---

1. *सर्वभूफलादानेन परिभूण:।।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 18*
2. *कुर्यादवेक्षरणं पूर्वौ पश्चिमौत्वावलीयसम्।*
   आदाय फेलमित्येते देशोपनत संघय:।। — *अर्थ 0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 36*
3. *कपाल उदाहरश्च सन्तान: सडगतस्तथा।*
   उपन्यास: प्रतीकार: संयाग पुरूषान्तर ।।
   अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रह:।
   परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तया च परिभूषण:।।
   स्कन्धोपनेय: सन्धिख्य षोडश: परिकीर्त्तित:।
   इति षोडशक प्राहु: सन्धि सन्धिविचक्षणा:।।
   परस्परोपकारश्च मंत्र सम्बन्धजस्तथा।
   उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारस्ते च सन्धय:।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 2, 3, 4 एवं 5 - 20*

1. कपाल सन्धि—

समानशक्ति वाले राजाओं के मध्य पारस्परिक विश्वास के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह कपाल सन्धि कहलाती है।[1]

2. उपहार सन्धि—

जो सन्धि द्रव्य दान देकर दो राजाओं के मध्य की जाती है, वह उपहार सन्धि कहलाती है।[2]

3. सन्तान सन्धि—

जो सन्धि कन्यादान करके की जाती है, वह संतान सन्धि कहलाती है।[3]

4. संगत सन्धि—

सज्जन राजाओं के मध्य मित्रता स्थापित करने के हेतु जो सन्धि की जाती है, वह संगत सन्धि कहलाती है। जब तक जियेंगे तब तक के प्रयोजन वाली यह सन्धि सम्पत्ति-विपत्ति में किसी कारण से भी नहीं टूटेगी, अतः यह सर्वश्रेष्ठ सन्धि है। इसको कांचन सन्धि भी कहा गया है।[4]

5. उपन्यास सन्धि—

किसी श्रेष्ठ कार्य के सम्पादन हेतु जो सन्धि की जाती है, उस सन्धि को उपन्यास सन्धि कहते हैं।[5]

6. प्रतिकार सन्धि—

कामन्दक ने प्रतिकार सन्धि के दो रूप बतलाये हैं। उपकार के बदले में प्रति उपकार की

---

1. *कपालसन्धिर्विज्ञयः केवल समसन्धितः।* — *काम0 सर्ग-9, श्लोक 5*
2. *समप्रदानादभवति य पहारः स उच्चते ।।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 5*
3. *सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः।*
   सांदे्भःसड तसन्धिस्तु मैत्रीपूर्व उदाहतः ।। — *काम0 सर्ग0 9, श्लोक 6*
4. *यावदायुः प्रमाणस्तु कसमानार्थप्रयोजनः।*
   सम्पत्तती च विपत्ती च करणैयों न भिद्यते।। — *काम0 सर्ग-9, श्लोक 7*
5. *भव्यामेकार्थससिद्धि समुद्दिश्य क्रियेत यः।*
   स उपन्यासकुशलेरूपन्यास उदाहतः ।। — *काम0 सर्ग-9, श्लोक 9*

कामना से जो सन्धि की जाती है, उसे प्रतिकार सन्धि का प्रथम रूप बतलाया है। सन्धि का दूसरा रूप उन्होंने इस प्रकार बतलाया है कि "मैं इसका उपकार करता हूँ यह भी मेरा उपकार करेगा", इस कामना से जो सन्धि की जाती है, उस सन्धि को भी प्रतिकार सन्धि कहते हैं, जैसे- राम और सुग्रीव के मध्य की सन्धि।[1]

7. संयोग सन्धि—

एक ही उद्देश्य से समान शत्रु पर चढ़ाई करने के लिये की गयी सन्धि संयोग सन्धि कहलाती है।[2]

8. पुरूषान्तर सन्धि—

जब दो राजाओं में इस प्रतिज्ञा के आधार पर सन्धि होती है कि उन दोनों के मुख्य योद्धाओं के द्वारा उनके परस्पर कार्य सिद्धि होते , तो इस प्रकार की सन्धि को कामन्दक ने पुरूषान्तर सन्धि की संज्ञा दी है।[3]

9. अदृष्ट पुरूष सन्धि—

जब विजिगीषु राजा के साथ हीन बल शत्रु राजा इस प्रण के आधार पर सन्धि कर लेता है कि हीन बल राजा अकेले ही शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु अपनी सेना के साथ युद्ध हेतु गमन करता रहेगा तो इस प्रकार की सन्धि को अदृष्ट पुरूष सन्धि कहा गया है। अदृष्ट पुरूष सन्धि को

---

1. *मयास्योपकृतं पूर्व मगान्येष करिष्यति।*
   इति यःक्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते।।
   उपकार करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति।
   अयच्चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ।।   *काम0 सर्ग0 श्लोक 10-11*
2. *एकार्था सम्यगुद्दिश्य क्रियां यात्राभिगच्छतः।*
   स संहितप्रयाणस्तु सन्धिः संयोग उच्यते।।   *काम0 सर्ग0 9, श्लोक 12*
3. *आवयोर्योधमुख्याडया मदर्थः साध्य इत्यापि।*
   यस्मिन पणः प्रक्रियते स सन्धिः पुरूषान्तरः।।   *काम0 सर्ग0 9, श्लोक 13*

कामन्दक ने अदृष्टनर सन्धि के नाम से भी सम्बोधित किया है।[1]

10. आदिष्ट सन्धि—

जहाँ अपने राज्य का कुछ भू-भाग देने के आधार पर जो सन्धि की जाती है उसे आदिष्ट सन्धि कहा गया है।[2]

11. आत्मामिष सन्धि—

इस सन्धि के अनुसार हीनबल राजा को स्वयं अपनी सेना के साथ शत्रु राजा की सेवा में उसकी सहायतार्थ उपस्थित होना पड़ता है। इस प्रकार की सन्धि को आत्मामिष सन्धि की संज्ञा दी गयी है।[3]

12. उपग्रह सन्धि—

उपग्रह सन्धि, सन्धि का वह प्रकार है जिसमें प्राण रक्षा के निमित्त सर्वस्वदान कर देना पड़ता है।[4]

13. परिक्रय सन्धि—

कोष के कुछ अंश अथवा सम्पूर्ण कोष के दान द्वारा शेष प्रजा की रक्षा के निमित्त जो सन्धि की जाती है, उसे परिक्रय सन्धि कहते हैं।[5]

---

1. *अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रहः।*
परिक्रयस्तथौच्छिन्नस्तथा च परिभषणः ।।
त्वयैकेन मदीपार्थःसमप्रसाध्य स्त्वसाविति।
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरूषः स्मृतः ।। *काम0 सर्ग 9, श्लोक 13 एवं 14*
2. *यत्र भूम्येकदेशेन पणेन निपुवर्जितः।*
सन्धीयते सन्धिविद्भिरादिष्टः सन्धिरूच्यते।। *काम0 वर्ग-9, श्लोक 15*
3. *स्वसैन्येन तु सन्धनमात्मामिष इति स्मृतः।*
क्रियते प्राणरक्षार्थ सर्वदानादुपग्रहः ।। *काम0 सर्ग-9, श्लोक 16*
4. *स्वसैन्येन तु सन्धाननातामिष इति समृतः।*
क्रियते प्राणरक्षार्थ सर्वदानाग्रहः।। *काम0 सर्ग-9, श्लोक 16*
5. *कोषांशेनाथ कुप्येन सर्वकोषेण वा पुनः।*
शेषप्रकृतिरक्षार्थ परिक्रय उदाहतः ।। *काम0 सर्ग-9, श्लोक 17*

14. परिभूषण सन्धि—

कामन्दक ने उस सन्धि को परिभूषण सन्धि की संज्ञा दी है जिसमें हीन बल राजा अपनी भूमि की सम्पूर्ण उपज अपने बली शत्रु के निमित्त प्रदान कर देने की प्रतिज्ञा कर अपनी भूमि को विजयी शत्रु राजा से मुक्ति कराने के लिये सन्धि करता है।[1]

15. उच्छिन्न सन्धि—

कामन्दक ने उस सन्धि को उच्छिन्न सन्धि की संज्ञा दी है जो सारी उपजाऊ भूमि प्रदान करने के आधार पर की जाती हैं।[2]

16. स्कन्धोपनेय सन्धि—

उपहार-फल आदि थाली में रखकर और उसे कन्धे पर धारण कर भृत्यजन राजा के समक्ष भेंट प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार जो सन्धि दो राजाओं के मध्य होती हैं उसे विद्वानों ने स्कन्धोपनेय सन्धि की संज्ञा दी है।[3]

अग्निपुराण में भी उपर्युक्त 16 सन्धियाँ मानी गयी हैं।[4] किन्तु प्राचीन काल में कुछ ऐसे आचार्य भी थे जो सन्धियों का इतना विस्तृत वर्गीकरण करने के पक्ष में नहीं थे। स्वयं कामन्दक अन्य आचार्यो के मत का उल्लेख करते हुये सन्धि के चार भेद-1. मैत्र, 2. सम्बन्धज 3. परस्परोपकार और 4. उपहार बताते हैं।[5] सोमेश्वर ने भी उपर्युक्त सन्धि प्रकारों को ही मान्यता दी है।[6] उनके

---

1. *भुवा सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते।*
   सर्वभूम्युत्थितफलादानेन परिभूषणः।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 18*
2. *भुवां सारवतीनान्तु दानदुच्छिन्न उच्यतें*
   सर्वभूमयुत्थितफलादानेन परिभूषणः ।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 18*
3. *परिच्छिन्नं फल यत्र स्कन्धः स्कन्धेन दीयतें*
   स्कन्धोपनेयं तं प्राहः सन्धिं सन्धिविदोजनाः।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 19*
4. *अग्नि. 240*
5. *परसपरोपकारश्च मंत्र सम्बन्धजस्तथा।*
   उपहारश्च चिज्ञेयाश्चत्वारस्ते च सन्धयः।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 20*
6. *मानसोल्लास : 2/11/728; अभिलषितार्थ चिन्तामणि : 1/2/727*

अनुसार सद्गुणों एवं सद्बान्धवों से युक्त सत्पुरूष के साथ बिना किसी लोभ के जो सन्धि की जाती है, उसे 'मित्र सन्धि' कहते हैं।[1] किसी कारणवश कन्यादान के द्वारा की जाने वाली सन्धि 'सम्बन्धज सन्धि' कहलाती है।[2] पारस्परिक उपकार की भावना से राजा लोग जो सन्धि करते हैं, उसे 'परस्परोपकार सन्धि' कहते है। गज, अश्व, रत्न, सुवर्ण अथवा भूमि देकर जो सन्धि की जाती है उसे 'उपहार सन्धि' कहा जाता है।[3] किन्तु कामन्दक का विचार है कि उपुर्यक्त चारों सन्धियों में उपहार सन्धि ही श्रेष्ठ है और मैत्र सन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ उपहार सन्धि की ही प्रभेदमात्र है।[4] उपहार सन्धि को ही प्रमुख मानने का कारण यह है कि चढ़ाई करने वाला शक्तिशाली राजा हीनशक्ति राजा से किसी न किसी प्रकार का उपहार लिये बिना वापिस नहीं जाता। अत: उपहार सन्धि ही मुख्य है।[5] शुक्र का भी ऐसा ही मत है।[6]

सन्धि के अन्य भेद—

कौटिल्य ने कतिपय अन्य तथ्यों के आधार पर ऐसी सन्धियों का भी उल्लेख किया है जो उन दो अथवा दो से अधिक राजाओं के मध्य सन्धि की जाती थी जो किसी राजा पर आक्रमण करने

---

1. *सुजानोडयमिति ज्ञात्वा स्वयं सद्गुणबान्धव:।*
   करोत्यलोभतस्सन्धि मित्रसन्धिस्स उच्यते।। — *अभिलषि0 1/2/728*
2. *कन्यादानेन यं कुर्यात सन्धि कार्यवशन्नृप:।*
   सम्बन्धजस्स विज्ञेयसन्धि स्सन्धि विचारकै:।। — *अभिलषि0 1/2/729*
3. *अन्योन्यस्योपकारार्थ यन्त्र सधियते नृपै:।*
   परस्परोपकाराख्यस्य सन्धि प्राच्यते बुधै:। — *अभिलषि0 1/2/730*
4. *एक एवोपहारस्तु सन्धिरेतन्मतं हि नं:।*
   उपहारस्य भेदास्तु सवेदन्ये मैत्रवज्जिता:।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 21*
5. *अभियोक्ता बली यस्मादलब्धवा न निवर्त्तते।*
   उपहारादृते तस्मात्सन्धिर न्यो न विद्यते।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 22*
6. *शुक्रनीति0 4/7/238-240*

के निमित्त परस्पर गठबन्धन करने के हेतु सन्धि करते थे। इस प्रकार की सन्धियों को कौटिल्य ने कई श्रेणियों में परिगणित किया है—

1. आक्रमण के क्रम के अनुसार सन्धि-भेद—

जब दो अथवा दो से अधिक राजा इस आधार पर परस्पर सन्धि करते हैं कि उनको किस क्रम से आक्रमण कराना चाहिये, इस प्रकार की सन्धियों को कौटिल्य ने परिगणित और अपरिगणित नाम से सम्बोधित किया है।[1] देश काल और अर्थ के आधार पर परिगणित सन्धि के तीन उपभेद हैं—(क) परिपणितदेश सन्धि, (ख) परिपणितकाल सन्धि, (ग) परिपणितार्थ सन्धि।

(क) परिपणितदेश सन्धि—

जब दो अथवा दो से अधिक राज्य विजयाभिलाषा से इस प्रतिबन्ध के साथ परस्पर संघठित होकर किसी राजा के राज्य पर आक्रमण करते हैं, कि तुम इस देश पर आक्रमण करो और मैं उस देश पर आक्रमण करता हूँ, इस प्रकार की सन्धि को परिगणित देश सन्धि कहते हैं।[2]

(ख) परिपणितकाल सन्धि—

तुम इतने काल तक विजय की चेष्टा करते रहो, मैं इतने काल तक चेष्टा करता रहूँगा, इस अनुबन्ध के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह परिपणितकाल सन्धि कहलाती है।[3]

(ग) परिपणितार्थ सन्धि—

तुम इतना कार्य पूरा करना मैं इतने कार्य को पूरा करूंगा, इस अनुबन्ध के साथ की गयी सन्धि को कौटिल्य ने परिपणितार्थ सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है।[4]

---

1. *सन्धि: परिपणितश्चापरिपरितश्च।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 8*
2. *त्वमेत देश याहइमिंम देशं यास्यामीति परिपरितदेश:।।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 9
3. *तवमेतावन्तं कालं चेष्टस्वाहमेतादन्तं कालं चेष्टिष्य इति परिपणितकाल:।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 10
4. *त्वमेताकायं साघयाहमिदं कार्य सार्धविप्यामोति परिपणितार्थ:।।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 11

कौटिल्य ने परिपणित सन्धि के उपर्युक्त तीन उपभेदों के प्रभेदों को भी उल्लिंखित किया है। जब इनमें से किसी भी सन्धि में किन्हीं दो परिस्थितियों का समावेश एक साथ होता है तो वह सन्धि उन दोनों से संयुक्त सन्धि मानी गयी है। इस प्रकार देश और काल के मेल से देशकालपरिपणिता सन्धि तथा काल और कार्य के मेल से कालकार्यपरिणित सन्धि, देश और कार्य के मेल से देशकार्यपरिपणित सन्धि तथा देश, काल और कार्य तीनों के मेल से देशकालकार्यपरिर्पाणित सन्धि मानी गयी है।

इस प्रकार परिपणित सन्धि के कौटिल्य ने कुल सात भेद बतलाये हैं।[1] किन परिस्थितियों में उपर्युक्त सन्धियों का आश्रय लेना चाहिये इस बात की भी चर्चा कौटिल्य ने विस्तार के साथ की है।[2]

2. अपरिपणित सन्धि—

व्यसनग्रस्त, मन्त्री आदि से अपमानित, आलसी और अविवेकी शत्रु के साथ देश, काल, कार्य आदि की कुछ शर्त न लगाकर "हम दोनों सन्धिबद्ध है।" इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कर विजिगीषु जो सन्धि करता है ओर इसी के बहाने शत्रु की कमजोरियों का पता लगाकर उस पर

---

1. *एवं देशकालयों कालकार्ययों देशकार्ययोदेशंकालकार्यागां चावस्थापनात्सप्त विध: परिपणित:* अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 15
2. *यदि वा मन्येत शैलवननदीदुर्गमटवीव्प्रवहित छन्नधान्यपुयषवोवधासारमयव सेन्धनादकमविज्ञातं प्रकृष्टमन्यीाावदेशोयं वा सैन्यव्यायामानामलम्बधभौंम वा देशं परोयास्यति विपरीतमहामित्येतस्मिांन्विशे परिपणितदेशं सन्धिमुपेयात्।।* अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 12

   यदि वामन्येत प्रवर्षोरगशीतमतिव्याधिप्रायमुपक्षीराहारी भोगं सैन्यव्प्रायामानी चौपरोधिं कार्यसाध ानानामूनमतिरिक्तं वा कालं परचेष्टिष्यते विरपरीतमह मित्येत स्मिन्विशेषे परिपरितकाल सन्धिमुपेयात्।। अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 13

   यदि वा मन्येत प्रत्यादेयं प्रकृतिकोपक दीर्घकालं महाक्षयम्पयमल्पमनर्थु बन्धमकल्यधमयं मध यमादासीनविरूद्ध मित्रोपघातमं वा कार्य पर: साधपिप्येति विपरीतमहमित्येतस्मिन्विशेषे परिपरितार्थ सन्धिमुपेयात्।। अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 14

आक्रमण भी कर देता है, उस सन्धि को 'अपरिपणित सन्धि' की संज्ञा दी गयी है।[1]

2. विजय के उपरान्त लाभ के आधार पर सन्धि-भेद —

विजयाभिलाषी राजा और उसके सहायक राजा के मध्य युद्ध-विजय में लाभ की आशा के आधार पर कौटिल्य ने इस कोटि की सन्धि के चार प्रकार बतलाये हैं : (क) मित्रलाभ सन्धि, (ख) हिरण्यसन्धि, (ग) भूमिसन्धि, और (घ) कर्मसन्धि।

(क) मित्रलाभ सन्धि—

जब विजयाभिलाषी राजा और उसके सहायक राजा के मध्य इस प्रतिबन्ध के आधार पर सन्धि होती है कि विजय के उपरान्त मित्र लाभ का इस प्रकार बँटवारा होगा तो ऐसी सन्धि को मित्रलाभ सन्धि बतलाया गया है।[2]

इस सन्दर्भ में कौटिल्य ने मित्र के अनेक प्रकारों और उनके साथ सन्धि करके होने वाले लाभों का भी सविस्तार विवेचन किया है।[3]

(ख) हिरण्यलाभ सन्धि—

इस सन्धि की परिभाषा कौटिल्य ने नहीं दी है किन्तु जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह सन्धि दो राजाओं के मध्य हिरण्यलाभ के उद्देश्य से शत्रु पर आक्रमण करने से पूर्व ही की जाती थी।

(ग) भूमि सन्धि—

जब दो राजाओं में इस अनुबन्ध के आधार पर परस्पर सन्धि होती है कि तुम और हम विजय के उपरान्त विजित भूमि का इतना-इतना बंटवारा कर लेंगे वह सन्धि भूमि सन्धि कहलाती है।[4]

---

1. *व्यसनत्वरावमानालस्ययुक्तमज्ञ या संघातुकामो*
   देशकालकार्यागा मनवथापनात्सहितौ स्व इति सन्धिविश्वासेन
   परिच्छद्रमासांद्य प्रहरेदित्य परिपणितः।। *अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 17*
2. *त्वं चाहं व मित्रंलाभवहे* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 1*
3. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 10-46*
4. *त्वं चाह च भूमि लभावह इति भूमिसन्धिः ।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 10, वार्ता 1*

इस प्रसंग में कौटिल्य ने किस प्रकार की भूमि लेना श्रेष्ठ एवं उपयोगी है, इस बात की भी विस्तृत चर्चा की है।[1]

भूमि सन्धि का एक प्रकार 'अनवसित सन्धि' भी माना गया है। जब दो राजाओं में इस विषय को सम्मुख रख कर कि वह दोनों राजा किसी शून्य (अनवसित) भूभाग पर अधिकार कर लें परस्पर सन्धि की जाती है 'अनवसित सन्धि' कहलाती है।[2]

(घ) कर्म-सन्धि—

जब दो राजा इस प्रण के आधार पर परस्पर सन्धि कर लेते हैं कि वह दोनों मिलकर दुर्ग रचना करायेंगे तो इस प्रकार से की गयी सन्धि को कर्म-सन्धि के नाम से सम्बोधित किया गया है।[3] वस्तुत: सेतुबन्ध, खान, नदी, जंगल आदि से प्राकृतिक सम्पत्तियाँ आदि प्राप्त करने के लिये भी जो परस्पर सन्धियाँ की जाती थीं उन्हें भी 'कर्म सन्धि' ही कहा जाता था।

मित्र, हिरण्य, भूमि के लाभ की मात्रा के आधार पर कौटिल्य ने सन्धि के तीन प्रकार माने हैं (अ) समसन्धि, (ब) विषमसन्धि और (स) अतिसन्धि।

(अ) सम सन्धि—

जब दो राजा इस अनुबन्ध के आधार पर कि उन दोनों राजाओं को युद्ध के उपरान्त मित्र का लाभ समान रूप में होग, परस्पर सन्धि कर लेते हैं तो इस प्रकार की संधि समसन्धि कहलाती है।[4] समसन्धि में सन्धिकर्ता राजाओं को एक प्रकार के ही लाभ की प्राप्ति होती है। यदि एक राजा को मित्र का लाभ होगा तो दूसरे राजा को भी मित्र लाभ ही होगा भूमि, हिरण्य आदि लाभ उसको प्राप्त नहीं होंगे।

(ब) विषम सन्धि—

जब दो राजाओं में इस प्रतिज्ञा के आधार पर सन्धि होती है कि उनमें एक राजा मित्र लाभ को प्राप्त होगा और दूसरे को भूमि और हिरण्य की प्राप्ति होगी तो इस प्रकार की सन्धि को

---

1. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 10, वार्ता 12–39*
2. *त्वं चाहं च शून्यं निवेशयावह इत्यनवसितसन्धि:।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 11, वार्ता 1*
3. *तवं चाहं च दुर्ग कारयावह इति कर्मसन्धि:।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 12, वार्ता 1*
4. *तवं चाहं च मित्र लभावह इत्येवमादिभि: समसन्धि: ।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 4*

विषमसन्धि माना गया है।[1]

(स) अति संधि—

समसन्धि अथवा विषमसन्धि के द्वारा निश्चिय किये गये अपने-अपने लाभ की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त हो जाता है तो वह सन्धि अतिसन्धि का रूप धारण कर लेती है।[2]

सन्धियों का इतना विस्तृत और गम्भीर विवेचन कौटिल्य के अलावा किसी भी अन्य आचार्य ने नहीं किया है। आधुनिक विद्वानों का एक वर्ग सन्धियों को वर्गीकृत करने के पक्ष में ही नहीं है क्योंकि इस प्रकार के साधनों का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के विविध सम्बन्धों को अपने में समेटे हुये है।[3] फिर भी ओपेनहाइम ने विषयवस्तु की दृष्टि से सन्धियों को दो वर्गो में बांटा है-1-कानून बनाने वाली सन्धियाँ 2- अन्य किसी प्रयोजन के लिये की गयी सन्धि।[4] किन्तु कैलसन के अनुसार प्रत्येक सन्धि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के कुछ नियम बनाती ही है। अत: उनकी दृष्टि में ओपेनहाइम द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण नितान्त भ्रामक है।[5] हॉलैण्ड विषयवस्तु की दृष्टि से सन्धियों को पांच वर्गो में विभाजित करते हैं—

1. राजनीतिक 2. व्यापारिक
3. सामाजिक 4. दीवानी न्याय
5. फौजदारी न्याय।[6]

मार्टेन्स के अनुसार सन्धियाँ केवल दो प्रकार की हाती हैं-राजनीतिक और सामाजिक।[7] फोडर सन्धियों को सामान्य और विशेष-दो वर्गो में बांटते हैं।[8] सी. जे. मार्शल ने सन्धियों के चार

---

1. *तवं मित्रमित्येदमादिभिविषम सन्धि: ।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 9, वार्ता 5*
2. *त्योर्विशेषलाभादतिसन्धि:।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 8, वार्ता 6*
3. *हाल : इण्टरनेशनल लॉ (संस्करण 7) पृ0 37*
4. *ओपेनहाइम : इण्टरनेशनल लॉ, खण्ड-1, (संस्करण 8) पृ0 295*
5. *केलसन : प्रिंसिपुल्स ऑफ इण्टर नेशनल लॉ, पृ0 319-320*
6. *हॉलैण्ड : इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 240*
7. *एच. एस. भाटिया : इण्टरनेशनल लॉ एण्ड प्रेक्टिस इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृ0 78*
8. *एच. एस. भाटिया : इण्टरनेशनल लॉ एण्ड प्रेक्टिस इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृ0 78*

प्रकार माने हैं-एक्जीक्यूटरी, ट्रान्जीटरी, एक्यूटरी और परमानेन्ट।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक विद्वानों की अपेक्षा प्राचीन भारत के आचार्यो ने सन्धियों के भेद-प्रभेदों का विशद् विवेचन किया था। यह बात दूसरी है कि प्राचीन भारत में सन्धियों का क्षेत्र कुछ सीमित था जबकि आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत से विस्तृतर होता जा रहा है।

सन्धि के योग्य पक्ष—

राजनयिक सम्बन्धों में सन्धि की महत्ता के कारण प्राचीन चिन्तकों ने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला है कि किसके साथ सन्धि करनी चाहिये और किसके साथ नहीं। महाभारत में भीष्म ने कुलीन, वाक्यसम्पन्न, ज्ञान-विज्ञान कोविद, मित्र के महत्व को जानने वाला, कृतज्ञ, बहुविज्ञ, शोकरहित, माधुर्यगुण सम्पन्न, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, परिश्रमी, पुत्रवान, सदवंश में उत्पन्न, रूपवान, गुणी, निर्लोभी, जितश्रम, दोषरहित, यथाशक्ति अपने कर्तव्य का पालन करने वाले, अकारण क्रोध और स्नेह का परित्याग न करने वाले, मित्र का अहित न करने वाले, धन और युवतियों में लाभ-मोह आदि दोषों से रहित, निरभिमान और स्वामी के कार्य को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देने वाले व्यक्तियों को सन्धि के योग्य बताया है।[2] उनका कहना है कि जो राजा पूर्वोक्त प्रकार के श्रेष्ठ पुरूषों के साथ सन्धि करता है उसका राज्य चन्द्रमा की चांदनी की भांति बढ़ता है।[3] उन्होंने संक्षेप में 6 प्रकार के व्यक्तियों को 'पुरूषोत्तम' कहकर उन्हें सन्धेय बताया है।[4]

कौटिल्य ने सन्धेयासन्धेय पक्षों की विवेचना न कर मात्र इतना कहा है कि देश-काल की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर समबल, अधिकबल तथा हीनबल राजा के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिये। उनके अनुसार साधारणतः हीनबल राजा के साथ केवल विग्रह और समबल तथा

---

1. *एच. एस. भाटिया: इण्टरनेशनल लॉ एण्ड प्रेक्टिस इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृ0 78*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व, भण्डारकर संस्थान संस्करण, अ0 162 श्लोक 17-23*
3. *ईदशे पुरूष श्रेष्ठे: सन्धि य: कुरूिते नृप:*
   तस्य वित्तीयते राष्ट्र ज्योत्स्ना ग्रहयतेरिव — *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 162, श्लोक 24*
4. *शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणप्रिया:।*
   क्षान्ता: शीलगुणेपेता: संधेया: पुरूषोत्तमा:। — *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 162, श्लोक 25*

अधिकबल राजा के साथ सन्धि करनी चाहिये। इसका कारण स्पष्ट है कि हीनबल राजा को सरलता से पराजित किया जा सकता है परन्तु अपनी अपेक्षा अधिक बलशाली के साथ विग्रह करने में अपनी ही हानि निश्चित है। समशक्ति राजा के साथ विग्रह ठानने में दोनों ही पक्षों की क्षय-व्यय सम्भावित है। अत: राजनीति-कुशल राजा को समशक्ति और अधिक-शक्ति शत्रु के साथ सन्धि करना हितकर है। कौटिल्य यह भी कहते हैं कि यदि अधिक-शक्ति राजा सन्धि न करना चाहे तब उसके प्रति कपट नीति का प्रयोग कर उसे क्षति पहुँचानी चाहिये। इसी प्रकार समशक्ति राजा भी यदि सन्धि न करना चाहे तब उसको भी यथासाध्य हानि पहुँचानी चाहिये। हीनशक्ति राजा के साथ भी तभी सन्धि करनी चाहिये जब यह प्रत्येक विषय में नम्र ही बना रहे। ऐसी स्थिति में उससे सन्धि न करना हानिकारक हो सकता है क्योंकि दु:ख और अमर्ष के कारण वह शत्रु बन सकता है और विजिगीषु को हानि पहुँचा सकता है।[1] परिस्थितिवश इस प्रकार समशक्ति, अधिक शक्ति और हीनशक्ति के साथ भी सन्धि की जा सकती है।

मनु ने इस प्रसंग में किसी प्रकार का आदेश नहीं दिया है परन्तु टीकाकार कुल्लक भट्ट के अनुसार विद्वान कुलीन, शूरवीर, दक्ष, दानी, कृतज्ञ और धैर्ययुक्त शत्रु दुर्घर्ष होता है, अत: उसके साथ अवश्य सन्धि कर लेनी चाहिये।[2]

कामन्दक ने सात पक्षों का उल्लेख किया है जो सन्धि के योग्य होते हैं: सत्यवादी, आर्य, धार्मिक, अनार्य, भ्रातृ-संघातवान, बलयुक्त तथा बहुविजयी।[3] इन पक्षों की सन्धेयता के कारणों को स्पष्ट करते हुये वह लिखते हैं कि सत्यवादी राजा सन्धि की शर्तों का अक्षरस: पालन करता है और उसके व्यवहार में कभी परिवर्तन नहीं होता है। आर्य राजा के प्राण भले ही चले जायें परन्तु वह सन्धि भंग नहीं करता है। धर्मनिष्ठ राजा की शक्ति बहुत प्रबल होती है क्योंकि प्रजा उसमें अनुरक्त होती

---

1. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, वार्ता 2-12 एवं अधि0 7, अ0 7, वार्ता 3*

2. *विदारू महाकुल सिक्रान्त वसुर दक्ष दातार-उपकाकरस्मतार*

   सुखदु: खयेरेक रूप शत्रु दुरूच्छेद पण्डिता वदन्ति। सेनेवंविधशत्रुणा सह सन्धातव्यम्।

   मनु0 7/210 पर कूलल्कभट्ट की व्याख्या।

3. *सत्यार्यो धार्मिकानायो भ्रातृसंघातवान् बली।*

   अनेकविजयी चेति सन्धेया सप्तकीर्तिता:।। *काम0 सर्ग 9, श्लोक 43*

है और उसके समर्थन में युद्ध करने के लिये तत्पर रहती है। इसलिये ऐसे राजा को उखाड़ फेंकना असम्भव है। अनार्य राजा के साथ भी सन्धि करना उपयोगी है, क्योंकि ऐसा राजा अपने शत्रुओं का प्राय: उसी प्रकार विनाश करता है जैसे परशुराम ने अपने शत्रुओं को समूल नष्ट कर दिया था। भ्रातृसंघातवान राजा भाई बन्धुओं की सहायता के कारण उसी प्रकार अधिक बलशाली होता है, जिस प्रकार काँटों से घिरा वृक्ष। बलवान राजा से सन्धि करना उचित है, क्योंकि ऐसा राजा जब किसी पर आक्रमण करता है तब यातव्य राजा को कहीं भी शरण नहीं मिल पाती। जैसे सिंह द्वारा आक्रमण करने पर हिरन की रक्षा नहीं हो पाती, अथवा सिंह द्वारा लघु प्रयत्न से भी मदमस्त हाथी नहीं बचता उसी प्रकार बलशाली शत्रु से विग्रह करके निर्बल राजा की रक्षा नहीं हो सकती। अत: अपना कल्याण चाहने वाले राजा को बलवान शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिये। शास्त्रों में बलशाली शत्रु के साथ युद्ध करने का निर्देश कहीं नहीं प्राप्त होता है। अनेक युद्ध विजयी राजा के साथ भी सन्धि करना उचित है क्योंकि उसके प्रताप से ही दूसरे राजा भयभीत रहते हैं। जो राजा ऐसे अनेकविजयी परशुराम जैसे राजा के साथ सन्धि करता है उसके प्रताप से उसके शत्रु शीघ्र ही उसका अधिपत्य स्वीकार कर लेते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त कामन्दक ने आवश्यकता पड़ने पर दुर्बल शत्रु के साथ भी सन्धि करने की सलाह दी है। उनके अनुसार जिस प्रकार घाव में ठंडे जल की एक बूंद भी कष्टदायक हो सकती है उसी प्रकार संकटग्रस्त राजा को हीनबल राजा भी हानि पहुँचा सकता है।[2] जिस प्रकार कच्चे घड़े आपस में टकराकर टूट जाते हैं, वैसे ही समबल राजा आपस में लड़कर विनष्ट हो जाते हैं। सुन्द और उपसुन्द दोनों ही समबल थे परन्तु परस्पर लड़कर दोनों ही विनष्ट हो गये थे।[3]

शुक्र बलवान, स्वसामन्त और अनार्य राजाओं को सन्धि के योग्य मानते हैं।[4] सोमेश्वर के

---

1. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 44-53*
2. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 63*
3. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 60-62*
4. *शुक्रनीति0 अ0 4, श्लोक 237-242*

अनुसार आक्रमण द्वारा असाध्य,[1] बलिष्ट, शत्रु को जीतने वाले[2] और पीड़ित करने वाले बलवान[3] से सन्धि कर लेनी चाहिये।

सन्धि के अयोग्य पक्ष—

सन्धि के अयोग्य पक्षों का भी प्राचीन ग्रन्थों में विशद वर्णन हुआ है। भीष्म ने लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापी, सर्वशंकी, आलसी, दीर्घसूत्री, सरलता रहित, निन्दित, गुरूपत्नीगामी, नास्तिक, निर्लज्ज, सभी में पाप देखने वाला वेदनिन्दक, इन्द्रय लोलुप, असत्यवादी, लोकविद्वैषी, अकृत-प्रतिज्ञ, कृतध्न, मित्रद्वेषी, नृशंस तथा परिछिद्रान्वेषी आदि को सन्धि के अयोग्य बताया है।[4]

कामन्दक का विचार है कि बालक, वृद्ध, दीर्घरोगी, जाति-बहिष्कृत, भीरूक, लुब्धजन, विरक्त-प्रकृति, विषयासक्त, अनेकचित्तमंत्र, देवब्राह्मण निन्दक, दैवोपहत, दैवचिन्तक, दुर्भिक्ष-व्यवसनोपेत, बलव्यसन-संकुल, अदेशस्थ, विपरीतकाल, बहुरिपु-युक्त तथा सत्य धर्म-व्यपेत आदि के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिये।[5] इनके साथ केवल विग्रह ही करना चाहिये क्योंकि युद्ध के

---

1. *नाक्रान्तिर्ध्यो यः कश्विद्देशकाकलायपेक्षया।*
   तेन सार्ध प्रकुर्वात सन्धि नीतिविवक्षणः।।   *अभिलिषिता0 1/2/724*
2. *जेता शत्रु बलिष्ठ यः तस्मादभ्यधिकेन चा।*
   तत्रापि सन्धि कुर्वीत नयशास्त्रविशारदः।।   *अभिलिषिता0 1/2/725*
3. *बलीयसा पीड्यमानो योद्धु तेन च न क्षमः।*
   तथापि सन्धि कुर्वीत मत्वा नातिमनुत्तमाम्।।   *अभिलिषिता0 1/2/726*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 168, श्लोक 6-16*
5. *बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञाति बहिष्कृतः। भीरूको भीरूजनको लुब्धे लुब्धजनस्तथा।।*
   विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसावितमान्।अनेक चित्तमन्त्रश्य देवब्राहमण निन्दकः।।
   देवोपहतकश्चैव देवचिन्तक एव च। दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः।।
   अदेशस्थो बहुरिपुर्यक्तोड़ कालेन श्यव सः। सत्यधम्रव्यपेतश्व विशतिः अमी।।
   एतैः सन्धि न कर्वीत विग्रही स्यातु केवलम्।   *काम0 सर्ग0 9, श्लोक 23-27*

द्वारा ये शीघ्र ही वश में किये जा सकते हैं।[1]

इन बीस प्रकार के व्यक्तियों के साथ सन्धि न करने और केवल विग्रह छेड़ देने के औचित्य पर प्रकाश डालते हुये कामन्दक लिखते हैं कि बालक राजा में प्रभाव शक्ति न होने के कारण उसकी प्रजा युद्ध करना नहीं चाहती। वह स्वयं युद्ध करने में अक्षम होता है और फिर दूसरे के लिय भला कौन युद्ध करता है। उत्साह और शक्तिहीन होने के कारण वृद्ध और चिररोगी राजा अपने ही व्यक्तियों से तिरस्कृत होता रहता है, अतः इन दोनों के विरूद्ध निःशक होकर युद्ध छेड़ देना चाहिये। जातिबहिष्कृत राजा का उसके बन्धुजन ही विनाश कर देते हैं, अतः वह भी सरलता से जीता जा सकता है। डरपोक राजा युद्ध का परित्याग कर स्वयं ही आधिपत्य स्वीकार कर लेता है। डरपोक सैनिकों, मन्त्रियों आदि वाला राजा स्वयं वीर होने पर भी संग्राम में अकेला रह जाता है क्योंकि उसके डरपोक साथी रणक्षेत्र में उसके साथ छोड़ देते हैं। लोभी राजा अपने सैनिक और सेवकों को समुचित वेतन नहीं देते अतः यह युद्ध में उसका साथ नहीं देते हैं। यदि राजा के कर्मचारी लोभी होते हैं तो वे शत्रु द्वारा उपजापित हो जाते हैं। यदि राजा की प्रकृतियाँ उससे भिन्न होती हैं तो वे युद्ध के समय उसका परित्याग कर देते है। व्यसनग्रस्त राजा शीघ्र ही पराजित हो जाता है क्योंकि उसमें न तो लड़ने की क्षमता होती है और न ही अभिरूचि। अस्थिर-चित्त तथा अस्थिर-मंत्र राजा के मंत्री उसका साथ नहीं देते हैं तथा वे उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। दैव-ब्राह्मण-निन्दक राजा भी धर्मच्युत होने से विनष्ट हो जाता है। जिसका देश दुर्भिक्ष से पीड़ित होता है वह राजा अन्न के अभाव में शक्ति क्षीण हो जाता है। सेना के व्यसनग्रस्त होने पर राजा शक्तिहीन तथा युद्ध करने में सेना के व्यसनग्रस्त होने पर देव अर्थात् भाग्य का मारा हुआ राजा तो स्वयं ही मरा हुआ जैसा होता है। सम्पत्ति और विपत्ति देवाधीन हैं यह सोचने वाला निरूद्यमी होता है। अतः ऐसा राजा अपनी मृत्यु स्वयं ही बुलाता है। असमर्थ होता है। अदेशस्थ अर्थात् जिसकी सेना युद्ध योग्य भूमि में नहीं स्थित है, राजा छोटे शत्रु से भी उसी प्रकार पराजित हो जाता है जैसे जल में ग्राह बड़े-बड़े हाथियों को घसीट लेता है। बहुत से शत्रुओं वाला राजा सदा भयभीत रहता है। वह बाजों के बीच में फंसे कबूतर के

1. *एते विगृहयमाण हि क्षिप्र यान्ति रिपोर्वशम्।*

काम0 सर्ग 9, श्लोक 27 तथा हरिहर चतुरंग : 6/127

समान जिधर भी जाता है, उधर ही मारा जाता है। विपरीत समय होने पर (या असमयं में युद्ध करने वाला) राजा समय के फेर के कारण बली (या उचित समय में युद्ध करने वाले) राजा के द्वारा उसी प्रकार मारा जाता है जिस प्रकार रात्रि में उल्लू के द्वारा कौआ। सत्य और धर्म से रहित राजा के साथ तो सन्धि भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह सन्धि कर लिये जाने पर भी अपनी दुष्टता के कारण शीघ्र ही विपरीत भाव को प्राप्त हो जाता है।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों ने अपने से हीन, विपत्तिग्रस्त और सत्य-धर्मरहित राजाओं को सन्धि के योग्य नहीं माना। हीन राजा को जीत लेने के बाद ही उससे सन्धि कर शान्ति स्थापित करनी चाहिए, क्योंकि हमेशा युद्ध ही अच्छा नहीं होता। आधुनिक राजशास्त्रियों ने सन्धि के इस पक्ष का विवेचन नहीं किया है।

सन्धि के उपयुक्त अवसर—

वैदिक काल में तो सन्धि का स्वतंत्र महत्व था। दुर्बल राजा के प्रतिकार के दो ही साधन थे-या तो वह युद्ध करके मृत्यु का आलिंगन करे अथवा भूमि और धन देकर शत्रु राजा का आश्रय ग्रहण करे। ऐसी परिस्थिति में सामान्यत: दूसरा उपाय ही अपनाया जाता था।[2] प्राचीन भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों में यही विचार मिलता है कि जब राजा अपने को शत्रु की तुलना में निर्बल समझे, तब वह उससे सन्धि कर ले।

रामायण के अनुसार सन्धि और विग्रह, समय और परिस्थिति के अनुसार करने चाहिये।[3] जब किसी राजा की शक्ति क्षीण हो रही हो अथवा उसकी और शत्रु की शक्ति समान हो तब उसे सन्धि कर लेनी चाहिये।

भीष्म का मत है कि अपने बलाबल और देशकाल को ध्यान में रखकर शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिये।[4] राजा का पक्ष दुर्बल या समबल हो तब शत्रु के साथ अविलम्ब सन्धि करना ही उचित है।[5] ताकि शत्रु उसके छिद्रों अथवा हीनता का ज्ञान प्राप्त न कर सके। लोमश, नारद, कृपाचार्य तथा

---

1. *कामO सर्ग 9, श्लोक 28-42*
2. *ऋ0 2/12/8-9*
3. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 35, श्लोक 8*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 29*
5. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 131, श्लोक 5-8*

दुर्योधन भी ऐसा ही मत व्यक्त करते हैं।[1] शुक्राचार्य के अनुसार जब अपने और शुत्र पर एक सी ही विपत्ति आई हो तब शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिये।[2]

मनु के अनुसार जब विजिगीषु को यह विश्वास हो जाये कि भविष्य में वह शत्रु से अधिक बलशाली हो जायेगा और वर्तमान काल में वह शत्रु को अधिक हानि नहीं पहुँचा सकता तब उसे सन्धि कर लेनी चाहिये।[3]

कौटिल्य ने सन्धि के उपयुक्त अवसरों का उल्लेख करते हुये कहा है कि जब कोई राजा अपने को शत्रु की अपेक्षा दुर्बल समझे, या वह समझे कि पारस्परिक संघर्ष से दोनों ही पक्षों की समान हानि और समान लाभ होगा, अथवा उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन न होगा तो सन्धि कर लेनी चाहिये। यदि कोई शासक यह समझे कि शत्रु के कार्यो में बाधा उपस्थित कर सकेगा अथवा गूढ़ उपायों से शत्रु की प्रकृतियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकेगा या शत्रु-मण्डल में भेद उत्पन्न करके उसका विनाश कर सकता है तब उसे सन्धि नीति अपनानी चाहिये।

कौटिल्य उन परिस्थितियों में तो सन्धि करने का आदेश देते ही हैं जब विजिगीषु शत्रु की अपेक्षा निर्बल हो, साथ ही वह उस स्थिति में भी सन्धि करने के पक्षपाती है जब शत्रु से विग्रह करके अपने लाभ की संभावना न हो अथवा जब सन्धि करके वह शत्रु को किसी प्रकार नष्ट कर सकता हो।[4]

कामन्दक का मत है कि बलवान के साथ युद्ध करना चाहिये इसका तो कोई उदाहरण ही नहीं है।[5] सन्धि तो अनार्य राजा से भी कर लेनी चाहिये। जब सन्धि हो जाती है तो उसके अन्य शत्रु नष्ट हो जाते हैं तथा जो भी युद्ध में प्राप्त किया है उसे वह राजा प्रदान कर देता है। जिस प्रकार बासों

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 69/15-16, 136/184-85; सभापर्व : 5/15*
2. *शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधि वलीयसा। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 193*
3. *मनु0 अ0 7, श्लोक 169*
4. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 23, 27, 31, 33-35*
5. *बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।*

   प्रतिवातन्न हि घनः कदाचिदुपसर्पति।। *काम0 सर्ग 9, श्लोक 49*

का समूह बंध जाता है और कांटों से घिर जाता है तो उसको कोई काट नहीं सकता, उसी प्रकार अनार्य राजा से मिल जाने पर शत्रु विजिगीषु राजा को उखाड़ नहीं सकते।[1] जब राजा किसी दूसरे बलवान शत्रु राजा से आक्रान्त हो जाये और अपनी रक्षा का कोई उपाय न दिखलाई पड़े तो ऐसी अवस्था में विपदाग्रस्त राजा को समय व्यतीत करने के लिये सन्धि कर लेनी चाहिये।[2]

सोमदेव का कथन हे कि यदि कोई राजा अपने को शत्रु की अपेक्षा हीन-बल देखता है और समझता है कि शत्रु सन्धि की शर्तों का उल्लंघन नहीं करेगा तब उसे सन्धि कर लेनी चाहिये।[3]

सोमेश्वर का मत है कि जब शत्रु को अपने से अधिक एवं उच्चतर देखे और उससे पीड़ित हो तथा उसको जीतने में अपने को असमर्थ पाता हो तब उसे सन्धि कर लेनी चाहिये।[4]

शुक्र के अनुसार बलवान द्वारा आक्रमण किये जाने पर जब प्रतिकार का कोई उपाय न हो तब विपत्तिग्रस्त राजा को बलवान से सन्धि कर लेनी चाहिये।[5]

सन्धि का स्थायित्व—

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सन्धि के स्थायित्व के लिये प्रतिभू तथा प्रतिग्रह देने की प्रथा प्रचलित थी। सर्वविदित है कि कनिष्क के दरबार में चीन साम्राज्य के एक सामन्त राज्य के कुछ राजकुमार बन्धक स्वरूप रहते थे।

---

1. *सन्धिः कायोऽप्यनायेण सम्प्राप्योत्सादयोद्धि सः।*
   रेणुकायाः सुत इव मूलेष्वपि व तिष्ठति।।
   संघातवान्यथा वेणुर्निबिडः कण्टकैर्वृतः।
   न शक्यते समुच्छेत्तु थातृसड् घातवात्था।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 45,46*
2. *बलीयसाभियुक्तस्तु नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः।*
   आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम्।। — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 1*
3. *नीतिवाक्यामृत : समुद्देश 29, श्लोक 5*
4. *मानसोल्लास : 2/11/725-727*
5. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1070-1071*

कौटिल्य के अनुसार केवल सत्य और शपथ पर आश्रित सन्धि स्थायी नहीं रहती। इसके विपरीत जिस सन्धि के लिए प्रतिभू और प्रतिग्रह दिये जाते हैं वह स्थायी रहती है।[1] सम्भवतः इसीलिए उन्होंने चन्द्रगुप्त और सल्यूकस के मध्य की गयी सन्धि में काबुल, कन्धार, हिरात और विलोचिस्तान चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में मिलाने का आदेश दिया और सल्युकस के दूत मेगस्तनीज को उसके दरबार में रखा तथा स्वयं चन्द्रगुप्त से युद्ध की हाथियाँ सल्युकस को दिलवायीं।

प्राचीन भारत में भी सन्धि का उल्लंघन सम्भव था, किन्तु यह विशेष परिस्थिति में ही होता था। निर्बल राजा जब किसी शक्तिशाली राजा का आश्रय ग्रहण करता था, तब विवशतावश वह सन्धिकर लेता था, किन्तु शक्ति-सम्पन्न होने पर वह सन्धि तोड़ देता था।

वर्तमान विश्व के इतिहास में आज शक्तिशाली राष्ट्र स्वेच्छा से की गयी सन्धि को तोड़ देते हैं। प्रथम महायुद्ध से पूर्व जर्मन सम्राट ने सन्धि को केवल कागज का टुकड़ा माना था।

अविश्वास नीति—

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने शत्रु के साथ सन्धि करके भी उसका विश्वास न करने का आदेश दिया है। राजा शत्रु के साथ सन्धि करने के पश्चात सर्वथा निश्चित न बैठे। वह उस पर पूर्णतः विश्वास भी न करे वरन् सदैव चौकन्ना रहते हुए शत्रु की गतिविधि का पता लगाता रहे। राजा के लिये नितान्त आवश्यक है कि वह शत्रु के छिद्रों पर दृष्टि रखते हुए भविष्य में अपनी रक्षा एवं कल्याण हेतु सदैव प्रयत्नशील रहे। भीष्म कहते हैं कि बलवान व्यक्ति भी सन्धि करने के पश्चात् यदि अपनी रक्षा के प्रति सजग नहीं रहता है तो उसका यह मेलजोल खाये हुए अपथ्य अन्न की भाँति हितकर नहीं होता।[2]

आचार्य कणिक भी ऐसे निश्चेष्ट राजा की निन्दा करते हैं। उनके अनुसार शत्रु से सन्धि करने के पश्चात् सर्वथा निश्चित रहने वाला राजा उसी प्रकार धोखा खाता है, जैसे वृक्ष की शाखा पर सोया हुआ मनुष्य वृक्ष से गिरने के पश्चात् ही होश में आता है।[3] दुर्योधन उदाहरण प्रस्तुत करते

1. *सत्यं शपथो वा चलः सन्धिः। प्रतिभूः प्रतिग्रहो वा स्थावरः इत्याचार्याः।*

अर्थ० अधि० 7, अ० 17, वार्ता 3-4

2. *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 138, श्लोक 109*

3. *म० भा० आदिपर्व : 139/75, 138/37, 136/183-185, 104/27-30*

हैं कि इन्द्र ने नमुचि से कभी बैर न करने की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु जब वह विश्वस्त हो गया तब अवसर पाकर उसका सिर काट लिया।[1] वह इन्द्र और वृत्रासुर का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उन दोनों में इस पर सन्धि हो गयी थी कि वे परस्पर कभी द्रोह नहीं करेंगे फिर भी अवसर पाकर इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया था।[2] कामन्दक का विचार है कि बल-सम्पन्न शत्रु से सन्धि करके उसका विश्वास प्राप्त करे परन्तु साथ ही अपनी स्थिति दृढ़ करता रहे और अवसर पाकर शत्रु पर आक्रमण कर दे।[3]

इस प्रकार आचार्यो का मत है कि राजा सन्धि के पश्चात् कदापि उदासीन न रहे। वह अपनी वृद्धि की आकांक्षा हेतु निरन्तर प्रयास करता रहे और शत्रु की दुर्बलता पर भली-भाँति दृष्टि रखते हुये सुअवसर का लाभ उठाये।

विग्रह—

युद्ध और विग्रह-ये दोनों शब्द प्राय: समानार्थक समझे जाते हैं। किन्तु प्राचीन भारत की राजनीतिक शब्दावली में 'विग्रह' एक राजनीतिक उपाय है और युद्ध उसका परिणाम। युद्ध शब्द की अपेक्षा विग्रह शब्द का प्रयोग अर्वाचीन हैं। वैदिक साहित्य में विग्रह शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। वहाँ युद्ध शब्द ही बहुधा प्रयुक्त हुआ है।[4] युद्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि 'राजन्य का बल ही युद्ध है।'[5] स्पष्ट है, वैदिक युग में दो या अधिक राजाओं का एक दूसरे के प्रति बल-प्रदर्शन और बल-प्रयोग का कार्य युद्ध कहा जाता था। विग्रह का अर्थ उस स्थिति से है जिसमें दो राष्ट्रों में से कोई एक राष्ट्र मान्य सन्धियों का एकपक्षीय उल्लंघन प्रारम्भ कर देता है। आधुनिक शब्दावली में इसे दो राष्ट्रों की बीच राजनयिक सम्बन्धों के विच्छेद की स्थिति कहा जा सकता है।

---

1. *म0 भा0 सभापर्व : अ0 55, श्लोक 13*
2. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 54*
3. *काम0 सर्ग 9, श्लोक 65-67*
4. *ऋ0 10/54/2, 1/53/7, 1/59/1; तै0 ब्रा0 1/5/9/1 ; ऐ0 ब्रा0 3/39/1*
5. *युद्ध वे राजन्यस्य वीर्यम्। शत0 ब्रा0 6/5/1/13*

विग्रह शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ के विषय में धर्मशास्त्रियों में बड़ा मतभेद रहा है। संस्कृत में वि शब्द विशिष्ट तथा विकृत भावों के लिये ही नहीं प्रयुक्त होना वरन् विष्णु के वाहन गरूड़ के लिये भी प्रयुक्त होता है। संभवत: गरूड़ और सर्पो का युद्ध तथा गरूड़ द्वारा सर्पो का संहार इस भावना की पृष्ठभूमि रहा है। यदि इस भावना को स्वीकार किया जाये तो यह मानना होगा कि जिस प्रकार गरूड़ अपने पंजे से सर्पो को मारता है उसी भाँति विजिगीषु द्वारा शत्रु राजा को घेरना पीड़ित करना एवं नष्ट करना, सभी कार्य विग्रह होंगे। इस प्रकार के विग्रह के लिये विजिगीषु का शक्ति सम्पन्न होना अनिवार्य है।

परिभाषा एवं महत्व—

'विग्रह' शब्द महाकाव्यों में उपलब्ध है किन्तु उसे वहाँ परिभाषित नहीं किया गया है। सर्वप्रथम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'विग्रह' की परिभाषा मिलती है। उसने 'अपकार' को विग्रह की संज्ञा दी है।[1] डॉ. शाम शास्त्री ने 'अपकार' का अनुवाद 'औफेन्सिव ऑपरेशन' (क्षतिकर कार्य) किया है।[2]

मनु के अनुसार शत्रु-व्यसन का आभास पाकर उस पर समय-कुसमय आक्रमण करना अथवा किसी दूसरे राजा के द्वारा अपने मित्र पर किये गये आक्रमण से मित्र की रक्षा के लिये किया गया प्रयास विग्रह की श्रेणी में आता है।[3]

कामन्दक ने अधिक स्पष्टता के साथ विग्रह की परिभाषा करते हुये कहा है कि क्रोध धारण किये हुये, क्रोध से ही सन्तप्त-चित्त (दुर्भावना ग्रस्त) वाले दो व्यक्तियों का एक-दूसरे को हानि पहुँचाने का इरादा 'विग्रह' कहलाता है।[4]

शुक्र ने युद्ध और विग्रह को अलग-अलग परिभाषित किया है। उनके मत में "वह कर्म जिसके द्वारा शत्रु को विशेष कष्ट पहुँचाया जा सकेगा या उसे अपने अधीन बनाया जा सके, विग्रह

---

1. *आपकारो विग्रह:। अर्थ0 7/1; नीतिवाक्यामृतम : समुद्देश 29, श्लोक 31*
   विज्ञानेश्वर याज्ञ0 1/347 पर मिताक्षरा टीका।
2. *अर्थ0 (अंग्रेजी अनुवाद डॉ0 शामशास्त्री), पृ0 293*
3. *मनुस्मृति, अ0 7, श्लोक 160*
4. *अमषपगृहीतानां मन्युसन्तप्तचेतसाम्।*
   परस्परापकरोण पुंसा भवति विग्रह: ।। *काम0 सर्ग 10, श्लोक 1*

कहा जाता है"[1] किन्तु जब दो विभिन्न पक्ष परस्पर शत्रुता का भाव रखते हुये अपने-अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये संयमित होकर एक दूसरे के विरूद्ध शस्त्रादि का प्रयोग करते हैं तो उनका यह सशस्त्र कार्य युद्ध कहा जाता है।[2] एक अन्य स्थल पर वह कहते हैं कि शत्रु को चारों ओर से घेर कर पीड़ित करना विग्रह है तथा इससे भिन्न कार्य को कलह कहते हैं।[3] इस प्रकार शुक्र की दृष्टि से युद्ध और कलह विग्रह के भेदमात्र हैं।

सोमदेव ने विग्रह की व्याख्या करते हुये लिखा है कि जब राजाओं में परस्पर एक दूसरे के प्रति अपराधवश भिन्न-भिन्न प्रकार के विवाद प्रारम्भ हो जाते हैं, उसे विग्रह कहते हैं।[4]

आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं कि 'बैरं च विग्रह'[5] अर्थात् बैर बांधने को ही विग्रह कहते हैं। आगे वह लिखते है 'स्वार्थ मित्रार्थ वा युद्धाद्यपकारका च रणं विग्रहः'[6] अर्थात् अपने स्वार्थ के लिये अथवा मित्र के हित के लिये जो युद्धादि उपकार किये जाते हैं उसे विग्रह कहते हैं।

अभिधान चिन्तामणि में विग्रह के 17 पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुये युद्ध, संग्राम, कलह आदि को विग्रह घोषित किया गया है।[7]

सारांशतः विग्रह गुण के तात्पर्य हैं दो राजाओं में परस्पर बैर होना, जिसका परिणाम युद्ध होता है। विजिगीषु के समीपस्थ राज्य स्वाभावितक रूप से शत्रु होते हैं। इन्हीं शत्रु राजाओं से विग्रह उत्पन्न होता है तथा उसका परिणाम युद्ध होता है। युद्ध का अन्तिम निष्कर्ष अनिश्चित होता है। इसी

---

1. *विकर्षितः सन् वाडधानो भवेच्छत्रुस्तु येन वे।*
   कर्मणा विग्रहः .... ।। — *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 234*
2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 235*
3. *आविभूतोः शत्रु भावमभयोः संयतात्मनो।*
   अस्त्राद्यैः स्वार्थसिद्धयर्थ व्यापारो युद्ध मुच्यते।। — *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 219 एवं 220*
4. *नीतिवाक्यामृत : समुद्रेश 29, श्लोक 44*
5. *अर्हन्नीत : अ02 प्रक0 1, श्लोक 6*
6. *अर्हन्नीत : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 8*
7. *अभिधान चिन्तामणि : मर्त्यकाण्ड 3, श्लोक 796*

कारण समस्त आचार्य विग्रह से पहले सन्धि का आश्रय लेना उचित मानते हैं। उनके अनुसार यथासम्भव अन्य नीतियों से विग्रह रोकने का प्रयत्न करना चाहिये, तथा जब सभी नीतियाँ विफल हो जाँयें तभी अत में इस नीति को अपनाना चाहिये। इसी प्रयोजनार्थ विग्रह से पूर्व शत्रु के पास सन्धि का प्रस्ताव प्रेषित किया जाता था, उसके सम्मुख कुछ मांगे प्रस्तुत की जाती थीं और उनके अस्वीकार करने पर विग्रह नीति अपनायी जाती थी। महाकाव्यों के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। श्रीराम की ओर से हनुमान और अंगद विग्रह शमन करने के अभिप्राय से सन्धि का प्रस्ताव लेकर रावण के पास गये थे। इसी प्रकार कृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर कौरव सभा में गये थे, जहाँ उन्होंने धमार्थ बातों के माध्यम से विग्रह रोकने का प्रयास किया था।

कौटिल्य ने विग्रह नीति को मानव के विनाश का कारण माना है। उनके अनुसार विग्रह में स्त्री, सुहद, धन, जन सब एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। विग्रह सफल हो सकता है और असफल भी। इसीलिये राजा को प्रथम वेंत की वृत्ति अपनानी चाहिये सर्प की नहीं। वेंत की वृत्ति अपनाकर अनुकूल अवसर आने पर वह अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है, परन्तु सर्प वृत्ति मृत्यु का कारण सिद्ध हो सकती है। कामन्दक भी इसी नीति के समर्थक हैं। उनका कथन है कि विग्रह के परिणामस्वरूप, मित्र, धन, राज्य तथा अपना शरीर और कीर्ति भी संदिग्ध हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में विग्रह का औचित्य संदिग्ध होता है।

विग्रह की उपर्युक्त परिभाषाओं का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

(1) युद्ध दो राजाओं या राज्यों का परस्पर संघर्ष था जिसमें सभी प्रकार के बलों का प्रयोग होता था।

(2) दो राजाओं या राज्यों का पारस्परिक शत्रुतापूर्ण व्यवहार तथा एक दूसरे को क्षति पहुँचाने की भावना-इसके आवश्यक अंग थे।

(3) वह विशेष नियमों या नीतियों द्वारा नियन्त्रित होना चाहिये।

(4) परपक्ष को जीतकर उसे अपने अधिपत्य में लाने की इच्छा इसकी प्रेरक शक्ति थी।

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय आचार्यो द्वारा प्रस्तुत विग्रह की परिभाषाओं के मूलतत्व

प्राय: वे ही हैं जिन्हें पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। ओपेनहाइम परपक्ष को पराजित कर उस पर शान्ति स्थापित करने की मनचाही शर्तें थोपने के उद्देश्य से राज्यों के सशस्त्र संघर्ष को युद्ध कहते हैं।[1] हाल ने इस सन्दर्भ में हिंसा के प्रयोग को नियन्त्रित स्वीकार किया है।[2] लारेन्स ने 'विवाद और इरादा' (कन्टेस्ट एण्ड इन्टेशन)[3] ये दो विशेषतायें युद्ध के लिये अनिवार्य मानी हैं।

विग्रह के कारण—

'जीवों जीवस्यभषणम्' अर्थात् जीव जीव का भोजन है, यह प्रकृति का सामान्य सिद्धान्त है। प्रत्येक प्राणिमात्र को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये किसी न किसी रूप में संघर्ष करना ही पड़ता है किन्तु मानव समाज में ऐसे अनेक कारण अथवा परिस्थितियाँ सम्भव हैं जबकि युद्ध करना आवश्यक हो जाता है। वैदिक युग में पशु और भूमि प्राप्त करने के लिय युद्ध लड़ा जाता था। वैदिक आर्यो की कामना थी–'हम धनुष से शत्रु की गायों को जीतें, युद्ध में विजय प्राप्त करें, शत्रु की सेना को जीतें, शत्रु की इच्छाओं का मर्दन करें और धनुष से सभी प्रदेशों को जीतें।'[4]

महाभारत ने उन कारणों का विवेचन किया है जो राज्यों को विग्रह की नीति अपनाने के लिये बाध्य करते है। भीष्म के अनुसार बैर या शत्रुता पाँच कारणों से उत्पन्न होती है।

1. स्त्रियों के लिये, 2. वास्तु (भूमि) के निमित्त
3. कटोर वाणी के कारण 4. व्यक्तिगत द्वेष के कारण और
5. अपराध के कारण।[5]

कामन्दक ने अग्रलिखित 20 कारणों को विग्रहयोनि कहा है—[6]

---

1. *ओपेनहाइम : इण्टरनेशनल लॉ, (खण्ड-2), संस्करण-1952, पृ0 202*
2. *हॉल : इण्टरनेशनल लॉ, संस्करण-1924, पृ0 81*
3. *लारेन्स : प्रिंसिपुल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, संस्करण-1925, पृ0 309*
4. *ऋ0 6/75/2; तै0 स0 4/6/6/1*
5. *वैर पच्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिता:।*
   स्वीकृत वास्तुज वाग्जं ससापत्नापराजजम्।। *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 139, श्लोक 42*
6. *काम0 सर्ग 10, श्लोक 3-5*

1. राज्यापहरण	2. स्त्रीकरण
3. स्थानहरण	4. देशापहरण
5. थानापहरण	6. बलापहरण
7. मद	8. मान
9. वेषयिकी पीड़ा	10. ज्ञान का विनाश
11. अर्थविनाश	12. शक्ति विनाश
13. धर्मविषात	14. दैव
15. मित्रार्थ	16. अपमान
17. बन्धु विनाश	18. भूतानग्रह विच्छेद
19. मण्डलदूषण	20. एकार्धभिनिवेशित्वं

वास्तव में विग्रह के मूलत: दो प्रकार होते हैं—(1) कुलागत बैर तथा (2) कृतापराध से उत्पत्र बैर किन्तु बहुदन्ती के पुत्र ने विग्रह के चार कारण माने हैं—भूमि अपहरण, (2) शक्ति के विधात से, (3) सीमा विवाद तथा (4) मण्डलक्षोभ। कतिपय आचार्य विग्रह के पाँच कारण बताते हैं– (1) सापत्नता (2) वस्तु के निमित्त, (3) स्त्री के निमित्त, (4) वाग्जातम् तथा (5) अपराध से उत्पत्र।[1]

सोमेश्वर ने विग्रह के आठ कारणें का उल्लेख किया है[2]-(1) कामज (स्त्री निमित्त) (2) लोभज (धन अपहरणार्थ) (3) भूभव (भूमि अपहरणार्थ) (4) मानसंभव (मान की रक्षा हेतु) (5) अभयाख्य (शरणागत रक्षार्थ) (6) इष्टज (मित्र, बन्धु, भृत्य आदि के हेतु) (7) मदोत्थि (मदिरा अथवा विद्या, धन, यौवन से उत्पन्न मद और अविवेक के कारण (8) एक-द्रव्याभिलाषक (एक ही वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा के कारण)।

मनु ने विग्रह के कारणों का उल्लेख नहीं किया गया है परन्तु इसे द्विविध अवश्य कहा गया है – (1) स्वकृत तथा (2) मित्रस्यपकारें; अर्थात् जब कोई राजा स्वयं दूसरे राजा से विग्रह ठान लेता है अथवा अपने मित्र के प्रति किये गये अपकार का निवारण करने हेतु विग्रह नीति ग्रहण

---

1. *कामO सर्ग 10, श्लोक 16–19*

2. *मानसोल्लास : 2/12/734–742*

करता है।[1]

विग्रह शान्ति के उपाय—

कामन्दक ने विग्रह के उन्मूलन हेतु उपायों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार राज्य, स्त्री, स्थान और देशों के निमित्त जो विग्रह उपस्थित हुआ है उसकी शान्ति उसी वस्तु को शत्रु को लौटा देने से होती है। अर्थ, ज्ञान, शक्ति तथा धर्म विघात से उत्पन्न विग्रह भी इसी प्रकार के उपायों से अथवा उपेक्षा नीति का अवलम्बन करके शमन किया जा सकता है किन्तु जिसने देश ध्वंश किया हो उस शत्रु के देश को पीड़ित करने से वह विग्रह शांत होता है। जो सवारी आदि के हरण से विग्रह उपस्थित हो उसमें ली हुई वस्तु के लौटा देने में विग्रह शांत होता है अथवा सहनशीलता से शांत हो जाता है। अधार्मिक अथवा द्रोही मित्र के कारण विग्रह होने में तथा मित्र के साथ किसी ने बिगाड़ किया हो तो वह उपेक्षा से शांत हो जाता है, परन्तु बुद्धिमान मित्रवर्ग के साथ विग्रह उत्पत्र हो तो उसकी सहायता के लिए प्राण समर्पण कर देना ही उचित है। जो अपमान से विग्रह उपस्थित हुआ हो उसको मान देकर शान्त करे। जो विग्रह अभिमान से उत्पन्न हुआ हो उसको सामनीति अपनाकर अथवा शत्रु को सम्मान देकर समाप्त करना चाहिये। जो विग्रह बन्धु के नाश से उत्पन्न हुआ हो तो वह उपाय प्रयोग करे जिससे शत्रु को घोर पीड़ा प्राप्त हो अथवा गुप्त प्रयोग या अभिचार द्वारा विग्रह का अन्त कर देना चाहिये, और जब एक ही प्रयोजन अथवा एक ही वस्तु की प्राप्ति की इच्छा से विग्रह हुआ हो या युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाये तब उस प्रयोजन अथवा वस्तु का परित्याग कर देना चाहिये। जो धन के उपचार (अपहरण) से विग्रह उत्पन्न हुआ हो उसका विरोध न करने से वह विग्रह शांत हो जाता है। यदि अनेक शत्रुओं के साथ विग्रह उत्पत्र हो जाय तो साम, दाम, भेद नीति अपनाकर उसे शन्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। जो प्राणियों के अनुग्रह विच्छेद से विग्रह हुआ हो तो प्रिय वचन से उसको शांत करें और देव कोप से विग्रह उत्पन्न हुआ हो तो दैव की प्रसन्नता से उसे शांत करे। श्रेष्ठ पुरूषों द्वारा उत्पन्न विग्रह को भेद के द्वारा शांत करे, यही उचित नीति है

---

1. मनु0 अ0 7, श्लोक 164

अन्यथा अधिक विग्रह के कारण कभी-कभी राजाओं का सर्वनाश हो जाता है।[1]

विग्रह के योग्य तथा अयोग्य पक्ष—

रामायण एवं महाभारत में विग्रह के लिये उपयुक्त और अनुपयुक्त पक्षों का वर्णन किया गया है। हनुमान् का कथन है कि दुर्बल के साथ विरोध करके बलवान शत्रु चुप बैठा रहे, यह संभव है, परन्तु बलवान से बैर बांधकर दुर्बल पुरूष शान्तिपूर्वक नहीं बैठ सकता।[2] उन्होंने रावण की

---

1. *एतदेव तु विज्ञेयं स्वार्थधर्मविघातजे।*
विषयध्वंसजे शत्रोर्विषयप्रतिपीड़नम।।
यानापहारसम्भूते ज्ञानशक्तिविघातजे।
समस्तदर्थश्चहैड क्षोन्त्या चोपेक्षणेन च ।।
अधर्म द्रोहसंयुक्ते कमित्रजात उपेक्षणम्।
आत्मवान्मित्रवर्गे तु प्राणानपि परित्येजेत्।।
अपमानात्तु सम्भूत मानेन प्रशमं न्येत्।
सामपूर्व उपायो वा प्रणामों वाभिमनजे।।
विग्रह नाशयेद्वीरो बन्धुनाशसमुद्भवम्।
येन पीड़ा न जायेत तादृशं सुविचक्षण:।।
कुर्यादर्थपरित्यागमेकार्थाभिनिवेशजे।
धनापचारजाते तन्निरोधं न समाचरेत्।।
मदाचिद्विग्रह पुंसां सर्वनाशस्तु जायते।
महाजनसमुत्पन्न भेदेन प्रशमंन्येत्।।
भूतानुग्रहविच्छेदजाते तत्र वदेत्प्रियम्।
दैवमेव तु दैवोत्थे शमन। साधुसम्मतम्।।
कामO सर्ग 10, श्लोक 7 -14

2. *विगृहयासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयस:।*
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृहणीत दुर्बल:।। रामाO किष्किन्धाकाण्ड : अO 53, श्लोक 12

सामरिक शक्ति की माप–तौल तथा उसके बलाबल का विचार करके ही विग्रह नीति अपनायी थी।[1] माल्यवान ने भी रावण से ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार जब अपनी शक्ति शत्रु से अधिक हो तभी विग्रह नीति अपनानी चाहिये। अपने से अधिक या समशक्ति वाले से कभी विग्रह न करना चाहिये।[2]

महाभारत में भीष्म, बामदेव, कणिक आदि ने भी यही मत व्यक्त किया है कि जिसका मस्तक काटकर भूमि पर न गिरा सके उससे विग्रह कभी न करे।[3] भीष्म ने यथेष्ठ ही कहा है कि बलवान से विग्रह करके न राज्य ही प्राप्त हो सकता है और न सुख।[4] उनके अनुसार मित्र, सहायक, बन्धुरहित, प्रमादग्रस्त, दुर्बल शत्रु ही आक्रमण के योग्य है।

कौटिल्य ने भी दुर्बल शत्रु के साथ ही विग्रह करने का आदेश दिया है। उनके अनुसार अपनी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ विग्रह करने पर हीन–शक्ति राजा की वही दशा होती हे जो गजारोहियों के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुये पदातियों की और समबल के साथ विग्रह करने पर दोनों उसी प्रकार विनष्ट हो जाते हैं जैसे आपस में टकराकर कच्चे घड़े। अपनी अपेक्षा हीन–शक्ति के साथ विग्रह करने पर अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती है, जैसे पत्थर की चोट लगने पर घड़ा अवश्य ही टूट जाता है।[5]

सोमेश्वर भी यत्न, सहाय, सामर्थ्य, बल और मंत्र विहीन राजा के साथ विग्रह करने के समर्थक हैं।[6] इसी प्रकार कामन्दक शक्ति सम्पन्न शत्रु के साथ विग्रह न करने का परामर्श देते हैं।

विग्रह के उपयुक्त अवसर—

महाकाव्यों के अनुशीलन से विग्रह के उपयुक्त अवसरों की भी जानकारी प्राप्त होती है।

---

1. *रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 41, श्लोक /7*
2. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 35, श्लोक 9*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 60, अ0 94, श्लोक 21*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 2-6*
5. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 3, श्लोक 3-6*
6. *मानसोल्लास : 2/12/73*

रामायण के अनुसार जब शत्रु असावधान, रोगादि दैवी आपत्तियों से पीड़ित हो तो ऐसी परिस्थिति में किये गये पराक्रम के प्रयास सफल होते है।[1] महाभारत में कहा गया है कि राजा को तभी विग्रह करना चाहिये जब वह स्वयं शक्तिशाली हो, उसके सैनिक हष्ट-पुष्ट सन्तुष्ट हों, और समय उसके अनुकूल हो।[2] भीष्म का कथन है कि जब राजा के अस्त्र-शस्त्र युद्धोपयोगी हों, शत्रु व्यसनग्रस्त हो उस समय किया गया आक्रमण उपयोगी होता है। देश की अनुकूलता, समय अच्छा है कि बुरा, शत्रु पक्ष सबल है या निर्बल, सभी बातों पर सम्यक् विचार करके विग्रह नीति अपनानी चाहिये।[3]

मनु का विचार है कि जब राजा अपने को सैन्य-शक्ति के आधार पर पूर्णरूपेण सामर्थ्यवान् समझे तब उसे विग्रह की नीति अपनानी चाहिये और दुर्बल शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये।[4]

कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि जब राजा देखे कि शत्रु विपत्ति में उलझा हुआ है, उसकी सेनायें प्रजा को पीड़ित कर रही है और प्रजा राजा से विरक्त हो रही है तथा आपसी कलह के कारण उन्हें लोभ अथवा भेद के द्वारा वश में किया जा सकता है अथवा जब वह देखे कि अग्नि, जल, व्याधि, महामारी आदि दैवीय विपित्तियों के कारण शत्रु की शक्ति क्षीण हो गयी है और वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ है तो शत्रु से विग्रह की नीति अपनाकर शत्रु के विरूद्ध युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये। कौटिल्य का मत है कि शत्रु किसी व्यसन में न फंसा हो तो उसे किसी न किसी प्रकार के व्यसन में फंसा देना चाहिये और तदुपरान्त स्वयं अकेले अथवा समकांक्षी राजाओं के साथ मिलकर उसके विरूद्ध प्रकाश, कूट तथा तूष्णी तीनों प्रकार के युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये।[5]

आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं कि अपने अमात्य इत्यादि सब सन्तुष्ट हों और सेना सहित पूरी तरह

---

1. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 9, श्लोक 9*
2. *म0भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 2-6*
3. *म0भा0 शान्तिपर्व : अ0 138, श्लोक 33*
4. *यदा प्रकृष्आ मन्येत सर्वास्तु प्रकृतोर्भृशम।*
   अत्युच्छित तथात्मान तदा कुर्वीतविग्रहम।। *मनु0 अ0 7, श्लोक 170*
5. *प्रो. इन्द्र : कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ0 181-183*

स्वयं संतुष्ट हो, तो शत्रु के साथ विग्रह करे।[1] शत्रु की सेना को नुकसान, मानहानि अथवा पराजय करवाने के लिये और उत्साह, शक्ति बल, सैन्य पुष्टि एवं तेजबल की वृद्धि का अवसर हो तो शत्रु से विग्रह करे।[2]

कामन्दक उन परिस्थितियों का भी उल्लेख करते हैं जब विग्रह नीति न अपनाना ही श्रेयस्कर होता है। सामान्यतः विग्रह गुण का आश्रय लेने के सिद्धान्त का कामन्दक ने विरोध किया है क्योंकि उन्होंने विग्रह को विवशता का साधन माना है। विग्रह का निषेध करते हुये उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है–'विग्रह से भय, व्यय आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये विग्रह गुण का आश्रय नहीं लेना चाहिये क्योंकि विग्रह करने पर पराजय की स्थिति में अपना शरीर बल, सुदृढ़ वर्ग और धन एक निमिष में पराये जो जाते हैं और वह बारम्बार व्याकुल होते हैं। इसीलिये बुद्धिमान पुरूष को विग्रह नहीं करना चाहिये। उनका मत है कि अपने सुदृढ़, अपना धन, राज्य, आत्मा और यश ये सभी कुछ तराजू में तोले जाते हैं किधर भारी हो जाये किसी को ज्ञात नहीं। ऐसी परिस्थिति में युद्ध करने की मूर्खता किसी को भी नहीं करनी चाहिये।[3] कामन्दक के मतानुसार व्यसनग्रस्त राजा पर आक्रमण किया जा सकता है, परन्तु यह आक्रमण उस समय होना चाहिये, जबकि आक्रमण के लिये उत्सुक राजा का पराक्रम बढ़ा–चढ़ा हो।" जब बुद्धिमान राजा अपने बल को हृष्ट–पुष्ट देखे

---

1. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 10*

2. *विपक्षपक्षदललनांत्साह भृत्यर्ज्जिलं बलं।*

   पुष्टं प्रकृष्टं कजानीयादरिं यातात्सदा नृपः।। अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 11

3. *क्षयव्ययायासवधादिदोषं व्यपेक्षयावेक्षितसाधुकृत्यः।*

   कामात्तुपीडामपिकाच्चिदिच्छेन्न विग्रहं तत्प्रभवा हि दोषाः।।

   आत्मा बलं वा सुहदो धनानि वृाि भवन्तीह निमेषमात्रात्।

   मुहुर्मुश्चाकुलितानितानि तस्मान्नविद्वान्नतिविगही स्यात।।

   काम0 सर्ग 9, श्लोक 73–74

और शत्रु के बल को इसके विपरीत देखे तब विग्रह गुण का आश्रय लेना उचित होगा।[1]

विग्रह के अनुपयुक्त विषय—

कामन्दक ने सोलह प्रकार के विग्रह का निषेध किया है। 'जिस विग्रह से अल्पफल की प्राप्ति हो, जिस विग्रह से कुछ भी फल प्राप्त न हो, जिस विग्रह में फल संदिग्ध हो संदिग्ध फल की प्राप्ति होने में वर्तमान काल में दोष को प्रकट करने वाला विग्रह हो, शत्रु के बल वीर्य के अज्ञात होने वाले, दुष्ट के बहकाने से होने वाले, दूसरे के निमित्त किये जाने वाले, स्त्री के निमित्त होने वाले, ब्राह्मणों से बैर रखने पर, अकाल में होने वाले, देवयुक्त होने से, बल से मित्र को उच्छिन्न करने वाले, वर्तमान काल में फल की प्राप्ति न देखने से आगामी काल में फल की प्राप्ति होने वाले और वर्तमान काल में निष्फल होने वाले उपर्युक्त विषय कामन्दक के मतानुसार विग्रह के लिये अनुपयुक्त हैं। ये सोलह प्रकार के विग्रह नहीं करने चाहिये।[2]

मान्य विग्रह—

कामन्दक का मत है कि जो वर्तमान और आगामिक काल में शुद्ध हों ऐसे विग्रह बुद्धिमान राजा को करने उचित हैं। वर्तमान और आगामी काल में शुद्ध फल देने वाले सब कार्यो का आरम्भ करे। जो श्रेष्ठ और दोनों लोकों का हितकारी कर्म हो उसी को आरम्भ करना चाहिये और अर्थ के लोभी बनकर केवल इसी लोक के उपयोगी कर्मो को राजा न करे तथा परलोक के विरूद्ध कर्मो के करने वाले को दूर से ही त्याग दे, इस प्रकार शास्त्र के प्रमाणानुसार साधु कल्याणकारी कर्म करे।

---

1. *सुहृद्धनं तथा राज्यमात्मानं कीतिर्त्तमेव च।*
   युधि सन्देहदोलास्थंकोहि कुर्यादबालिशः।। कामO सर्ग 9, श्लोक 75
   आत्मनोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीडयमानः परेण वा।
   देशकालबलोपेतः प्रारभेत हि विग्रहम्।।
   यदा मन्येत मतिमान्हष्टपुष्टं स्वकं बलम्।
   परस्य विपरीतचं तदा विग्रहमाचरेत्।। कामO सर्ग 10, श्लोक 2-26
2. *इतीमं षोडशविधं न कुर्यादेव विग्रहम्।*
   तदात्वायतिसंशुद्धमारभेत विचरक्षणः।। कामO सर्ग 10, श्लोक 22

जब बुद्धिमान राजा अपनी सेना का हृस्ट-पुष्ट देखे और शत्रु को विपत्ति में पड़ा देखे तथा जब राजा का अपना प्रकृति मण्डल भरा पूरा एवं अनुरक्त हो तथा शत्रु का पक्ष इसके विपरीत हो तब विग्रह करना उचित एवं सार्थक है।[1]

विग्रह फल—

कामन्दक ने विग्रह के तीन फल बतलाये हैं। ये तीन फल इस प्रकार हैं-भूमि, मित्र एवं सुवर्ण। जब विग्रह करके ऐसे फल प्राप्ति की पूर्ण संभावना हो तो ऐसी दशा में विग्रह करना ही उचित होगा। संसार में धन की अपेक्षा मित्र का स्थान प्रथम हैं। भूमि-लाभ, मित्र-लाभ से भी श्रेष्ठ होता है। भूमि से गौरव और गौरव से बन्धु एवं सुहृदयगण का लाभ श्रेष्ठ होता है।[2]

विग्रह हेतु दुःसाध्य शत्रु—

कामन्दक ने शत्रु के उन गुणों का उल्लेख किया है जिन गुणों वाले शत्रु को वश में करना कठिन होता है। उत्तम कुल में उत्पन्न सत्य, उदार, विग्रहयुक्त, स्थिरमति, कृतज्ञ, बुद्धिमान, प्रभावशाली, अतिदानी आदि ऐसे गुण वाले शत्रु की बड़ी कठिनाई से वशीभूत किया जाता है। कामन्दक के मतानुसार इन गुणों से सम्पन्न शत्रु दुर्जय होता है।

---

1. *तदात्वायातिशुद्धानि सर्वकर्म्माणि चिन्तयेत्।*
   तदात्वायतेसंशुद्धमातिष्ठन्नेव वाच्यताम्।।
   साधु लोकद्वयग्राहि विद्वान् कर्म समाचरेत्।
   परित्यजेदमुं लोंक नार्थलेशेपलोभितः ।।
   स्फीतं चाप्यनुरक्तच्च यदा प्रकृतिमण्डलम्।
   परस्य विपरीतच्च तदा विग्रहमाचरेत्।। *काम० सर्ग 10, श्लोक 23, 24, 27 एवं 25-26*
2. *भूमिमित्रं हिरण्यच्च विग्रहच्च फलं त्रयम्।*
   यदेतन्नियतं भवि तदा विग्रहमाचरेत्।।
   गूय क्तिं ततो मित्रं तस्माद्भूमिर्गरीयसी।
   भूमोविभूतयः सर्वास्ताभ्यो बन्धुसुहृद्रणाः।। *काम० सर्ग 10, श्लोक 28-29*
3. *काम० सर्ग 10, श्लोक 38*

आसन—

यह सुनिश्चित है कि विग्रह नीति अपनाने का परिणाम युद्ध होता है। विजिगीषु राजा शत्रु पर आक्रमण करता है जिसे षाड्गुण्य के अन्तर्गत यान कहा जाता है। परन्तु यान से पूर्व भी एक स्थिति होती है जिसे प्राचीन आचार्यों ने आसन कहा है। आसन से तात्पर्य है शत्रु की उपेक्षा कर शान्त बने रहना तथा समुचित तैयारी करना। वस्तुतः आसन उस स्थिति का द्योतक है जब दोनों शत्रु अपनी-अपनी सीमा के अन्दर पूर्णतः सन्नद्ध होकर युद्ध के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। इसकी तुलना किसी अंश में आधुनिक समय के शीत-युद्ध से की जा सकती है।

आसन वह स्थिति है जब दोनों ही राष्ट्र शक्ति सम्पन्न होते हैं-न शत्रु विजिगीषु को हानि पहुँचा सकता है और न विजिगीषु शत्रु को।[1] दोनों ही आक्रमण करना नहीं चाहते लेकिन अपनी-अपनी रक्षा हेतु सम्पूर्ण तौर पर तैयार रहते हैं। यह नीति राजा तभी ग्रहण करता है जब वह अपनी रक्षा का उचित प्रबन्ध कर लेता है और शत्रु को पराजित करने की सामर्थ्य रखता है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि राजा अपने को इतना अधिक शक्तिशाली नहीं समझता कि वह आक्रमण नीति अपना सके परन्तु अपनी रक्षा के लिये समर्थ होता है।

परिभाषा—

कौटिल्य का विचार है कि युद्ध की प्रतीक्षा में शान्त बैठे रहना आसन कहलाता है। उनके अनुसार आसन का अर्थ है उपेक्षा।[2] यद्यपि उन्होंने आसन को स्थान और उपेक्षण का पर्यायवाची माना है[3] तथापि उनके अर्थों में वह भिन्नता भी मानते हैं। जब शत्रु के द्वारा अपकार किये जाने पर भी उसका बदला न लिया जा सके, ऐसी स्थिति में अपनी सीमा पर डटे रहने को 'स्थान' कहते हैं। परन्तु अपनी उन्नति या वृद्धि के लिये जब इस गुण (नीति) का अवलम्बन किया जाता है तब इसे आसन कहा जाता है।

कामन्दक के अनुसार जब परस्पर समान हानि करने में समर्थ दो शत्रु राजा आपस में युद्ध

---

1. *न मा परो नाहं परमुपहन्तुं शक्त हत्यासीत।अर्थ0 अधि0 7, अ01, वार्ता 7*
2. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 8*
3. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 4, वार्ता 2*

नहीं करके परस्पर शान्त बैठे रहते हैं, तब उनकी इस नीति को आसन कहते हैं।[1]

रामायण में हनुमान् ने राम से लंका की रक्षा व्यवस्था का जो वर्णन किया है वह संभवत: आसन नीति का ही परिचायक है। सुवेल पर्वत पर राम की सेना की स्थिति भी आसन नीति का द्योतक है।

आचार्य हेमचन्द्र उपेक्षा करने का नाम ही आसन कहते हैं।[2] चण्डेश्वर ने भी शत्रु की उपेक्षा करना आसन माना है।[3]

मनुस्मृति के भाष्यकर कुल्लूक भटट् ने आसन का अर्थ नेरपेक्ष्य अर्थात सन्धि आदि गुणों की उपेक्षा न करने की स्थिति माना है।[4]

विज्ञानेश्वर ने "आसनमुपेक्षा"[5] कह कर कौटिल्य के "आसनमुपेक्षणम्" शब्द के साथ अपनी सहमति व्यक्त की है। सोमदेव ने कौटिल्य के ही शब्दों का प्रयोग किया है।[6]

अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी के अनुसार विग्रह से निवृत्ति "आसन" है।[7]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि युद्ध छिड़ जाने पर अपने ही देश में बैठे रहना आसन है।[8]

शुक्र ने उपर्युक्त अर्थो से भिन्न आसन की एक निराली ही परिभाषा दी है। उनके अनुसार आसन का अर्थ शत्रु के प्रति युद्ध का अभाव नहीं है। यह शत्रु के प्रति उपेक्षा, निष्क्रियता, तटस्थता, निरपेक्षता अथवा शांति की नीति भी नहीं हे, अपितु उनके अनुसार आसन की नीति शत्रु की ऐसी प्रभावशाली एवं उत्पीड़क सैनिक घेराबन्दी है, जो स्वयं की रक्षा करते हुये शत्रु को अपनी शर्तो पर

---

1. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 13*
2. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 10-11*
3. *उपेक्षणमासनम्- राजनीतिरत्नाकर : साधारणपालनादि राजकृत्यम्, पृ0 108*
4. *सन्ध्यादिगुणानां नेरपेक्ष्येण। मनु0 7/161 पर कुल्लूक भट्ट की टीका।*
5. *याज्ञ0 1/347 पर मिताक्षरा टीका।*
6. *नीतिवाक्यामृत : समुद्देश 29, श्लोक 41*
7. *विग्रहयादि निवृत्ति:। अमरकोश पर क्षीरस्वामी की टीका।*
8. *विग्रहे पि स्वके देशे स्थितिरासनमुच्चयते। विष्णुधर्मो0 2/150/3-5*

समर्पण करने को बाध्य करे। शुक्र ने आसन को परिभाषित करते हुये कहा है, "(राजा का) किसी स्थान पर स्थित होकर अपनी रक्षा करना और शत्रु का नाश करना आसन है।"[1] अन्यत्र कहा है,' "जब राजा सेना सहित ऐसे स्थानों पर स्थित हो जाये, जहाँ से यंत्रयुक्त अस्त्रों (तोप आदि) द्वारा शत्रु का भेदन किया जा सके, तब उसकी इस स्थिति को आसन कहते हैं।"[2]

इस प्रकार आसन की परिभाषा के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि आसन नीति के उद्देश्य में प्राय: सभी विद्वान एक मत दिखायी देते हैं और वह उद्देश्य है "शत्रु के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रखते हुये अन्य क्षेत्रों में प्रयत्न कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना तथा शत्रु की हीन स्थिति उत्पन्न करने का निरन्तर प्रयास करना।" प्राचीन भारतीयों की आसन नीति का एक उद्देश्य ओपेनहाइम और लॉरेन्स द्वारा प्रतिपादित तटस्थता के सिद्धान्तों से सर्वथा विपरीत है। फिर भी डॉ. हीरा लाल चटर्जी, डॉ. आर. के. मुखर्जी आदि विद्वान कुल्लूक भट्ट के मत का अनुसरण करते हुये आसन को निरपेक्षता अथवा तटथता का ही पर्याय मानते हैं।[3] इस मत के विरूद्ध हमारी दो आपत्तियाँ हैं–प्रथम, कुल्लूक भट्ट का मत प्राचीन भारतीय विद्वानों के बहुमत के विरूद्ध है। द्वितीय, "उपेक्षा" शब्द का अर्थ जो आज ग्रहण किया जाता है, वही अर्थ कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त "उपेक्षा" शब्द का भी ग्रहण करना आसन नीति के उद्देश्य के प्रतिकूल होगा। अत: हमारे विचार से उपेक्षा का प्राचीन अर्थ "उप+ईक्षा"[4] अर्थात् समीप से देखना उचित है। उपेक्षा शब्द के इस अर्थ की संगति आसन नीति के उद्देश्य के साथ भली-भाँति लग जाती है। अत: हमारी दृष्टि में आसन को तटस्थता का पर्याय नहीं माना जा सकता।

आसन के भेद–

मनु ने आसन नीति के दो भेद किये हैं–(1) सेना, कोष आदि के क्षीण हो जाने पर या समृद्ध बने रहने पर भी शत्रु राजा के विरूद्ध उपेक्षा की नीति अपनाना अथवा उसका घेरा डालकर

---

1. *स्वरक्षणम् शत्रुनाशो भवेत् स्थानात्तदासनम्।* *शुक्र0 4/1168-1169*

2. *यन्त्रास्त्रे: शत्रुसेनाया मदो भैभ्य: प्रजायते।।*

स्थलेभ्यस्तेषु सन्तिष्ठेत् ससैन्यो श्वासन हि तत्। *शुक्र 4/1116-1117*

3. *डॉ. हीराला चटर्जी-इण्टरनेशनल लॉ एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन इन एशिरण्ट इण्डिया, पृ0 130*

4. *निरूक्त 1/1*

पड़े रहना तथा (2) मित्र के अनुरोध से शत्रु राजा को घेरे पड़े रहना।[1]

कौटिल्य ने आसन के दो भेद माने हैं-विग्रह आसन और संघाय आसन। इनका तात्पर्य है विग्रह करने के पश्चात् अथवा सन्धि करके आसन नीति का अवलम्बन करना।[2]

कामन्दक के मतानुसार आसन के पाँच भेद हैं–

1. **विग्रह्यासन–**

कामन्दक के अनुसार विग्रह्यासन में दो राजा एक-दूसरे के विरूद्ध आक्रमण हेतु स्थित होते हैं अथवा शत्रु से विग्रह कर मौन बैठ रहना विगृह्यासन है।[3]

कौटिल्य का मत है कि जब शत्रु और विजयेच्छुक राजा दोनों ही संधि करने की इच्छा रखते हों और वह परस्पर एक दूसरे के नष्ट कर देने की शक्ति न रखते हों तथा कुछ काल तक युद्ध करके चुप बैठ जाते हैं तो इस प्रकार के आसन को विगृह्यासन कहते हैं।[4]

2. **सन्धायासन–**

कामन्दक का विचार है कि जब शत्रु और विजिगीषु दोनों राजा युद्ध में हीन हो जायें तथा संधि करके चुप होकर दोनों बैठे रहें तो उसे संधायासन कहते हैं। जिस प्रकार शत्रु को दारूण दुःख देने वाले रावण ने निवातकवचों से युद्ध किया फिर ब्रह्मा जी को बीच में कर संधायासन की स्थिति में बैठा रहा।[5]

कौटिल्य का मत है कि जब शत्रु और विजयेच्छुक राजा दोनों ही सन्धि करके चुप बैठते

---

1. *मनु0 अ0 7, श्लोक 166*
2. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 4, वार्ता 6*
3. *अन्योन्याक्रान्तिकरणं निगृहयासनमुच्यते।*
   अरिं विगृहयावस्थानं विगृहयासनमुच्यते।।   *काम0 सर्ग 11, श्लोक 14*
4. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 4, श्लोक-7*
5. *अरेश्च विजिगीषोश्च विग्रहे हीयमानयोः।*
   सन्ध्याय यदवस्थानं सन्धयासनमुच्यते।।
   निवातकवचैः साद्ध रावणः शत्रुरावणः।
   ब्रह्माणमन्तरा कृत्वा सन्धायासनमास्थितः ।।   *काम0 सर्ग 11, श्लोक 17-18*

हैं तो ऐसी स्थिति को संधाय आसन कहा गया है।[1]

3. **सम्भूयासन—**

कामन्दक का मत है कि जब विजिगीषु तथा शत्रु राजा यह समझ लें कि उदासीन तथा मध्यम वृत्ति वाले राज्य हमारे युद्ध से लाभ उठाकर हम दोनों को ही नष्ट करना चाहते हैं तो दोनों ही मिलकर संधि कर शांत बैठ जायें, इस स्थिति को सम्भूय आसन कहते हैं। कामन्दक कहते हैं कि जब विजिगीषु तथा शत्रु दोनों ही राज्य युद्ध के लिये तत्पर तथा शक्तिशाली हो ऐसी स्थिति में बुद्धिमान राजा को संधिकर शांत हो जाने को भी सम्भूयासन कहते हैं।[2]

4. **प्रसंगासन—**

अन्य स्थान को युद्ध हेतु गमन की इच्छा से अन्यत्र स्थान पर युद्ध हेतु गमन कर चुप बैठे रहना प्रसंगासन कहलाता है।[3]

5. **उपेक्षासन—**

कामन्दक का मत है कि जो शत्रु को अधिक बलवान जानकर उसके बल के कारण उपेक्षा करके शांत हो बैठा रहता है उसको उपेक्षासन कहते हैं, जैसे जब श्रीकृष्ण ने सत्यभामा के निमित्त स्वर्ग से कल्पवृक्ष हरण किया तब इन्द्र ने श्रीकृष्ण के अधिक बल को जानकर उसके साथ युद्ध न किया, उपेक्षा कर बैठा रहा। जिस प्रकार कृष्ण से युद्ध करने के उपरान्त राजा रूक्मी को जब

---

1. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 4, श्लोक 9*
2. *उदासीने मध्यमे च समानप्रतिशकंया।*
   एकीभूय समुत्थनं सम्भूयासनमुच्यते।।
   उभयार्यदि वाच्छेत विनाशमुभयोरपि।
   सम्भूयेन प्रतिव्यूहेदधिक तत्वधर्मणा।।   काम0 सर्ग 11, श्लोक 19-20
3. *यियासोरन्यमन्यत्र प्रसंगनेह केनचित्।*
   आसनं यत्तदक्षज्ञः प्रसंगसनमुच्यते।।   काम0 सर्ग 11 श्लोक 21

किसी ने सहायता न दी तब वह उपेक्षा कर बैठा रहा। इसे उपेक्षासन कहते हैं।[1]

सोमेश्वर अवसर एवं स्थिति के अनुसार उपेक्षासन के दस भेदों का उल्लेख करते हैं, जो इस प्रकार हैं—[2]

(अ) स्वस्थासन—

शत्रु के निष्कण्टक राज्य तथा बैरिमण्डल को संहत देखकर अपने स्थान पर ही स्थित रहना।

(ब) उपेक्ष्यासन—

यह समझ कर कि दैवी प्रकोप, व्यसन, दुर्भिक्ष आदि से शत्रु स्वत: विनष्ट हो जायेगा अपने स्थान पर स्थित रहना।

(स) मार्गरोधासन—

बड़े वेग से प्रवाहित होने वाली नदी द्वारा मार्ग अवरूद्ध हो जाने के कारण उस स्थान पर स्थित रहना।

(द) दुर्गसाध्यासन—

दुर्ग को विजित करने के उद्देश्य से उसके उपांत प्रदेश में स्थित रहना।

(य) राष्ट्रस्वीकरणासन—

बलपूर्वक विजित किये हुये राज्य में उसको वशीभूत करने के अभिप्राय से वहाँ स्थित रहना।

---

1. *आस्ते प्रेक्ष्यारिमधिकमुपेक्षासनमुच्यते।*
   उपेक्षा कृतवानिन्द्र: परिजातग्रहं प्रति।।
   उपेक्षितस्य चान्यैस्तु कारणेनह केन चित्।
   आसनं रूक्मिण इप तदुपेक्षासनं स्मृतम्।। *काम0 सर्ग 11, श्लोक 22-23*

2. *मानसोल्लास : 2/14/930-948*
   वी.आर.आर. दीक्षितार : वार इन ऐन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 318

(र) रमणीयासन—

युद्धस्थल में शत्रु का बध कर उसके देश के रमणीय स्थान पर-जहां यवस, ईंधन, जल, धान्य आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों-स्वेच्छा से निवास करना।

(ल) निकटासन—

दूरस्थ शत्रु का विनाश करने के लिये उद्यत राजा का उसके समीप जाकर स्थित हो जाना।

(व) दूरमार्गासन—

दूरस्थ देश में जाकर अपना कार्य समाप्त करने के पश्चात् अपने देश के दूर होने के कारण बीच में ही कहीं उचित स्थान पर वर्षाकाल से शरत्काल आने तक स्थित रहना।

(स) प्रलोभासन—

अन्य राजा द्वारा भूमि, दुर्ग, सेना या धन आदि देने के आश्वासन पर किसी स्थान पर ठहरे रहना।

(ह) पराधीनासन—

स्नेह अथवा बैर भाव के कारण स्वदेश को न जाकर किसी अन्य पर स्थित रहना।

आसन नीति अवलम्बन की परिस्थितियाँ—

मनु के अनुसार जब राजा अपनी सेना एवं वाहन से क्षीण हो जाये, तब धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करता हुआ आसन गुण को ग्रहण करे।[1]

शुक्र का विचार है कि शत्रु के बलवान होने की स्थिति में राजा को यत्नपूर्वक आत्मरक्षा करनी चाहिये और युद्ध का मार्ग नहीं अपनाना चाहिये। उसे इस कार्य के निमित्त यथासंभव आसन नीति का ही अनुसरण करना चहिये।[2]

कौटिल्य का मत है कि जब राजा यह समझे कि मेरी और शत्रु की शक्ति लगभग एक समान है तो राजा को चाहिये कि वह बुद्धि और विवेक से काम ले और धैर्यपूर्वक चुपचाप बैठा रहे

---

1. *मनु0 7/172 तथा उस पर भाष्य।*

2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1077*

तथा आसन नीति का अवलम्बन कर अपनी शक्ति को संचित तथा सम्बर्न्द्धित करे। यदि राजा अपने आपको असहाय अनुभव करे तो उसे सबल दुर्ग में रहना चाहिये और यदि राजा यह अनुभव करे कि मैं साम, दाम, भेद की नीति का अनुसरण कर शत्रु को जन-धन की हानि पहुँचा दूंगा तो उसे यान नीति और मंत्र युद्ध का अनुसरण करना चाहिये। बलवान राजा के साथ संधि करना ही कौटिल्य के अनुसार उचित हैं। इसी प्रकार की व्याख्या कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकार देवदत्त शास्त्री ने भी की है।[1]

कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जब विग्रह आसन नीति अपनानी चहिये। उनके पूर्ववर्ती आचार्यो का विचार था कि जब विजिगीषु अपने देश की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर चुका हो, स्वबल तथा मित्र और आटविक सेना की सहायता से शत्रु को पराजित करने की सामर्थ्य रखता हो, एवं उसकी अमात्यादि प्रकृतियाँ उत्साहयुक्त, संहत तथा उन्नतिशील हों, वह अपने कार्य निर्विध्नपूर्ण करने की स्थिति में हो, अर्थव्यवस्था सम्पन्न हो, और इसके विपरीत, शत्रु की प्रकृतियाँ अपने राजा से तिरस्कृत, क्षीण, लुब्ध एवं स्वतः अथवा उपजाप के द्वारा विजिगीषु के अनुकूल हों, उसकी अर्थव्यवस्था क्षीण हो तथा उसकी प्रजा पीड़ित होकर विजिगीषु का आश्रय ग्रहण करना चाहती हो तब उसे शत्रु को हानि पहुँचाने तथा अपने ऐश्वर्य और प्रताप को प्रकट करने के ध्येय से युद्ध की घोषणा करने के पश्चात् विग्रह-आसन नीति को अपनाना चाहिये। परन्तु कौटिल्य इस विचार से सहमत नहीं है। उनके अनुसार इस नीति का अभिप्राय है शत्रु की शक्ति क्षीण करना और अपनी शक्ति दृढ़ करना। अतः जब भेद नीति द्वारा शत्रु पक्ष में विघटन प्रारम्भ हो जाय और अपनी शक्ति दृढ़ हो जाय तब उसे आसन नीति का परित्याग करके शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिये। उनका कथन है कि जब राजा पूर्णतः शक्तिसम्पन्न हो तभी उसे युद्ध की घोषणा करके आसन नीति का अवलम्बन करना चाहिये, परन्तु जब ऐसा प्रतीत हो कि युद्ध की घोषणा करने के पश्चात् विग्रह-आसन नीति सफल नहीं हो सकती तब उसे संघाय-आसन नीति का ही आश्रय लेना चाहिये।[2]

---

1. *देवदत्त शास्त्री : कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ0 453-455*

2. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 4, श्लोक 8-27*

यान—

प्राचीन भारतीय आचार्य विग्रह एवं आसन की स्थिति के पश्चात् अपनी शक्ति के महत्व को तौलने के बाद युद्ध के लिये यान करने की मंत्रणा देते हैं। प्राचीन भारतीय आचार्यो ने युद्धार्थ सेना के प्रस्थान का अर्थ यान माना है। वृहस्पति ने 'यान' के स्थान पर 'निर्गम' शब्द का प्रयोग किया है।[1] जब विग्रह की नीति अपनाने के बावजूद शत्रु से अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती है, तब उसके विरूद्ध यान की नीति अपनायी जाती है। यान का सामान्य अर्थ शत्रु पर सैनिक आक्रमण करना है।

परिभाषा—

कौटिल्य का मत है कि शक्ति आदि का अत्याधिक हो जाना ही, यान का हेतु होने से, यान कहलाता है।[2] जब विजिगीषु राजा ऐसा समझ लेता है कि शत्रु के कार्यो का नाश उस पर आक्रमण करके ही हो सकता है और स्वयं अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लिया है तो ऐसी परिस्थिति में उस राजा को यान गुण का आश्रय लेना उचित होगा।[3]

सोमदेव सूरि के अनुसार अभ्युदय हेतु एक राजा के दूसरे राजा पर आक्रमण को यान कहते हैं।[4]

कामन्दक के मतानुसार बलवीर्य में उत्कृष्ट, विजयाभिलाषी, जयशील, प्रकृति के गुणों के अनुरक्त राजा की यात्रा (शत्रुजय हेतु सैनिक कूच) को यान कहा जाता है।[5]

शुक्र ने यान को परिभाषित करते हुये कहा है कि अपनी अभीष्ट-सिद्धि (इच्छित फल प्राप्ति) हेतु किसी शत्रु के नाश के लिये चढ़ाई को यान कहते हैं।[6]

हेमचन्द्र लिखते हैं कि "शत्रु सन्मुख गमनं यान"[7] अर्थात् शत्रु के सन्मुख युद्ध क्षेत्र में

---

1. *डॉ. राघवेन्द्र वाजपेयी : वार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था, पृ0 233*
2. *उदरवीर शास्त्री : कौटलीय अर्थशास्त्र, (द्वितीय भाग), पृ0 229*
3. *अर्थ0 7/1*
4. *नीतिवाक्यामृत : समुद्देश 29, श्लोक 40*
5. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 1*
6. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1068*
7. अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 6

जाना यान कहलाता है। वह पुनः लिखते हैं कि "एकाकिनः समित्रथ वा शत्रु प्रति साधनार्थ गमनं यामन्"[1] अर्थात् अकेले अथवा मित्र को लेकर शत्रु के साधन (युद्ध) को जाना यान कहा जाता है।

स्पष्ट है कि सभी आचार्यो ने यान (अभियान) को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। वस्तुतः उनकी यान समबन्धी धारणा में यह भाव निहित है कि मात्र प्रबल राजा को निर्बल शत्रु के प्रति यान की नीति अपनानी चाहिये। यान का नकारात्मक उद्धेश्य शत्रु-मर्दन है और सकारात्मक उद्धेश्य स्वयं के प्रभाव एवं यश में वृद्धि है। यथार्थवादी दृष्टि से इसका उद्धेश्य आर्थिक, सैनिक एवं राजनीतिक लाभ प्राप्त करना है।

यान के भेद—

प्राचीन आचार्यो ने यान के अनेक प्रकार स्वीकारें हैं। मनु यान के दो भेद मानते हैं-एकाकी यान तथा संहत यान। जब कोई राजा अकेले ही बिना मित्रों की सहायता के शत्रु पर आक्रमण करता है तब वह एकाकी यान कहा जाता है और जब वह स्वयं समर्थ न होने पर मित्रों की सहायता से शत्रु पर आक्रमण करता है तब वह संहतयान कहलाता है।[2]

कामन्दक ने यान के पाँच भेद बतलाये हैं—[3] (1) लड़ाई के लिये (2) मिलकर (3) इकट्ठा होकर (4) प्रसंग तथा (5) उपेक्षा।

1. **विग्रह्यान—**

जब कोई राजा अपने शत्रुओं पर अपने बल सहित दमन करने के निमित्त गमन करता है तो इस प्रकार के गमन को विग्रह्यान कहते हैं। कतिपय आचार्यो का मत भी है कि शत्रु के सभी मित्रों को अपने सभी मित्रों के बल से लड़ाकर शत्रु पर जो आक्रमण किया जाता है वह विग्रह्यान

---

1. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 8*
2. *एकाकिनश्चात्ययिके कार्यप्रतापे यद्च्छया।*
   संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यान मुच्यते।। मनु0 7/165
3. *विग्रहय सन्धाय तथा सम्भूयाथ प्रसंङ्गतः।*
   उपेक्षा चेति निपुर्णर्यान पच्चविधं स्मृतम्।।2।। काम0 सर्ग 11, श्लोक 2

कहलाता है।[1]

2. संघाययान—

अपने राज्य के पृष्ठ में स्थित शत्रु राजा से सन्धि करने के उपरान्त शत्रु राजाओं पर विजय की अभिलाषा से गमन करने को संघाययान कहते हैं।[2]

3. सम्भूययान—

उन्होंने सम्भूययान के तीन भेद कर उनके विशेष लक्षणों का उल्लेख किया है—[3]

(क) जब कोई राजा अपने युद्ध निपुण, शौर्य सम्पन्न सामन्तों तथा बल से युक्त राजाओं को साथ लेकर शत्रु पर आक्रमण हेतु गमन करता है तो इस प्रकार के गमन को सम्भूय-यान के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

(ख) जहाँ दो राजा मिलकर शत्रु की प्रकृतियों के नाश के लिये गमन करते हैं, उस गनन को सम्भूययान की संज्ञा दी गयी हैं

(ग) अपनी अल्प सेना लेकर विजय का संकल्प कर शत्रु पर आक्रमण हेतु जो गमन किया जाता है उसे भी सम्भूययान की संज्ञा दी गयी हैं

4. प्रसंगयान—

यदि किसी राजा पर आक्रमण करने के बीच किसी कारण से अन्य किसी राजा पर

---

1. *विगृहय याति हि यदा सर्वाच्दत्रोगणान् बलात्।*
विगृहययानं यानज्ञास्तदाचार्याः प्रचक्षते।।
अरेमित्राणि सर्वाणि स्वमित्रैः सर्वतो बलात्।
विग्रहय चाभिगमनं विगृहयगमनं स्मृतम्।। *काम0 सर्ग 11, श्लोक 3–4*

2. *सन्धयान्यत्र यात्रायां पार्ष्णिग्राहेण शत्रुणा।*
सन्ध्यायगमन प्रोक्तं तज्जिगीषोः फलार्थिनः।। *काम0 सर्ग 11, श्लोक 5*

3. *एकीयभूय यदैकत्र सामन्तेः साम्परायिकैः।*
शक्तिशौचयुतैर्यानं सम्भूयगमनं हि तत् ।।
अल्पसारानुपादाय प्रतिज्ञाय फलोदयम्।
गम्यते यत्परजेतुं सम्भूयगमनं हि तत् ।। *काम0 सर्ग 11, श्लोक 6, 8 एवं 7*

आक्रमण कर दिया जाये तो इस प्रकार के आक्रमण को कामन्दक ने प्रसंग यान की उपाधि दी है,[1] जैसे– राजा शल्य एक जगह जाकर दूसरी जगह को चले गये थे।

5. उपेक्षायान–

जब कोई राजा अपने शत्रु पर आक्रमण करता है, लेकिन इस आक्रमण का फल विपरीत होता है अर्थात् आक्रमणकर्ता राज्य पराजित होता है तो उसकी उपेक्षा को कामन्दक ने उपेक्षा यान कहा है। कामन्दक ने उपेक्षायान का अर्थ स्पष्ट करने के लिये महाभारत से दृष्टांत उद्धत किया है जिसमें अर्जुन ने हिरण्यपुरवासी जनों को छोड़कर अर्थात् उनकी उपेक्षा कर निवातकवचों का संहार किया था।[2]

सोमेश्वर ने यान विषयक सात प्रकार की यात्राओं का वर्णन किया है–[3]

1. सन्धानजा–

षार्ष्णिग्राह के साथ सन्धि करने के पश्चात् शत्रु के प्रति अभियान करना।

2. पार्ष्णिरोध–

आत्मबल बढ़ाकर पार्ष्णिग्राह के अवरोध के लिये यान करना।

3. मित्रविग्रहणी–

अपने मित्र राजाओं सहित शत्रु से विग्रह करके उसके विरूद्ध यान करना।

4. द्वन्द्वजा–

शत्रु को बुलाकर उस पर स्वयं आक्रमण करने के लिये अभियान करना। इस यान को 'रिपुसांरकारिणी' भीकहा गया है।

5. निर्व्याजा–

स्वस्थचित बलिष्ठ राजा द्वारा सब ओर शत्रुओं के विनाश हेतु अभियान करना।

---

1. *अन्यत्र प्रस्थितः सगादन्यत्रेव च गच्छति।*

   प्रसंगयानं तत्प्रोक्तमत्र शल्यो निदर्शनम् ।।   कामO सर्ग 11, श्लोक 9

2. *कामO सर्ग 11, श्लोक 10*

3. *मानसोल्लास : 2/13/746-753*

6. कुल्या—

शत्रु के वंशज के साथ अरि का विनाश करने के लिये यान करना।

7. शीघ्रता—

शत्रु का विनाश करने के अभिप्राय से समस्त प्रमादों का परित्याग कर अचानक अभियान करना।

यान और यातव्य—

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने यातव्य शत्रु (जिसके प्रति विजिगीषु अभियान करता है) के गुण-दोषों की विवेचना करते हुये बताया है कि किस शत्रु के प्रति पहिले आक्रमण करना चाहिये और किस पर बाद में। मनु के अनुसार जब शत्रु को अमात्यादि के विरोध या कठोर दण्ड आदि से व्यसनग्रस्त देखे तभी विजिगीषु को उस पर चढ़ाई करना उचित है।[1]

कौटिल्य का मत है कि जिन कारणों से किसी अन्यायवृत्ति राजा की प्रजा में क्षय, लोभ तथा वैराग्य फैलता है यदि वे परिस्थितियाँ किसी राज्य में व्याप्त हों तो, महत्वाकांक्षी राजा को 'यान' करना चाहिये। कौटिल्य ने कहा कि जब राजा कर्मण्य को न करता हो और अकर्मण्य को करता हो, दण्डनीयों के स्थान पर अदण्डनीयों को दण्डित करता हो तथा प्रतिष्ठावान अधिकारियों तथा व्यक्तियों को अपमानित करता हो और वह स्वयं विलासी जीवन व्यतीत कर प्रजा के योगक्षेम को हानि पहुँचाता हो, तो विपक्षी राजा को यान करना चाहिये। व्यसनग्रस्त, अन्यायी (अन्यावृत्ति) राजा जिसकी अमात्यादि प्रकृतियाँ क्षीण, लुब्ध, तिरस्कृत और विकृत हों एवं जिसका देश दुर्भिक्ष आदि व्याधियों तथा सामान्तादि-जनित व्यसनों से पीड़ित हो उसके प्रति यान नीति सफल होती है। कारण स्पष्ट है क्योंकि ऐसा राजा निर्बल ही नहीं होता वरन् उसकी प्रजा तथा अमात्यादि अधिकारी भी उसके विरूद्ध हो जाते हैं।[2]

कामन्दक कहते हैं कि स्त्री, यान, मृगया, अक्षादि व्यसन ग्रस्त शत्रु तथा देव भी जिसके प्रतिकूल हों वही यान के उपयुक्त है। साथ ही वह यह भी कहते हैं कि व्यसन तो अनित्य है, अतएव जब विजिगीषु स्वयं सक्षम हो तभी यान नीति ग्रहण करनी चहिये।[3]

---

1. *मनु0 अ0 7, श्लोक 183*
2. *अर्थ0 7/5*
3. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 11, सर्ग 16, श्लोक 1-3*

सोमेश्वर के अनुसार व्यसनग्रस्त, व्याधिग्रस्त, बल तथा कोषविहीन, शत्रुपीड़ित, मित्रों द्वारा परित्यक्त एवं दैवोपहत शत्रु के विरूद्ध यान करना लाभप्रद होता है।[1]

प्राचीन आचार्यो ने विजिगीषु की भी स्थिति का विवेचन किया है। कौटिल्य के अनुसार शत्रु पर आक्रमण करना ही यान है किन्तु यह तभी सम्भव होता है जब विजिगीषु की शक्ति अत्याधिक हो । अतः इस नीति का प्रयोग शक्तिहीन शत्रु प्रति करना चाहिये। जब विजिगीषु के मित्र और आक्रन्द दोनों की प्रकृतियाँ, शूर, अनुभवी एवं अपने स्वामी के प्रति अनुरक्त हों, और इसके ठीक विपरीत स्थिति अरिमित्र तथा पार्ष्णिग्राह की हो, विजिगीघु का मित्र शत्रु को सफलतापूर्वक रोकने में समर्थ हो और आक्रन्द पार्ष्णिग्राह को, तब ही विजिगीषु को युद्ध की घोषणा करके शत्रु देश पर (यान) आक्रमण करना चाहिये।[2]

आचार्य हेमचन्द्र भी शत्रु सेना को हानि पहुँचाने, पराजित करने के लिये यदि विजिगीषु अपने को शक्तिबल, सैन्यबल आदि से पूर्ण सम्पन्न समझे तो शत्रु के विरुद्ध यान गुण अपनाने को कहते हैं।[3] शत्रु पर आक्रमण करने से पूर्व राजा को इस बात का निश्चय कर लेना आवश्यक है कि उसका अपना राज्य निष्कन्टक है तभी शत्रु पर आक्रमण करने को यान करे।

स्पष्ट है कि जब शक्ति, देश और काल तीनों ही अनुकूल होते हैं तभी यान सफल हो सकता है, क्योंकि तीनों एक-दूसरे के पूरक है।[4] वस्तुतः बल-सम्पन्न विजिगीषु को ही जिसका प्रकृति मण्डल उसमें अनुरक्त हो यान नीति का अवलम्बन करना चाहिये।[5]

---

1. *मानसोल्लास : 2/13/743-44*

2. *अर्थ० अधि० 7, अ० 1, वार्ता 9*

3. *अर्हन्नीत : अ० 2, प्रक० 1, श्लोक 10-11*

4. *परस्परसाधका हि शक्तिदेशकालाः।*

   अर्थ० अधि० 9, अ० 1, वार्ता 33

5. *काम० सर्ग 11, श्लोक 1*

यान के अवसर—

वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आर्यो ने शक्ति, देश और काल के आधार पर यान का समय निर्धारित किया है। प्रत्येक ऋतु और प्रत्येक समय में यान नहीं किया जाता। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि चित्रा नक्षत्र में विजयार्थ शत्रु पर आक्रमण करें।[1] इस कथन के अनुसार चित्रा नक्षत्र काल में युद्धार्थ प्रस्थान सर्वोत्तम काल है। वर्ष 365 दिनों में 27 नक्षत्रों का योग है। अत: वर्ष में प्रत्येक नक्षत्र का काल प्राय: 13-1/2 दिन होता है। चित्रा नक्षत्र में सूर्य प्राय: 11 अक्टूबर को प्रतिवर्ष आता है। इस प्रकार 11 अक्टूबर से 23 अक्टूबर तक युद्धार्थ प्रस्थान-काल होता है। प्राय: इसी समय विजयादशमी या दशहरा का पर्व पड़ता है। यह समय युद्धार्थ प्रस्थान का शुभ मुहुर्त है।

रामायण से भी स्पष्ट है कि शुभ तिथि तथा श्रेष्ठ नक्षत्र में यान का विधान था। राम ने कहा था, "आज उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र है, कल चन्द्रमा का हस्त नक्षत्र योग होगा, इसलिये आज ही सेना प्रस्थान करेगी।"[2] महाभारत में भी चैत्र एवं मार्गशीर्ष के मास आक्रमण के योग्य माने गये हैं क्योंकि उस समय जल की प्रचुरता रहती है तथा ऋतु में अधिक शीतलता अथवा अधिक गर्मी नहीं रहती।[3]

मनु मार्गशीर्ष, फाल्गुन तथा चैत्र मास यान के लिये उपयुक्त मानते हैं।[4] कामन्दक ने शरद, हेमन्त तथा वसन्त ऋतु को अभियान के लिये श्रेष्ठ माना है।[5] सोमेश्वर भी शरद और वसन्त ऋतु को यान के लिये उपयुक्त मानते है।[6] शुक्र के अनुसार शरद्, हेमन्त और शिशिर ऋतु का समय

---

1. *हन्ति सपत्लान्, हन्ति द्विषन्तं भ्रतृव्यं य एवं विद्वान् चित्रायाम आधते।*
   तस्मादेतत् क्षत्रिय एवं नक्षत्रम् उपेर्त्सेत्। *शत0 ब्रा0 2/1/2/17*
2. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 4, श्लोक 3 एवं 5*
3. *म0भा0 शान्तिपर्व : अ0 100, श्लोक 10-11*
4. *मनु0 अ0 7, श्लोक 182-183*
5. *काम0 सर्ग 16, श्लोक 60*
6. *मानसोल्लास : 2/13/745*

यान के लिये उत्तम है।[1]

कौटिल्य के अनुसार किसी दूर देश पर आक्रमण करने के लिये जिसमें अधिक समय (दीर्घकाल) लगने की संभावना हो। मार्गशीर्ष और षौष मास अधिक उपयुक्त होते हैं। मध्यकालीन अभियान के लिये चैत्र-वैशाख और हस्वकालीन यान के लिये ज्येष्ठ-आषाढ़ के मध्य का समय उपयुक्त होता है। कौटिल्य इस प्रकार काल-निरूपण के कारण भी बतलाते हैं। मार्गशीर्ष मास में शत्रु की पुरानी संग्रहित खाद्य सामग्री समाप्त हो जाती है और नई फसल के अन्न का तब तक संग्रह नहीं हो पाता है। इस समय वर्षा ऋतु के अनन्तर दुर्गो का जीर्णोद्वार भी नहीं हो पाता है। यह समय वर्षा ऋतु में उत्पन्न हुये धान्य को तथा हेमन्त ऋतु में होने वाली फसल को नष्ट करने के लिये उपयोगी होता है। इसी प्रकार हेमन्त ऋतु में उत्पन्न धान्य को तथा बसन्त ऋतु में उपजाने वाली फसल को नष्ट करने के लिये चैत्र मास का आक्रमण एवं बसन्त ऋतु में उत्पन्न धान्य को तथा वर्षाकालीन फसल को नष्ट करने के लिये ज्येष्ठ मास का आक्रमण उपयोगी होता है। इस प्रकार यह तीनों ही यात्रा काल शत्रु की अर्थ व्यवस्था को हानि पहुँचाने में बहुत उपयुक्त होते हैं। कौटिल्य ने प्राचीन आचार्यों का मत देते हुये चौथा यात्रा काल भी बतलाया है जो उस समय होना चाहिए जबकि शत्रु व्यसनग्रस्त हो।[2] परन्तु कौटिल्य इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि जब राजा में शक्ति का उदय हो तभी उसको शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिये। विपत्ति (व्यसन) तो कभी रहती है और कभी तुरन्त ही टल जाती हैं।[3] जब शक्ति सम्पन्न राजा ऐसा देखता है कि वह आक्रमण करने पर शत्रु की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ हो जायेगा अथवा उसका उच्छेदन कर सकने में समर्थ हो सकेगा तभी उस पर आक्रमण करना चाहिये।[4]

इसके अतिरिक्त यातव्य देश की स्थिति के अनुसार भी युद्ध यात्रा का काल निर्धारित

---

1. *शरद्हेमन्त-शिशिर-कालो युद्धेषु चोत्तमः। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 212*
2. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 1, वार्ता 44*
3. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 1, वार्ता 45*
4. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 1, वार्ता 46*

किया गया है। इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं–अत्यन्त उष्ण और अल्प, तृण, ईधन, जल वाले भू–भाग पर हेमन्त ऋतु में आक्रमण करना चाहिए।[1] वर्फीले, नित्य वर्षा वाले, अगाध जल से भरे रहने वाले, घास और वृक्षों के वन से गहन भू–भाग पर ग्रीष्म ऋतु में आक्रमण करना चाहिए।[2]

प्राचीन आचार्यो ने इस तथ्य पर भी विचार व्यक्त किया है कि सेना का क्या क्रम हो। कौटिल्य के मत में आगे नायक, बीच में रनिवास एवं राजा तथा दोनों ओर से शत्रु को आघात करने वाली अश्व सेना के पृष्ठ भाग में हाथी एवं सबसे पीछे सेनापति होना चाहिये। कामन्दक तथा शुक्र ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।

संश्रय–

प्राचीन भारतीय परम्परानुसार आचार्यो ने शत्रु से रक्षा पाने के लिए किसी निर्बल राजा द्वारा सबल राजा की शरण लेने को आश्रय (संश्रय) की नीति अथवा गुण कहा है। संश्रय गुण का तात्पर्य है निर्बल राजा का आत्मरक्षार्थ शक्तिशाली राजा के प्रति आत्मसमर्पण करना। इस नीति को संश्रय गुण तथा आश्रय गुण की संज्ञा प्रदान की गयी है। कौटिल्य और मनु इसे संश्रय गुण तथा कामन्दक एवं शुक्र आश्रय गुण मानते हैं।

परिभाषा–

मनु के अनुसार ऐसे सबल राजा की शरण ग्रहण करना जिससे दुर्बल राजा भी सबल बन जाता है, संश्रय कहलाता है।[3]

कौटिल्य के अनुसार अन्य राजा के प्रति (निर्बल राजा का) स्वयं को अर्पण कर देना ही संश्रय है।[4]

हेमचन्द्र के मतानुसार 'बलिष्टस्यान्य भूपस्याश्रायणं संश्रय स्पृत:[5] अर्थात् शत्रु के भय से

---

1. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 1, वार्ता 37*
2. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 1, वार्ता 38*
3. *मनु0 अ0 7, श्लोक 174*
4. *अर्थ0 अधि0 7 अ0 1, वार्ता 10*
5. *अर्हन्नीति, अ0 2, प्रकरण–1, श्लोक 7*

किसी पड़ोसी बलवान राजा का आश्रय लेना 'संश्रय' है। वह यह भी कहते हैं कि 'शत्रु संकटे सहायेच्छया साम्प्रति कायतिक दुःख निवृत्यर्थ बलवत्तरान्यनृपाश्रयणं संश्रय'[1] अर्थात् शत्रु का संकट देखकर सहायता की इच्छा से तत्कालीन और भविष्य के दुख की निवृत्ति के उद्देश्य से बलवान राजा की शरण लेना 'संश्रय' कहलाता है।

शुक्र की व्याख्या इन दोनों से थोड़ी भिन्न है उनके अनुसार सबल राजा का आश्रय ग्रहण करके दुर्बल राजा का सबल बनना ही आश्रय है।[2]

सोमदेव के अनुसार 'परस्यात्मार्पण संश्रय' अर्थात बलिष्ठ शत्रु द्वारा देश पर आक्रमण होने की दशा में शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण करने को अथवा किसी बलिष्ठ शत्रु की शरण लेने को 'संश्रय' कहते हैं।[3]

सोमेश्वर का मत है कि हीन शक्ति राजा द्वारा अपनी विजय के लक्षण न देखने पर अथवा अधिक बलशाली शत्रु द्वारा पीड़ित किये जाने पर 'क्षेम' स्थान का आश्रय लेना संश्रय है।[4]

संश्रय के प्रकार—

मनु ने संश्रय के दो प्रकार बताये हैं-(1) शत्रु नरेशों द्वारा पीड़ित होने पर किसी शक्तिशाली नरेश का आश्रय लेना। (2) भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की सम्भावना से किसी प्रबल राजा से सन्धि करके उसका आश्रय लेना।

सोमेश्वर के अनुसार संश्रय के तीन प्रकार हैं-(1) सत्संश्रय (2) अन्य-संश्रय एवं (3) दुर्ग-संश्रय। सत्संश्रय का अर्थ सत्यनिष्ठ शत्रु की शरण ग्रहण करना है। अन्य संश्रय से तात्पर्य किसी राजा का आश्रय ग्रहण करना है और दुर्ग-संश्रय का अर्थ आत्म रक्षार्थ स्वयं अपने दुर्ग में शरण लेना है।

---

1. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 8*
2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1066*
3. *नीतिवाक्यामृत : समुद्देश 29, श्लोक 42*
4. *स्वयं हीनबलो राजा जगहेतं न पश्यति।*
   बलिना षीड्यमानो यः क्षेमस्थानं समाश्रयेत्।। मानसोल्लास : 2/15/949

स्पष्ट है कि बलवान शत्रु से पीड़ित होने पर अथवा उसके आक्रमण से आशंकित होने पर निर्बल राजा शत्रु की अपेक्षा अधिक बलशाली राजा का आश्रय ग्रहण करते थे। वर्तमान समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी ही स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

संश्रय अवलम्बन—

कौटिल्य का मत है कि जब राजा समझ ले कि न तो हम शत्रु को कोई हानि पहुँच सकते हैं और न हम अपनी रक्षा करने में ही समर्थ हैं, तब किसी बलवान राजा का आश्रय लेना चाहिये।[1] किसी राजा को संश्रय गुण का आश्रय लेना पड़े तो शत्रु जितना बलशाली हो उससे अधिक बलशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।[2] यदि कोई अन्य राजा शत्रु राजा की अपेक्षा बलवान न हो तो उस निर्बल राजा को अपने उसी सबल शत्रु का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिये।[3] कोश, सेना अथवा भूमि में से किसी वस्तु को देकर शत्रु राजा को सन्तुष्ट करना चाहिये परन्तु स्वयं उसके सम्मुख जाना उचित नहीं है।[4]

उनका मत है कि यदि निर्बल राजा दो बलवान राजाओं के मध्य में स्थित हो तब उसे उन दो में ऐसे राजा की शरण लेनी चाहिये, जो उसकी रक्षा करने में समर्थ हो अथवा समीप हो। यदि दोनों ही समीप हों तब उसे कपाल–सन्धि नीति अपनाकर दोनों ही का आश्रय लेना चाहिये अथवा उन दोनों में से जिसकी ओर से शीघ्र भय की आशंका हो उसका ही आश्रय लेकर भावी विपत्ति का प्रतिकार करना चाहिये।[5]

---

1. *यदि वा मन्येत्। नास्मि शक्त: परकर्ण्युपहन्तुं स्वकर्मोप धातं वा त्रातुमिति बलबन्तमाश्रित: सवकर्मानुष्ठानेन क्षयात्स्थानं स्थानाद्वृद्धि चाकांक्षेत।*   *अर्थ0 अधि07, अ01, वार्ता 60-61*
2. *पद् बल: सामन्तस्तद्विशिष्ब्बलमाश्रयेत।*   *अर्थ0 अधि0 7, अ0 2, वार्ता 7*
3. *तद्विशिष्टबलाभावे तमेवाश्रित: कोशदगडभूमोनामन्यतमेनास्योपकर्तुमद्दष्ट प्रयतेत्।।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 2, वार्ता 8*
4. *अर्थ0 अधि0 7 अ0 2, वार्ता 8*
5. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 2, वार्ता 14-16*

मनु के अनुसार जब राजा यह समझे कि उसकी पराजय सन्निकट है, तब शीघ्र ही धार्मिक एवं शक्तिशाली राजा का आश्रय ले लेना चाहिये।[1]

हेमचन्द्र का मत है कि यदि राजा अपने को रक्षण करने में असमर्थ समझे तो उसे बलवान एवं धर्मिष्ठ राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।[2]

आचार्यो ने यह मत भी व्यक्त किया है कि जब निर्बल राजा शत्रु का प्रतिरोध करने में असमर्थ हो, अथवा जब बलवान शत्रु उसका उच्छेदन कर रहा हो और प्रतिकार का अन्य साधन न दृष्टिगोचर होता हो तब उसे शत्रु की अपेक्षा अधिक बलशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

सोमदेव का विचार है कि सैन्य एवं कोश आदि शक्ति से क्षीण हुये राजा को यदि शत्रु राजा व्यसनी नहीं है तो उसका आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिये।[3] सोमदेव सशक्त राजा से भयभीत होकर अशक्त राजा का आश्रय करना उसी प्रकार व्यर्थ मानते हैं जैसे हाथी से भयभीत होकर एरण्डद्रुम का आश्रय लेना।[4] वह समान शक्ति वाले राजा की शरण लेने को भी मान्यता नहीं देते।[5]

कौटिल्य कहते हैं कि अधिक बलशाली राजा का आश्रय लेना सर्वथा उचित नहीं है। उनका कहना है कि विशेष प्रकार से बलवान राजा के आश्रय में जाने से कभी-कभी बड़ा अनिष्ट भी हो जाता है। किन्तु यदि उस बलवान राजा का शरणग्राही राजा के शत्रु के साथ विग्रह चल रहा हो, तब उसका आश्रय ग्रहण करना हानिप्रद नहीं हो सकता है।[6]

श्री पी. वी. काणे का मत है कि कुछ लोगों के मत से आश्रय का तात्पर्य उदासीन व मध्यम

---

1. *यदा पर बलानां तु गमनीयतमो भवेत्।*
   तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिक बलिनं नृपम्।। *मनु0 अ0 7, श्लोक 174*
2. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 14*
3. *नीतिवाक्यामृतम : षाड्गुण्य समुद्देश, श्लोक 55*
4. *नीतिवाक्यामृतम : षाड्गुण्य समुद्देश, श्लोक 57*
5. *नीतिवाक्यामृतम : षाड्गुण्य समुद्देश, श्लोक 58*
6. *महादोषो हि विशिष्टबलसमागमी राज्ञामन्यत्रारिविगृहीतात्।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 2, वार्ता 9

राजा की शरण में जाना है।[1] परन्तु इस सम्बन्ध में श्री काणे ने धर्मशास्त्रों से पुष्ट-कारक उद्धरण प्रस्तुत नहीं किये हैं। यह ठीक है कि कुछ धर्मशास्त्रों में ऐसे उद्धरण है जिसका कुछ राजाओं ने जिन राजाओं से आश्रय प्राप्त किया वे उदासीन तथा माध्यम श्रेणी के थे, परन्तु वे शक्तिशाली थे। धर्मशास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें अन्य श्रेणी के राजाओं का आश्रय भी प्राप्त किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि निर्बल राजा द्वारा किसी राजा का आश्रय ग्रहण करने की आचार्यो ने दो परिस्थितियाँ बतलायी हैं—

1. जब निर्बल राजा को शत्रु से बचने के लिये उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।
2. जब इस प्रकार का आश्रय उपलब्ध नहीं होता तो उसे स्वयं शत्रु की शरण ग्रहण करनी पड़ती है।

आश्रयदाता राजा के गुण—

आचार्यो ने आश्रयदाता राजा के गुणों का भी विवेचन किया है।

मनु के अनुसार आश्रयदाता राजा धार्मिक और बलशाली होना चाहिए।[2]

कामन्दक ने कुलीन, सत्यवादी और आचरणशील होना आश्रयदाता राजा के गुण माने हैं।[3]

सोमदेव का मत है कि आश्रयदाता राजा को व्यवसनी नहीं होना चाहिये।[4]

शुक्र कुलीन, सत्यवादी और बलवान राजा को इस योग्य मानते हैं।[5]

आश्रित राजा की वृत्ति—

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने आश्रित राजा की वृत्ति के विषय में भी विचार व्यक्त किये

---

1. *डॉ0 पी. बी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ0 693*
2. *मनु0 अ0 7, श्लोक 174*
3. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 28*
4. *नीतिवाक्यामृत : षाड्गुण्य समुद्देश, श्लोक 55*
5. *कुलोद्भवंसत्यामार्य माश्रयेतबलोत्कमटम।*
   विजिगीषोस्तुसाह्यार्था: सुहत्संबंधिबांधबा: ।।   शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1121

हैं। कामन्दक के अनुसार जिस प्रकार शिष्य गुरू के यहां नियम पूर्वक जीवन व्यतीत करता है उसी प्रकार समाश्रित राजा के पास विनीत होकर रहे और उसका कार्य करे। आश्रित राजा को अपने आश्रयदाता के प्रति इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, जिससे आश्रयदाता को विश्वास हो जाये कि वह उसमें अनुराग एवं श्रद्धा रखता है और उसकी अभिरूचि के अनुसार कार्य करता है। आश्रित राजा का कर्तव्य है कि वह आश्रयदाता राजा के दर्शन में प्रीति प्रदर्शित करे, नित्य उसके भावों में भावित रहे और उसके कार्य सम्पादन हेतु सदैव कटिबद्ध रहे।[1]

महाभारत में कहा गया है कि पराजित क्षीण-बल राजा को अन्य उपायों के अभाव में विनम्र होकर शत्रु राजा की सेवा करनी चाहिये। अपने व्यवहार और कृत्यों द्वारा उसका विश्वास प्राप्त करके उसकी सहायता से बल वृद्धि करे, परन्तु साथ ही साथ शत्रु को विनष्ट करने के लिये भी प्रयत्नशील रहे। कुत्ते और हिरन की भाँति चौकन्ना रहकर शत्रु के प्रति मित्र-धर्म का पालन करते हुये यथासंभव उसकी शक्ति क्षीण करने का उपाय करे। उसे ऐसे कार्य करने की प्रेरणा दे जिसको पूरा करना अत्यन्त कठिन हो अथवा शक्तिशाली राजाओं के साथ उसका विरोध करा दे। येन-केन-प्रकारेण उसकी शक्ति क्षीण करने का उपाय करे, परन्तु धीरे-धीरे अपनी शक्ति संचित करता रहे और उपयुक्त अवसर आने पर शरणदाता शत्रु राजा पर आक्रमण कर देना चाहिये।[2] कौटिल्य और मनु आश्रयदाता की सेवा करने का विचार व्यक्त करते हैं।[3]

संश्रय का महत्व—

आधुनिक युग में शक्ति-सन्तुलन की दृष्टि से आश्रय (संश्रय) की नीति का विशिष्ट महत्व स्वीकारा जाता है।[4] प्राचीन भारत में भी आश्रय की नीति राज्यों के मध्य शक्ति-वितरण को

---

1. *तद्दर्शनोपास्तिकता नित्यं तद्भावभाविता।*

   तत्कारिता प्रश्रयिता वृत्त संश्रयिण: स्मृतम्।। — *काम0 सर्ग0 11, श्लोक 29*

2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 104-105*

3. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 2, वार्ता 11*

   उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरूं यथा। — *मनु0 अ0 7, श्लोक 175*

4. *हंस जे. मार्गेन्थाउ : राज्यों के मध्य राजनीति, पृ0 218*

प्रभावित करने का प्रबल साधन थी। शुक्र के अनुसार आश्रय-नीति के द्वारा निर्बल राजा अपनी शक्ति में वृद्धि कर लेता है।[1] इसी दृष्टि से कौटिल्य ने निर्बल राजा द्वारा संश्रय (आश्रय) गुण के पालन को उचित माना है।[2]

आधुनिक पाश्चात्य राजशास्त्री मार्गेन्थाऊ ने संश्रय-नीति के विषय में आश्रयदाता शक्तिशाली राष्ट्र को परामर्श दिया है कि उसे निर्बल संश्रित राष्ट्र को अपने लिये कभी निर्णय नहीं करने देने चाहिये, अपितु संश्रित राष्ट्र की नीतियों को अपने हित में नियंत्रित करना चाहिये।[3] भारतीय आचार्यों ने शक्तिशाली आश्रयदाता राजा (राज्य) के इस मनोविज्ञान को समझा था, अत: कामन्दक ने आश्रय की नीति की सफलता हेतु निर्बल राजा को उपदेश किया है कि उसे (आश्रित राजा) आश्रयदाता राजा के अनुकूल नीति का पालन करना चाहिये।[4] किन्तु कौटिल्य ने इस यथार्थवादी सत्य की ओर संकेत किया है कि आश्रय-नीति के अन्तर्गत आश्रित राजा की तुलना में आश्रयदाता राजा को ही अधिक लाभ होता है।[5] अत: उन्होंने निर्बल राजा को परामर्श दिया है कि आश्रय की नीति का पालन पर्याप्त सावधानी के साथ करे, अन्यथा कभी-कभी शक्तिशाली आश्रयदाता राजा के वध, बन्धन आदि का कुफल भी मिलता है।[6] सम्भवत: ऐसे अनिष्ट से बचने की दृष्टि से ही शुक्र तथा कामन्दक ने इस तथ्य पर बल दिया है कि सदैव ऐसे शक्तिशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिये, जो सत्य-प्रतिज्ञ, कुलीन व श्रेष्ठ आचरण वाला हो।[7] आश्रय-नीति में निहित इस दोष को पाश्चात्य विचारक मैक्यिावेली ने भी अनुभव किया था और इस दृष्टि से उन्होंने निर्बल राष्ट्रों (राजाओं) को परामर्श दिया है कि वे शक्तिशाली राष्ट्र के साथ तब तक संश्रय नहीं करें जब तक

---

1. *यैर्गुप्तोबलवानीूयादुर्बलोपिसआश्रय।।   शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1069*
2. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 16*
3. *हंस जे. मार्गेन्थाउ : राष्ट्रो के मध्य राजनीति, पृ0 664*
4. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 29*
5. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 2, श्लोक 6*
6. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 2, श्लोक 9-13*
7. *कुलीनद्ववंसतयमार्यमाश्रयेतबलोत्कटम्। शुक्र0 4/1121; काम0 सर्ग 11, श्लोक 28*

कि ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक नहीं हो।[1]

द्वैधीभाव—

द्वैधीभाव का शाब्दिक अर्थ है कि दोहरी नीति या दुरंगी चाल या दो भावों का होना। ये दो भाव सेना-विभाजन में हो सकते हैं, अथवा राज्य की शत्रु-मित्र परक नीति में हो सकते हैं, अथवा शांति और युद्ध के विचारों में हो सकते हैं।[2] द्वैधीभाव का आधार कपट नीति है-शत्रु अथवा अन्य राजाओं से एक दूसरे के प्रति सहायता प्राप्त करने की चेष्टा करना। यह नीति बहुत सतर्कता से प्रयोग में लायी जाती है, जिससे शत्रु उसकी दोहरी नीति को समझ न सके।

परिभाषा—

कौटिल्य एक राजा के साथ सन्धि करने को और दूसरे के साथ विग्रह करने को द्वैधीभाव मानते हैं।[3]

मनु सेना को दो भागों में विभक्त करना द्वैधीभाव मानते हैं। टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि राजा सेना के एक भाग को सेनापति के अधीन करें और दूसरे भाग को स्वयं अपने साथ लेकर दुर्ग में आश्रय ले, यही द्वैधीभाव है।[4]

सोमदेव दो शत्रुओं के द्वारा आक्रमण किये जाने पर एक से सन्धि और दूसरे से युद्ध करने के गुण को द्वैधीभाव कहते है।[5] उनका कथन है कि पहले बलिष्ठ शत्रु से मित्रता करना और तत्पश्चात् दुर्बल हो जाने पर उससे युद्ध छेड़ देना, इसे बुद्धि आश्रित द्वैधीभाव कहते हैं।[6]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार आधी सेना लेकर प्रयाण करना ही द्वैधीभाव है।[7]

---

1. *हंस. जे. मार्गेन्थाउ : राष्ट्रों के मध्य राजनीति, पृ0 222*
2. *डॉ0 लक्ष्मीदत्त ठाकुर : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ0 291*
3. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 1, वार्ता 11*
4. *मनु0 अ0 7, श्लोक 167*
5. *एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रो सन्धानपूर्व विग्रहो द्वैधीभावः। नीतिवाक्यामृत : षाड्गुण्य समुद्देश, श्लोक 48*
6. *नीतिवाक्यामृत : षाड्गुण्य समुद्देश, श्लोक 49*
7. *बलार्धेन प्रयाणं तु धीभावं तदुच्यते। विष्णुधर्मोत्तरपुराण : 2/150/3-5*

शुक्र ने सेना को अनेकानेक टुकड़ियों में विभाजित करने को द्वैधीभाव माना है।[1] प्रो. सरकार के अनुसार शुक्र ने सेना की अनेकानेक टुकड़ियों में विभाजित करने का जो निर्देश किया है, सभवत: उसका उद्देश्य शत्रु को यह दर्शाना है कि संख्या की दृष्टि से अपनी सेना अधिक शक्तिशाली नहीं है।[2] अर्थात् उस निर्देश का उद्धेश्य सैन्य क्षेत्र में शत्रु को कपट द्वारा भ्रमित एवं चकित करना है।

हेमचन्द्र के अनुसार ''द्विधा फृत्वा बलं खोयं स्थाप्यतद् द्वैध मुच्यते''[3] अर्थात् अपनी सेना को दो टुकड़ियों में स्थापित करना द्वैधीभाव है। पुन: उसकी व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है कि शत्रु को रोकने (अटकाने) के लिये कुछ सेना सहित सेनाधिपति को एक बाजू अर्थात् किले से बाहर रखना और कुछ सेना सहित राजा का दूसरी बाजू में किले में रहना इस प्रकार सेना को दो भागों में विभाजित कर रखना द्वैधीभाव कहलाता है।[4]

कामन्दक ने द्वैधीभाव की स्पष्ट व्याख्या तो नहीं की है, किन्तु उसके गुणों का वर्णन अवश्य किया है। उनके अनुसार द्वैधीभाव के दो गुण हैं-(1) स्वतन्त्र तथा (2) परतन्त्र।

कामन्दक के अनुसार जब स्वयं अपनी शक्ति के आधार पर द्वैधीभाव गुण का पालन किया जाता है, तब यह स्वतंत्र द्वधीभाव होता है, किन्तु जब किसी राजा का आश्रय पाकर द्वैधीभाव का प्रयोग किया जाता है, तब उसे परतंत्र द्वैधीभाव कहते हैं।[5] कामन्दक ने द्वैधीभाव गुण को आश्रय गुण के संदर्भ में व्यक्त किया है।[6]

कामन्दक ने द्वैधीभाव का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिये, इसका भी निर्देश दिया है। दो बली शत्रुओं के मध्य वाणी द्वारा अपने को समर्पित करे और दोनों के प्रति कौए की आंख की

---

1. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1070*
2. *प्रो. बी. के. सरकार : शुक्रनीति, टि0 1, पृ0 240*
3. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 7*
4. *शत्रुरोधार्थ सेनानी कतिपय बलान्वित एकतो दुर्गवहिर्तिष्टेदन्यतो राजापि कतिचित्सेनाकलितो दुर्ग तिष्ठेत् इति स्ववलस्य द्विधाकरणं द्वैधम। अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 8*
5. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 27*
6. *काम0 सर्ग 11, श्लोक 25-26*

भाँति इस प्रकार आचरण करे कि वे उसकी वास्तविक नीति को न जान सकें और दोनों ही उससे प्रसन्न रहें।[1] कामन्दक ने द्वैधी भाव की तुलना काकाक्षि से इसलिये की है क्योंकि कहा जाता है कि कौआ एक ही आंख से अपने दोनों ओर की वस्तुओं को देखता है। कामन्दक ने काक-अक्ष की उपमा के माध्यम से द्वैधीभाव गुण को स्पष्ट किया है और उन्होंने इस नीति (गुण) को बली शत्रुओं से घिरे राजा द्वारा उन शत्रु राजाओं के प्रति पालनीय बताया है।

कामन्दक के द्वैधीभाव गुण में शत्रुओं के प्रति अविश्वास की[2] भावना एवं उन्हें धोखा देने की भावना निहित है, अर्थात् शान्ति का दिखावा करना और आक्रमण (घात) की तैयारी करना, जैसा कि जापानियों ने पर्लहार्वर पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में किया था।[3]

शुक्र ने द्वैधीभाव गुण को स्पष्ट करते हुये कहा है कि जब राजा (शत्रु के प्रति) अपनाने योग्य कार्य-प्रणाली (उपाय) का निश्चय नहीं कर पाये तथा अवसर की प्रतीक्षा में हो, तब वह काक-अक्ष के समान द्वैधीभाव गुण को अपनाये तथा प्रत्यक्ष रूप में एक प्रकार का आचरण दिखाये, किन्तु वास्तव में दूसरे प्रकार का आचरण करे।[4] भावार्थ यह है कि शत्रु को पूर्ण भ्रम में रखते हुये एक ही समय पर दो उद्देश्यों (नीतियों) का अनुकरण करना चाहिये।[5] शत्रु के प्रति कपट की नीति का भाव शुक्र के विचार में भी निहित है।[6]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य को छोड़कर सभी आचार्य इस बात

---

1. *बलिनोद्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयेत्।*
   द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षित ।। *काम0 सर्ग 11, श्लोक 23*
2. *डॉ. राजपाल शर्मा: कामन्दक के राजनीतिक विचार, पृ0 170*
3. *डॉ0 के. वी. आर. आयंगर : सोशल एण्ड पालिटिकल एस्पेक्ट्स ऑफ मनुस्मृति, पृ0 198*
4. *अनिश्चितोपायकार्य: समयानुचरो नृप:।*
   द्वैधीभावेन वर्तत काकाक्षिवर्दलक्षिर्तम्।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1123*
   प्रदर्शयेदन्यकार्यमन्यमालंवयेच्चवा। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1124*
5. *प्रो. बी. के. सरकार : शुक्रनीति, टि0 5, पृ0 245*
6. *शुक्र0 4/1124*

से सहमत हैं कि सेना को दो भागों में विभाजित करना द्वैधीभाव के अन्तर्गत आता है। परन्तु सभी आचार्य इसका उद्देश्य पृथक-पृथक बतलाते है। शुक्र शत्रु और मित्र दोनों की सीमा पर सेना का वितरण मानते हैं। जबकि कौटिल्य ने विजिगीषु राजा द्वारा द्वैधीभाव नीति के प्रयोग हेतु ऐसे दो शत्रु राजाओं की कल्पना की है, जिनमें से एक के प्रति विजिगीषु सन्धि की नीति का और दूसरे के प्रति विग्रह की नीति का प्रयोग करता है।

मनु तथा हेमचन्द्र सेना को शत्रु से रक्षा के निमित्त विभाजित करने को और उसे दो स्थानों पर रखने को ही द्वैधीभाव कहते हैं।

निष्कर्षत: सेना को दो भागों में विभाजित कर उसे आवश्यकतानुसार काम में लाना द्वैधीभाव गुण के अन्तर्गत आता है तथा इसका अभिप्राय कपटपूर्ण दोहरी चाल द्वारा शत्रु को धोखे में रखना है।

द्वैधीभाव के प्रकार—

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में द्वैधीभाव गुण का उल्लेख मूलत: परराष्ट्र-नीति के संचालन की एक कपटपूर्ण दोहरी नीति के रूप में किया गया है और कुछ आचार्यो ने इसे सैन्य कौशल के रूप में भी स्वीकारा है। यह स्थिति सोमेश्वर के द्वैध नीति प्रयोग के पाँचों प्रकारों से सुस्पष्ट है[1]—

1. मिथ्याचित्र—

मन से शत्रु का विरोध करना परन्तु मुख से प्रिय वचन बोलना।

2. मिथ्यावचन—

मन-वचन से प्रिय बोलना परन्तु कर्म विपरीत करना अर्थात् शत्रु को हानि पहुँचानपे वाले कार्य करना।

3. मिथ्याकरण—

ऐसे कार्य करना जिनसे शत्रु का विश्वास प्राप्त हो जाये परन्तु गुप्त रूप से कार्य करते रहना जो उसका विनाश कर दें।

4. उभय-वेतन—

एक पक्ष से गुप्त रूप से और दूसरे से प्रकाश रूप से वेतन प्राप्त करना परन्तु उनके गुप्त

---

1. *मानसोल्लास : 2/16/958-967*

मंत्र जानकर अपने स्वामी को सूचित करना।

5. युग्मप्राभृतक—

एक राजा से यह कहना कि तुम मेरे शत्रुओं का अवरोध करो परन्तु दूसरे को उसी उद्देश्य से अश्व, गज आदि देकर कहना कि मैं तुम्हारे शत्रु का अवरोध करूँगा।

लगभग सभी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने द्वैधी गुण के महत्व को स्वीकार किया है। कौटिल्य के विचार से किसी कार्य में सहायता की अपेक्षा होने पर द्वैधीभाव नीति अपनानी चाहिये।[1] सोमदेव सूरि कहते हैं कि इस नीति से दो बलशाली राजाओं के मध्य घिरा हुआ शत्रु दो शेरों के बीच फंसे हुये हाथी की भाँति सरलता से जीता जा सकता है।[2]

कौटिल्य का मत है कि राजा को अपनी शक्ति और सामर्थ्य अनुसार इन छः गुणों को अपनाना चाहिये।[3] वह गुणों के सापेक्ष महत्व पर भी प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार जब सन्धि और विग्रह दोनों से एक ही प्रकार के लाभ की आशा हो तब सन्धि गुण का ही अवलम्बन करना चाहिये। इसी प्रकार जब आसन और यान से अथवा द्वैधीभाव और संश्रय से समान लाभ प्राप्त होता हो तब क्रमशः आसन और द्वैधीभाव नीति का अपनाना ही श्रेयस्कर होता है। कारण स्पष्ट है कि सन्धि, आसन और द्वैधीभाव की नीति ग्रहण करने से विग्रह, यान और संश्रय की अपेक्षा कम क्षय-व्यय की सम्भावना होती है।[4]

कौटिल्य राज्य की विस्तारवादी नीति का समर्थक था, जिसके लिये युद्ध अवश्यंभावी था। इसके पालन में ही कदाचित् युद्ध के माध्यम से साम्राज्यवादी नीति सफल हो सकती थी।

प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा विविध ग्रन्थों में षाड्गुण्य तथा संधिविग्रहादि की

---

1. *अर्थ० अधि० 7, अ० 1, श्लोक 17*
2. *बलवदुभयमध्यस्थ : शत्रु उभयसिंहमध्यमतः करीब भवति सुखसाभयः।*

   नीतिवाक्यामृत : समुद्देश 29, श्लोक 57
3. *अर्थ० अधि० 7, अ० 3, श्लोक 1*
4. *अर्थ० अधि० 9, अ० 2, श्लोक 1-6*

अन्वेषणात्मक व्याख्या इस तथ्य को प्रकाशित करती है कि प्राचीन भारतीय यह मानते हैं कि यदि संधि और विग्रह समान लाभदायक हो तो सन्धि का आश्रय लेना चहिये क्योंकि विग्रह से जननाश, धन-व्यय, प्रवास आदि कष्ट होते हैं। इसी प्रकार समान फलदायक होने की स्थिति में यान और आसन में से आसन तथा द्वैधीभाव और संश्रय में से द्वैधीभाव अधिक उत्तम हैं। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय संधि, आसन और द्वैधीभाव को विग्रह, यान तथा संश्रय की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करते थे।

वस्तुतः षाड्गुण्य-मन्त्र मण्डल-सिद्वान्त के क्रियान्वयन की व्यावहारिक स्थिति है। तत्कालीन राज्यों के पारस्परिक कूटनीतिक सम्बन्ध इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित रहे हैं। मौर्य साम्राज्य के निर्माण में अवश्य ही षाड्गुण्य मन्त्र-विधियाँ कार्यशील रही हैं। नन्दों का उन्मूलन तथा मगध राज्य पर अधिकार कर उसका साम्राज्य में परिवर्तित करना कूटनीतिक विधियों के बिना सम्भव नहीं हो सकता था।

अध्याय—चतुर्थ

॥ उपाय ॥

अध्याय–चतुर्थ

।। उपाय ।।

राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति तथा अन्तर्राज्य सम्बन्धों के नियमन के तीन आधार–स्तम्भ में अन्तिम हैं उपाय। इन्हें नीति के नाम से सभी सम्बोधित किया गया है। उपायों में प्रमुखतः विजय एवं वशीकरण के साधनों का विश्लेषण किया गया है।

प्राचीन भारतीय राजनय में युद्ध करना तथा शत्रु को वशीभूत करना राजा के लिये आदर्श स्वीकार किया गया है। युद्ध में विजय तो अनिश्चित रहती है, लेकिन उभय पक्ष की हानि अवश्यम्भावी होती है। इसीलिये राजशास्त्र प्रणेताओं ने युद्ध के अतिरिक्त अन्य सम्भावित उपायों द्वारा ही शत्रु को वशीभूत करने का विधान किया है। इन उपायों के समुचित प्रयोग से शत्रु ही नहीं अपितु अधीनस्थ एवं मण्डलस्थ राजाओं को भी अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। उपाय नीतियों का आश्रय, परिस्थिति तथा पात्रों का विचार करके लेने का आदेश था। इसका आधार उदारवादी था।[1]

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के आचार्यों ने राजाओं की कार्यसिद्धि एवं सफलता के निमित्त षाड्गुण्य मंत्र के साथ ही उपायों का विधान किया है और उन्हें राष्ट्रीय वैदेशिक नीति के सिद्धातों के रूप में स्वीकार किया है। लौकिक संस्कृत के धार्मिक तथा काव्य साहित्य से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में कूटनीति अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी । साम, दान (या दाम), दण्ड और भेद–इन चार राजनीतिक उपायों की केवल कल्पना ही नहीं की जा चुकी थी अपितु उनके कुशल प्रयोग के उदाहरण रामायणकाल से ही मिलने लगते हैं। दण्ड या विग्रह अन्तिम उपाय माना जाता था और तीनों उपायों के असफल हो जाने पर ही युद्ध का आश्रय लेना उचित माना जाता था।[2] युद्ध द्वारा विजय भी श्रेष्ठ नहीं मानी गई।[3] सभी बलों में प्रज्ञाबल ही श्रेष्ठ है, यह धारणा

---

1. *डॉ0 लल्लन जी गोपाल : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, पृ0 150*

2. *रामा0 युद्धकाण्ड अ0 9, श्लोक 8;*

   संनिपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथंचन।

   सान्त्वभेदप्रदानां युद्धमुत्तरमुच्यते।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 102, श्लोक 22

3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 102 श्लोक 17*

उस युग में भी बलवती थी।[1] धनुर्धारी योद्धा के द्वारा छोड़ा गया बाण एक को ही मार सकता है,कभी-कभी वह एक को भी नहीं मार पाता किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त "बुद्धि" राजा सहित सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देती है।[2] विष या रसायन भी एक ही व्यक्ति को मार सकता है और शस्त्र भी, किन्तु सुविचारित मन्त्र का प्रयोग राजा को सम्पूर्ण राष्ट्र और प्रजा के साथ मार देता है।[3] अतः राज्य का मूल मन्त्र ही है[4] और विजय भी उसी के आश्रित है।[5] मन्त्रसम्पत्ति से राज्य की अभिवृद्धि होती है।[6] मन्त्रहीन राजा का राज्य नष्ट हो जाता है।[7] इसलिये राजाओं को सभी कार्य मन्त्रपपूर्वक ही करने चाहिये।[8] संक्षेप में सम्पूर्ण राजनीति ही मन्त्र के अधीन है।[9] मनु का कहना है कि जिस राजा के मन्त्र को अन्य लोग नहीं जान पाते वह राजा निर्धन होने पर भी सम्पूर्ण पृथ्वी का उपभोग कर सकता है।[10] कौटिल्य ने भी उत्साह,प्रभाव और मन्त्र इन तीनों शक्तियों में मन्त्रशक्ति को ही श्रेष्ठ बताया है।[11]

महाभारत में कहा गया है कि उपायों के समुचित प्रयोग से दुर्बल राजा भी सबल राजा को

---

1. *यद्बलानां बलं श्रेष्ठ तत्प्रवज्ञाबलमुच्यते।* *म० भा० उद्योगपर्व : अ० 37, श्लोक 55*
2. *म० भा० उद्योगपर्व : अ० 33, श्लोक 42*
3. *म० भा० उद्योगपर्व : अ० 33, श्लोक 44*
4. *याज्ञ० 1/344; मत्स्य० 220/33*
5. *रामा० 2/100-11, वार्ह० सूत्र : 4/27*
6. *मन्त्रसम्पदा राज्य वर्धते।* *चाणक्यसूत्र : 27*
7. *मन्त्रहीनो भवेद् राजा तस्य राज्यं विनश्यति।* *लघुचाणक्य 1/9*
8. *मन्त्रमलानि कार्याणि तथा राज्ञा विशेषतः।* *रामा० 5/81/54*
   मन्त्रपर्वः सर्वो प्यारम्भः क्षितिपतीनाम्। *काम० सर्ग 10, श्लोक 22*
9. *"मन्त्रमूलक नयाः सर्वे"।* *म० भा० 3/149/43*
   "मन्त्रमुलक नयः"....... । *रामा० 5/81/53*
10. *मनु० अ० 7, श्लोक 148*
11. *अर्थ० 9/1*

पराजित कर सकता है।[1] कौटिल्य के अनुसार राज्य की वैदेशिक नीति की सफलतां उपायों के उचित प्रयोग पर ही निर्भर रहती है।[2] मनु का मत है कि उपायों के समुचित प्रयोग से ही अन्य राजाओं की श्रेष्ठता के मार्ग में व्यवधान उपस्थित किया जा सकता है।[3] कामन्दक का कथन है कि उपायों द्वारा शत्रु को विकलांग किया जा सकता है।[4] शुक्र कहते हैं कि उपायों के समुचित प्रयोग से मनुष्य गज, व्याल तथा सिंह को वशीभूत ही नहीं कर लेता वरन् कठोर लोहे की भी पिघला देता है।[5] वह मदोन्मत्त हाथी के सिर पर भी पैर रख लेता है।[6] परन्तु उचित उपाय से काम न लेकर प्रबल शत्रु से युद्ध करने वाला राजा दीमक के बनाये हुये मिट्टी के ढेर के समान नष्ट हो जाता है।[7] शत्रु को नष्ट करने के लिये साम, दान, दण्ड, और भेद इन चार कूटनीतिक उपायों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता था, इसका सुन्दरतम उदाहरण दुर्योधन के उन वाक्यों में मिलता है जो उसने युद्ध होने से पूर्व धृतराष्ट्र से कहे थे। उसने धृतराष्ट्र से कहा था कि हम अपने विश्वस्त, कुशल और सुगुप्त ब्राह्मणों द्वारा कुन्ती के तीनों पुत्रों तथा माद्री के दोनों पुत्रों में भेद डलवाकर, राजा द्रुपद उसके मन्त्रियों और पुत्रों को प्रचुर धनदान से लुभाकर, मृदु एवं तीक्ष्ण उपायों द्वारा पाण्डवों में ईर्ष्या तथा द्वेष पैदा कर, कपटी पुरूषों द्वारा भूमि का वध कराकर उन्हें दुर्बल एवं हतोत्साहित कर, पृष्ठरक्षक भीम के रहने पर अर्जुन को कर्ण के मुकाबले कमजोर बनाकर, सुन्दरी रमणियों के द्वारा एक-एक को लुभाकर द्रोपदी को नाराज कर देने, उन्हें बुलाने के लिये कर्ण को भेजकर अथवा अन्य मायापूर्ण उपायों का

---

1. *म0 भा0 सभापर्व : अ0 15, श्लोक 12*
2. *अर्थ0 9/3-8*
3. *मनु0 अ0 7, श्लोक 158-159*
4. *काम0 सर्ग0 11, श्लोक 46*
5. *अयोधेयमुपायेन द्रवतामुपयनीयते।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1126*
6. *अपायेनपदं मूर्ध्निन्यस्यते मन्तहस्तिनाम्।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक1128*
   काम0 सर्ग 11, श्लोक 46
7. *अनारम्भपरो राजा बल्मीक इव सीदति ।*
   दुर्बलश्चानुपायेन बलिचं योडधितिष्ठति ।। *म0 भा0 सभापर्व : अ0 15, श्लोक 11*

यथासमय प्रयोग करके पाण्डवों को सहज ही नष्ट कर सकते हैं।[1] मन्त्रज्ञ कणिक की दृष्टि में भी राज्य की रक्षा के लिये इस प्रकार की कूटनीति का सहारा लेना परमावश्यक है। धृतराष्ट्र को उन्होंने सलाह दी है कि शत्रु को अपने कन्धों पर जब तक आवश्यक हो रखे रहो, उचित अवसर आने पर नीचे पटक कर उसी प्रकार नष्ट कर दो जिस प्रकार कि घड़े को पत्थर पर पटक कर तोड़ दिया जाता है।[2] मनु का उपदेश है कि राजा को अपनी सारी कमजोरियों को छिपाना चाहिये और शत्रु की सभी कमजोरियों का प्रयत्नपूर्वक पता लगाना चाहिये अपने अंगों की रक्षा के लिये कछुए के समान व्यवहार करना चाहिये, विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों के लिये बगुला के समान, उचित अवसर पर सिंह के समान, भेड़िए के समान और खरगोश के समान आचरण करना चाहिये।[3] यह तत्कालीन कूटनीति का वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार उपाय षाड्गुण्य-मन्त्र नीति की प्रयुक्ति के साधन का सिद्धान्त है।

उपायों के प्रकार—

प्राचीन आचार्यो ने कार्यसिद्धि के सर्वमान्य चार उपाय-साम,दान,भेद और दण्ड माने हैं। इनकी संख्या चार होने के कारण इसे चतुरूपाय कहा जाता है। परन्तु कामन्दक ने राजा की सफलता के लिये सात उपायों साम, दाम, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल की व्यवस्था की है।[4] इस प्रकार कामन्दक ने राजनय को सप्त सिद्धांती घोषित किया है।

महाभारत में अनेक स्थानों पर चार उपायों का उल्लेख मिलता है,[5] परन्तु इस ग्रन्थ में पाँच और सात उपायों का वर्णन भी है। वनपर्व में साम, भेद, दान, दण्ड के अतिरिक्त उपेक्षा नीति का वर्णन है।[6] सभापर्व में इनकी सख्या सात बतायी गई है जो मंत्र, औषध, इन्द्रजाल , साम, दान भेद

---

1. *म0 भा0 आदिपर्व : अ0 201*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 17-18*
3. *मनु0 अ0 7, श्लोक 105-106; म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 25*
4. *काम0 सर्ग 18, श्लोक 3*
5. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 103/36, 166/30, 355/6;*
   सभापर्व : 5/62; वनपर्व : 150/41; उद्योगपर्व : 33/44
6. *म0 भा0 वनपर्व : अ0 150, श्लोक 42*

तथा दण्ड हैं।[1] परन्तु मुख्यतः साम, दान भेद और दण्ड को ही कार्यसिद्धि का यथेष्ट साधन माना गया है।

रामायण में चार उपायों का उल्लेख किया गया है, परन्तु माया तथा इन्द्रजाल का भी उल्लेख यदाकदा मिलता है।[2] मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा बृहस्पतिसूत्र में भी सात उपायों का उल्लेख किया गया है।[3]

बृहस्पतिसूत्र में इन्द्रजाल के स्थान पर वध[4] का उल्लेख करते हुये उपायों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—सामान्य तथा विशेष। सामान्य वर्ग में साम, दान, भेद एवं दण्ड चार उपायों की गणना की गयी है[5] तथा विशेष वर्ग में माया, उपेक्षा तथा वध को स्थाान दिया गया है।[6]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूलतः उपायों की संख्या चार थी, किन्तु क्रमशः इनकी अभिवृद्धि होती गयी और अन्ततः वह सात हो गये। माया (कपटपूर्ण चालाकी) तथा इन्द्रजाल (मंत्र प्रयोग के द्वारा शत्रु को यह आभास कराना कि प्रतिद्वन्दी के पास अपार सैन्य शक्ति है) को सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, उन्हें राजनय के कार्यागों (राजदूतों तथा गुप्तचरों) की कार्यविधि का एक अंगमात्र मानना ही उचित है। ध्यातव्य है कि उत्तरयुगीन साहित्य तथा अभिलेखों में प्रधानतः चार उपायों का ही उल्लेख प्राप्त होता है।[7]

साम—

साम का अर्थ है अपने व्यवहार से दूसरों को सन्तुष्ट तथा प्रसन्न करके अपने वशीभूत तथा अनुकूल बनाना। 'सान्त्व' इसका पर्यायवाचक शब्द है। सज्जन को वश में करने का तथा

---

1. *म0 भा0 सभापर्व : अ0 5, श्लोक 21*
2. *रामा0 युद्धकाण्ड : 80/41, 107/16-18; सुन्दरकाण्ड : 14/3; अयोध्याकाण्ड : 100/68*
3. *मत्स्य0 222/2; अग्नि0 226/5-6; विष्णुधर्मोत्तर0 2/146-149*
4. *बृहस्पतिसूत्र : 5/263*
5. *बृहस्पतिसूत्र : 5/4-7*
6. *बृहस्पतिसूत्र : 5/2-3*
7. *रघुवंश : 17/68; यशस्तिलक चम्पू : 3/761; शुक्र0 4/23; कथासरित्सागर 6/8/200; जैन आदिपुराण : 11/89*

अपने अनुकूल बनाने का सर्वोत्तम उपाय साम ही है।

साम शब्द की परिभाषा करते हुये कौटिल्य कहते है। कि महत्वपूर्ण पद पर नियुक्ति अथवा विशेष मान—सम्मान प्रदान करना ही साम है।[1] दूसरे शब्दों में, प्रतिपक्षी को अपने अनुकूल बनाने के लिये उसे विशेष प्रतिष्ठा देना सामनीति है।

शुक्र के अनुसार जब शत्रु राजा के साथ सहयोग की नीति अपनायी जाती है और यह भी निश्चय किया जाता है कि एक-दूसरे की हानि नहीं की जायेगी, तब इसे शत्रु के प्रति साम नीति का पालन समझा जाता है।[2]

आचार्य हेमचन्द्र का विचार है कि, "कार्यसिद्धि प्रियालापै : साम" अर्थात् मिष्ठ वचन से कार्य की सिद्धि करना साम कहलाता है।[3]

कौटिल्य ने साम के दो प्रकार बताये हैं[4]—

1. सन्तोष सूचक परन्तु वस्तुतः असन्तोषप्रद।
2. असन्तोष सूचक परन्तु वस्तुतः सन्तोषजनक।

शुक्र ने मित्र तथा शत्रु के विचार से साम उपाय दो प्रकार के माने हैं :-

1. मित्र विषयक—सान्त्वनापूर्ण वचनों द्वारा मित्र को आश्वस्त करना।
2. शत्रु विषयक—शत्रु को यह कहहर आश्वस्त करना कि उभय पक्षों को एक दूसरे का अहित नहीं वरन् आवश्यकता पड़ने पर परस्पर सहायता करनी चाहिये।[5]

मत्स्य पुराण के अनुसार साम दो प्रकार का होता है[6]—

1. तथ्य अर्थात् वास्तविक, सच्चे हृदय से किया हुआ।
2. अतथ्य अर्थात् झूठा और दिखावटी।

अर्थशास्त्र में साम उपाय की प्रयोग विधि का भी उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार

---

1. *अर्थ0 9/5/9; मनु0 7/198 पर कुल्लूक भट्ट की टीका।*
2. *परस्परमनिष्टनंचिन्तनीयंत्वयामया।*
   सुसहाप्यंहिकर्तव्यंशत्रौसामप्रकीर्तितम्।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 28
3. *अर्हन्नीत : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 17*
4. *अर्थ0 9/5/26*
5. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 25-28*
6. *डॉ0 शीलवती गुप्ता : तुलसी साहित्य में रामराज्य की परिकल्पना, पृ0 110, मत्स्य0 222/3*

प्रतिपक्षी की जाति, कुल, श्रुतिज्ञान एवं सद्वृत्ति की प्रशंसा करके तथा दोनों पक्षों की परम्परागत मैत्री सम्बन्धों का उल्लेख करते हुये शान्त करना चाहिये।[1]

कौटिल्य[2] तथा सोमदेव सूरि[3] ने साम उपाय के पांच आधार माने है :—

1. गुण संकीर्तन—

प्रतिपक्षी को अपने अनुकूल करने के लिये उसके गुणों यथा -कुल, शरीर, विद्धता, कर्म, प्रकृति, धन आदि की उसके सामने प्रशंसा करना।

2. सम्बधोपाख्यान—

जिन पारस्परिक सम्बन्धों से प्रतिपक्षी के साथ मित्रता दृढ़ होती है उन्हें उसके प्रति कहना।

3. परस्परोपकारसंदर्शन—

दोनों पक्षों द्वारा एक दूसरे के प्रति किये गये उपकारों का वर्णन करना अथवा प्रतिपक्षी की भलाई करना।

4. आयति प्रदर्शन—

"हम लोगों की मैत्री का परिणाम भविष्य के जीवन को सुखी बनाना है", इस प्रकार की बात को प्रतिकूल व्यक्ति से प्रकट करना अथवा भविष्य में पारस्परिक मित्रता से दानों पक्षों को होने वाले लाभ को इंगित करना।

5. आत्मोपनिधान—

प्रतिपक्षी को आत्मसमर्पण करना अथवा प्रतिपक्षी को यह वचन देना कि मेरा धन आप अपने कार्य में प्रयोग कर सकते हैं।

कामन्दक ने साम के पांच आधार बतलाये हैं—परस्पर उपकारों का कीर्तन, परस्पर गुण कर्म की प्रशंसा, परस्पर सम्बन्ध का व्याख्यान, भविष्य के कार्यो एवं योजनाओं को प्रकाशित करना तथा मनोहर, मीठी और साधु वाणी में—"मै तुम्हारा हूँ" ऐसा कहकर स्वार्पण कर देना।

---

1. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 6, वार्ता 23*
2. *अर्थ0 अधि0 2, अ0 10, वार्ता 50-55*
3. *नीतिवाक्यमृत0 समुद्देश, 29, श्लोक 63*

कामन्दक का मत है कि जिस वाणी से उद्वेग न हो वह साम वाणी कहलाती है। साम वाणी सत्य, प्रिय स्तुति बतलायी गयी है। जहाँ तक संभव हो, राजाओं को साम उपाय का अवलम्बन करना चाहिये। उन्होंने दैत्य और देवताओं के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। दैत्य और देवताओं ने साम उपाय से अमृत के लिये क्षीर सागर का मन्थन कर अमृत की प्राप्ति की थी, तदन्तर देवताओं ने दैत्यों को अमृत से वंचित किया। साम के परित्याग से धृतराष्ट्र पुत्र शीघ्र ही नष्ट हो गये थे।कामन्दक का मत है कि आलसी, शांत उपाय की चेष्टा वाले क्षय और व्यय की अधिकता से सन्तप्त, निस्तेज, भयभीत, मूर्ख, स्त्री, बालक, दुर्जन, पशु, धार्मिक, मित्रता प्रधान वाले व्यक्तियों को सान्त्वना से साधे अर्थात् समझा—बुझाकर अपने वश में करें।[1]

सोमेश्वर ने भी सामनीति के पाँच आधारों का वर्णन किया है—

1. कर्ण सुभग अर्थात् प्रतिपक्षी के प्रति मधुर वचनों का प्रयोग।
2. दैविक अर्थात् देवशपथ द्वारा प्रतिपक्षी को आश्वस्त करना ।
3. स्मारक अर्थात् पूर्ववर्ती सम्बन्धों का स्मरण दिलाना।
4. लोभज अर्थात् धनादि देकर मित्रता स्थापित करना।
5. निजार्पण अर्थात् प्रतिपक्षी के हित में स्वयं अपने को अर्पित कर देने का वचन देना।[2]

---

1. *परस्परोपकारणां कीर्त्तिन गुणकर्मसु।*
   सम्बन्धस्य समाख्या पमायत्याः सत्प्रकाशनम्।।
   वाचा पैशलया साधु तवाहमिति चार्पणम्
   इति सामप्रयोगज्ञैः साम पच्चविधं स्मृतम।।
   क्षीराब्धमथितः साम्ना फलायामर दानवेः।
   निजघ्निरे धार्त्तराष्ट्रसामद्वेशिणोडचिरात् ।।
   भींत मूर्ख स्त्रियं बालं धर्मिक दुर्जन पशुम्।
   मैत्रीप्रधानं कल्याणगुद्धिसान्त्वेन साधसेत्।।
   अन्यान्यशंक योद्भिन्नान्दुटान्दण्डस्य कारणात्।।

   काम0 सर्ग 17, श्लोक 4, 5, 18, 44, 45

2- *मानसोल्लास : 2/17/979-980*

दान—

दान उपाय का प्रयोग प्रतिपक्षी से अपनी प्रचुर सम्पति के संरक्षणार्थ उसे थोड़ा-सा धन देकर प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। उल्लेखनीय है कि संस्कृत का 'दान' शब्द हिन्दी तक आते-आते सम्भवतया साम के सादृश्य से 'दाम' बन गया।[1]

कौटिल्य दान की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—"उपप्रदानमर्थोपकार: अथवा अनुग्रहपरिहारौ कर्मस्वायोगो वा दानम्"[2] अर्थात् अनुग्रह (धन इत्यादि का देना) और परिहार (स्वयं प्राप्त होने वाले धन का न लेना या त्याग देना) तथा किसी कार्य के सम्पूर्ण फल को कार्यकर्त्ता को ही दे देना।

सोमदेवसूरि के अनुसार जब कोई राजा अपनी अपार सम्पत्ति के रक्षार्थ विजिगीषु राजा को कुछ धन देकर संतुष्ट करता है तब दाननीति होती है। इसे वह उपप्रदान की संज्ञा प्रदान करते हैं।[3]

कामन्दक का मत है कि यदि शत्रु अथवा बिगड़े हुये मित्र को शान्त करने के लिये आश्वासनपूर्ण वचन, भूमि, धन-धान्य आदि का दान करने के लिये आश्रय दिया जाय, दान उपाय कहलाता है।[4]

चण्डेश्वर के विचारानुसार शत्रु को शान्त करने के लिये सुवर्णादि दे देना दान उपाय कहलाता है।[5]

हेमचन्द्र ने कहा है कि, "दानेन दाम च"[6] अर्थात् अपने कार्य की सिद्धि हेतु अर्थ (धन) आदि देकर शत्रु को अपने आधीन करना दाम कहलाता है। उनके अनुसार स्वर्ण, हाथी, घोड़ा, धन

1. *डॉ0 शीलवती गुप्ता : तुलसी साहित्य में राम राज्य की परिकल्पना, पृ0 110*

2. *अर्थ0 2/10/56, 9/5/10*

3. *वह् वर्थ सरंक्षाणाथाल्पार्थ नानेन परप्रसादनं उपप्रदानम्।* *नीतिवाक्यमृतम : 29/65*

4. *य: सम्प्रदाप्तधनोत्सर्ग उत्तमाधममध्यम:।*
प्रतिदानं तथातस्य गृहीत स्यानुमोदनम् ।। *काम0 सर्ग 17, श्लोक 6*

5. *राजनीतिरत्नाकर : साधारणपालनादि राजकृत्यम्*

6. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 17*

आदि देकर अपना कार्य पूर्ण कराना यह दान या दाम के अन्तर्गत आता है।[1]

दान के प्रकार—

कौटिल्य के अनुसार दान के पाँच भेद हैं[2]—

1. देय विसर्ग अर्थात् स्वयं को प्राप्त होने वाले धन का त्याग करना।
2. ग्रहीतानुवर्तन अर्थात् शत्रु पक्ष के पूर्वजों द्वारा गृहीत भूमि के लिये प्रतिषेध न करना।
3. प्राप्त प्रतिपादन अर्थात् गृहीत भूमि को फिर वापस दे देना।
4. स्वद्रव्यदान अर्थात् प्रतिपक्षी को स्वयं अपना धन प्रदान करना।
5. परस्वेषु स्वयं ग्राहदान अर्थात् शत्रु राज्य में प्राप्त धन प्राप्तकर्ता को ही दे देना और अपना अंश न ग्रहण करना।

कौटिल्य भूमि, द्रव्य, कन्या तथा अभय दान को भी दानोपाय के साधन मानते हैं।[3] एक अन्य प्रसंग में उन्होंने दानोपाय प्रयोग विधि का उल्लेख किया है कि सामर्थ्य के बहाने तथा दुख और सुख के अवसर पर दान देकर सत्कार किया जाना चाहिये।[4]

मनु तो दान उपाय का उल्लेख मात्र करते हैं, परन्तु भाष्यकार कुल्लूक भट्ट के अनुसार इस नीति का उद्देश्य, गज, अश्व, रथ, हिरण्य आदि प्रदान कर प्रतिपक्षी राजा अथवा उसके समर्थकों और अनुयाइयों को उपजापित करना अथवा प्रतिपक्ष में भेद उत्पन्न करना था।[5]

कामन्दक ने दान उपाय के पांच भेद बतलाये है।[6]

1. अपने शत्रु अथवा बिगड़े हुये मित्र का जो धन-धान्य एवं द्रव्य आदि देय है, उनको ज्यों का त्यों लौटा देना।

---

1. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 18*
2. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 6, वार्ता 26-27*
3. *भूमिद्रव्यकन्यादानभयस्य चेति दानमाचरेत्। अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 7*
4. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 5, वार्ता 27*
5. *मनु0 7/198 एवं उस पर कुल्लूक भट्ट की टीका।*
6. *काम0 सर्ग 17, श्लोक 7*

2. अपना जो धन-धान्य जो भूमि आदि शत्रु के अधिकार में आयी है, उसके दान का अनुमोदन करना।
3. पूर्व में देय द्रव्य अथवा भूमि को प्रदान करना।
4. राज्य से शत्रु राजा द्वारा स्वयं धन-धान्य, भूमि आदि ग्रहण करना।
5. शत्रु से लूट में प्राप्त हुये धन-धान्य आदि को छोड़ देना।

सोमेश्वर ने उपप्रदान शब्द का प्रयोग किया है, उनके अनुसार दान के सोलह रूप हैं[1]—

अभीष्ट-उसकी इच्छित वस्तु प्रदान करना।

हायन- एक वर्ष तक उसके परिवार के भरण- पोषण हेतु धन देना।

देश्य-शत्रु को अपना राज्य समर्पित करना।

करज- उसको राज्य की आय प्रदान करना।

दन्ति- गज प्रदान करना।

सप्तिज- अश्व प्रदान करना।

ग्रामिज- ग्राम तथा उसकी आय प्रदान करना।

शासन- स्थायी देय जो पुत्र- पौत्रों द्वारा भी न लुप्त किया जा सके।

भूषावसन- रत्न, सुन्दर आभूषण तथा विभिन्न प्रकार के वस्त्र आदि देना।

प्रतिपत्तिज- आसन, चामर, छत्र, यान आदि का सम्मानपूर्वक दान।

आकर-विभिन्न प्रकार के आकरों का स्वामित्व प्रदान करना।

रूक्मज- मुद्रादान।

कन्यादान- सुन्दर कन्या का विधिवत दान।

वैश्य- रूप यौवन सम्पन्न नृत्य-गीत विशारद वेश्या का दान।

बेलाकर- समुद्रतटीय नगर का दान करना।

शुक्र ने साम की भाँति दान के भी दो प्रकार माने हैं—मित्र विषयक तथा शत्रु विषयक। "मेरा सर्वस्व आपका ही है" कहकर मित्र को सन्तुष्ट करना मित्र विषयक तथा कुछ भूमि तथा धन

---

1. *मानसोल्लास : 2/19/1010-1027*

देकर शत्रु को सन्तुष्ट करना शत्रु विषयक दान है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जात है कि धन, भूमि, सेना, अश्व, गज वस्त्राभूषण एवं कन्या इत्यादि देकर एक राजा अपने से अधिक बलवान प्रतिपक्षी को शान्त करता है तथा समबल या निर्बल राजा अपने अनुकूल करता है अथवा इसके माध्यम से शत्रु को मित्र या अनुयायियों को अपने अनुकूल करके शत्रु के बल को क्षीण करता है।

भेद—

वैदिक काल से ही आर्यो की " सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाने"[2] और "समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एक ही सार्वभोम सम्राट"[3] देखने की प्रबल अभिलाषा थी। राज्य की अभिवृद्धि करने का लक्ष्य प्रत्येक राजा के सामने सिंहासनारूढ़ होने के काल से ही रहता था।[4] गो, पुत्र-पौत्र[5], जल[6] और उर्वरा भूमि के लिये वैदिक आर्य निरन्तर लालायित रहते थे।[7] वैदिक युग में इन सभी लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन निश्चय ही युद्ध था। आर्यो-अनार्यो और स्वयं आर्यो के विभिन्न कबीलों के मध्य युद्ध की स्थिति प्राय: बनी ही रहती थी। अत: शत्रुओं की प्रबलता, युद्ध की विभाषिका और उत्कृष्ट विजयाभिलाषा ने वैदिक राजाओं का शत्रु के गुप्त खजाने, सेना एवं दुर्ग आदि के रहस्यों का गुप्तरीति से पता लगाने,[8] शत्रुओं में भेद डालने[9] और दूसरे राजाओं (कबीलों के प्रमुखों) को कुछ

---

1. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 25-29*
2. *कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। ऋ0 10/2/3*
3. *सार्वभोम: सर्वायुष: आन्तादापराध्यात् पृथिव्ये समुद्रपर्यन्ताया एकराट्। ऐत0 ब्रा0 8/18*
4. *इममिन्द्र वर्धय क्षतियम। अथर्व0 4/5/6*
5. *डॉ0 आर0 के मुखर्जी : इन्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्सिएन्ट इण्डिया, पृ0 14*

   श0 ब्रा0 1 /6/3/13
6. *ऋ0 1/32*
7. *ऋ0 6/25/4*
8. *ऋ0 10/108*
9. *श0 ब्रा0 3/4/2/3*

ले-देकर अपनी ओर मिला लेने[1] या उनसे मित्रता कर लेने[2] को प्रेरित किया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में सन्धि और सहयोग के साथ-साथ भेद जैसे कूटनीतिक उपाय भी अस्तित्व में आ गये।

जिस उपाय के अपनाने से परस्पर संहत-संघठित शत्रु में भेद उत्पन्न हो जाये, भेद उपाय कहलाता है। भेद का साधारण अर्थ है मत भिन्नता अथवा पृथकरण की भावना उत्पन्न करना। इस प्रकार शत्रुराज्य की प्रकृतियों में तथा शत्रु के राज्यों में फूट डालना भेदनीति है। इसके माध्यम से शत्रु तथा उसके मित्रों में भेद उत्पन्न करके उसकी शक्ति को क्षीण किया जाता है और अपनी शक्ति को बढ़ाया जाता है।

कौटिल्य के अनुसार प्रतिपक्षी राजा तथा उसके सम्भावित मित्र एवं सहायकों, सामन्त आदि तथा उसके बन्धु-बान्धव को अपने अनुकूल बनाकर उसके द्वारा कोष, सेना, भूमि या दाय भाग की याचना करवा देना तथा इस प्रकार उनमें फूट डाल देना भेद नीति कहलाती है।[3]

सोमदेव गुप्तचरों तथा अन्य प्रकार से शत्रु की परस्पर एक दूसरे के प्रति सन्देह एवं तिरस्कार उत्पन्न कराकर फूट डालने को भेदनीति की संज्ञा देते हैं।[4] उनके अनुसार जो राजा शत्रु-समूह में भेद न करके युद्ध करने के लिये उत्साह करता है, वह वह ऊँचे वृक्ष के स्कन्ध-प्रदेशों पर लगे बांस वृक्ष के खींचने वाले व्यक्ति के समान आचरण करता है[5] अर्थात् जिस प्रकार ऊँचे वृक्ष के स्कन्ध पर लगे हुये बांस वृक्ष का खींचना असम्भव है उसी प्रकार बिना भेद डाले शत्रु समूह पर विजय प्राप्त करना भी कठिन है।

शुक्र शत्रु को साधन हीन करना, बलवान का आश्रय लेना आदि को भेदनीति कहते हैं।[6]

---

1. *श0 ब्रा0 1/6/3/13*
2. *श0 ब्रा0 3/4/2/1/2*
3. *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 8*
4. *नीतिवाक्यामृतम : षाड्गुण्य समुद्देश, श्लोक 74*
5. *अभित्वा शत्रुसंघात यः पराक्रमते नृपः।*
   स तुंग स्तम्बंलग्नवीरणाकर्षकायते ।।   यशस्तिलक0 आशवास 3, श्लोक 94
6. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 30*

जिन साधनों से शत्रु के सेनापति, मंत्री, प्रजा और अत:पुर की रानियों आदि में भेद उत्पन्न हो जाय वह भेद के अन्तर्गत आता है।[1]

हेमचन्द्र लिखते हैं कि राज्याधिकारियों में परस्पर एक दूसरे में भिन्नता करवाना भेदनीति के अन्तर्गत आता है।[2]

कामन्दक ने भेद नीति के तीन आधार बताये हैं[3]—

1. स्नेहरागापनयन— स्नेह और राग दूर कर देने के साधन अर्थात् शत्रु के स्नेही एवं उसके प्रति प्रेम रखने वालों में भेद उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है।

2. संहर्षोत्पादन— शत्रु पक्ष में विग्रह एवं कलह उत्पन्न कर देना अर्थात् जब शत्रु अत्याधिक हर्षित होता है तो उसमें अंहकार भी आ जाता है जिसके वशीभूत होकर शत्रु पक्ष के सहृद जन परस्पर धृष्टता का आचरण करने लगते है जिससे उनमें फूट पड़ जाती है।

3. सन्तर्जन— शत्रु पक्ष में परस्पर तिरस्कार की भावना उत्पन्न कर देना अर्थात् डराकर शत्रु एवं उसके सहायकों में भय उत्पन्न करना है।

कौटिल्य ने भेद उत्पन्न कराने की विधि का भी वर्णन किया है। दो राजा आपस में द्वेष, बैर तथा भूमि अपहरण करने की आशंका से शत्रुवत् हो जाते हैं। भीरू राजा को प्रतिघात के द्वारा भेदित किया जा सकता है। अन्यान्य राजाओं को मिथ्या प्रचार के द्वारा एक दूसरे से पृथक किया जा सकता है। वह सत्री प्रभृति गूढ़पुरूषों द्वारा मिथ्या प्रचार एवं कपट लेख आदि के प्रयोग से शत्रु तथा उसके समर्थकों में भेद उत्पन्न कराने का भी उल्लेख करते हैं। उनका विचार है कि शत्रु के सैनिक, अमात्य एवं सम्बन्धी तथा मित्रों को भी भेदनीति के द्वारा उससे विमुख करा देना चाहिये।[4] कौटिल्य ने मिथ्या प्रचार के साधनों का विवरण देते हुये अमात्य, सैनिक, अन्य अधिकारियों एवं जनपद निवासियों को अपने राजा से विमुख करने तथा सघंराज्य में फूट डालने के उपाय बताये हैं।

---

1. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1030*
2. *भिन्नताकरणं भेदो मिघा राज्याधिकारषुफ। अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1 श्लोक 17*
3. *स्नेहरागाकपनयनं सहषोत्पादन तथा।*
   सन्तर्जन च भेदज्ञेभेदस्तु त्रिधि: स्मृत:।। *काम0 सर्ग 17, श्लोक 8*
4. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 6, वार्ता 28-60*

सोमदेव ने भी पारस्परिक शंका उत्पन्न कराना तथा निर्भर्त्सन को भेद–नीति का प्रमुख साधन माना है। इस नीति का सफल प्रयोग तीक्ष्ण गूढ़ पुरूष, उभयवेतन चर तथा योग प्रयोग द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है।[1]

सोमेश्वर ने कहा है कि छः प्रकार से भेद उत्पन्न किया जा सकता है[2]–

1. प्राणहा अर्थात् प्राण हरण की बात कहकर।

2. मान भंग अर्थात् यह कह कर कि राजा उसका मान भंग करेगा।

3. धनहानि अर्थात् राजा से यह कहना कि अमुक व्यक्ति धनी है, परन्तु वह आपको कुछ नहीं देना चाहता, इसलिये उसका धन हरण कर लेना चाहिये तथा उस व्यक्ति से यह कहकर कि राजा उसका धन हरण कर लेगा।

4. बन्धक अर्थात् किसी व्यक्ति से यह कहना कि राजा उसे बन्दीगृह में डाल देगा।

5. दाराभिलाषक अर्थात् यह कहकर कि राजा उसका वध करके उसकी पत्नी का हरण कर लेगा।

6. अंग भंग अर्थात् राजा से यह कह देना कि अमुक व्यक्ति उसका अंग– भंग करके स्वयं राज्य प्राप्त करना चाहता है।

प्रायः यह सभी भेद के उपाय अर्थशास्त्र में वर्णित हैं। भेदनीति शत्रु की शक्ति को क्षीण करने की सर्वोत्तम रीति है। सोमेश्वर का यह कथन सत्य है कि जिस प्रकार हंस नीर और क्षीर को पृथक कर देता है उसी प्रकार भेदनीति शत्रु पक्ष को छिन्न–भिन्न कर देती है।[3]

दण्ड–

दण्ड का अर्थ है दमन करना। शत्रु के द्वारा किये जाने वाले अपकार हेतु उसे दण्डित करने के लिये साधनों को अपनाना दण्डोपाय कहलाता है। यह अन्तिम उपाय है।

कौटिल्य के अनुसार प्रकाश युद्ध तथा तूष्णी युद्ध एवं विष प्रयोग आदि के द्वारा शत्रु को

---

1. *परस्परशंकराजननं निर्भर्त्सन पवा भेदः। नीतिवाक्यामृतम : 29/66*

2. *मानसोल्लास : 2/18/989*

3. *मानसोल्लास : 2/18/986-87*

वश में करना ही दण्डोपाय है।[1]

सोमदेव का मत है कि शत्रु का वध करना, उसे दुखित करना, या उसके धन का उसके धन का अपहरण करना दण्डनीति है।[2]

शुक्र के अनुसार शत्रु को पीड़ित करना, उसके धनधान्य का छीनना या क्षीण करना, उसके छिद्र को प्रकट करना, उसके विरूद्ध सेना संगठित करना, उग्रनीति के साथ भय दिखाना आदि दण्डनीति में आते है।[3]

हेमचन्द्र कहते है कि शत्रु के वध का प्रयत्न करना और इस प्रकार उसका अपकार कर उसे नष्ट करना दण्डनीति के अन्तर्गत आता है। शत्रु का धन छीन लेना, उसका वध करना, उसे बनाकर रखना इस प्रकार के किसी उपाय के द्वारा शत्रु का अपकार करना दण्ड बताया गया है।[4]

शत्रु को दमन करने के तीन उपाय बतलाये गये है[5]—(1) वध, (2)अर्थ–हरण तथा (3) परिक्लेश।

वध–दण्ड का अर्थ है शत्रु का बलपूर्वक विनाश करना। अर्थ–दण्ड का अभिप्राय है उसे धन या भूमि देने के लिये बाध्य करना तथा परिक्लेश दण्ड से अभिमत अन्य प्रकार से पीड़ित करना है।

कौटिल्य का भी विचार है कि अपने प्रतिकूल आचरण करने वाले राजा को उपांशुदण्ड से ही अवनत करना चाहिये, क्योंकि प्रकट दण्ड देने से अन्य वशीभूत राजाओं में उद्वेग फैल जाने का भय रहता है।[6] जब प्रकट दण्ड देने से अन्य दण्डोपनत राजाओं के उत्तेजित हो जाने का भय हो तब उपांशुदण्ड का ही प्रयोग करना चाहिये।[7]

---

1. *अर्थ0 7/16/9*
2. *वध: परिक्लेशोअर्थिहरणं च दण्ड:।।   नीतिवाक्यामृत : षाड्गुण्य समु0, वार्ता 75*
3. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 31–32*
4. *अर्हन्नीति : अ0 2, प्रक0 1, श्लोक 18*
5. *अर्थ0 2/10/58; काम0 18/9 ; नीतिवाक्यामृत : 29/67*
6. *काम0 सर्ग 17, श्लोक 10–12*
7. *अर्थ0 7/16/33–34*

कौटिल्य तथा कामन्दक ने स्वीकार किया है कि दण्ड का प्रयोग परपक्ष में ही नहीं स्वपक्ष में भी किया जाना चाहिये। स्वपक्ष में इसका प्रयोग ऐसे व्यक्तियों पर किया जाना चाहिये जिनसे जनता द्वेष रखती हो तथा ऐसे व्यक्तियों को उपांशुदण्ड द्वारा दण्डित करना चाहिये जिनके वध से प्रजा के उत्तेजित हो जाने का भय हो।[1]

सोमेश्वर दण्ड को अत्यन्त कष्टतम उपाय मानते हैं और आदेश देते हैं कि जो शत्रु अन्य उपायों द्वारा वशीभूत न किया जा सके उसी के विरूद्ध दण्ड प्रयोग करना चाहिये और वह भी उसी समय जब स्वयं पर्याप्त शक्तिशाली और बल सम्पन्न हो वह दण्ड के दो प्रकार मानते हैं–(1) बलिष्ठ शत्रु के प्रति प्रयुक्त होने वाले दण्ड तथा (2) निर्बल के प्रति प्रयुक्त होने वाला दण्ड।

प्रथम प्रकार के दण्ड के बारह उपभेद हैं।[2]

दण्ड के दो प्रमुख भेद है–

1. प्रकाश दण्ड–

प्रकाश दण्ड का अर्थ है। शत्रु को प्रत्यक्ष रूप से दण्ड देना। प्रजा द्वेषी पुरूषों और शत्रु पर इसका प्रयोग करना चाहिये। इस दण्ड का प्रयोग अपनी अपेक्षा निर्बल शत्रु पर किया जाता है।

2. अप्रकाश दण्ड या उपांशु दण्ड–

अप्रकाश दण्ड का अर्थ है शत्रु का गुप्त रूप से विनाश करना। जिन पुरूषों को दण्डित करने से प्रजा उत्तेजित होती है, राजा के समीपी जो प्रजा पीड़क हों इन सभी को अप्रकाश दण्ड देना चाहिये।इस दण्ड का प्रयोग अपनी अपेक्षा अधिक बलशाली शत्रु पर, जिसका प्रत्यक्ष रूप से बध करना कठिन हो, किया जाता है। ऐसे शत्रु को अप्रकाश दण्ड जैसे - विष प्रयोग, उपनिषद् योग (अभिचार), विषाक्त-शस्त्र एवं औषधि आदि के प्रयोग से नष्ट करना ही उचित है।[3]

1. शत्रु के ग्रामों ण्वं कस्बों पर आक्रमण करके वहाँ की धन-सम्पत्ति को छीन लेना।
2. शत्रु के दुर्गो का परिवेष्टन कर वहां के निवासियों को पीड़ित करना।
3. शत्रु के निवास-स्थान को नष्ट करना।

---

1. *अर्थ0 7/16/41*
2. *अर्थ0 5/1; काम0 17/10-11*
3. *मानसोल्लास : 2/20*

4. शत्रु राज्य के समस्त धान्य को नष्ट कर वहाँ दुर्भिक्ष की कृत्रिम स्थिति उत्पन्न करना।
5. शत्रु राज्य के नागरिकों को बन्दी बनाना।
6. शत्रु देश की जनता को अभय दान देकर उसके भू-क्षेत्र को आत्मसात करना।
7. शत्रु क्षेत्र का वनोन्मूलन करना, जलाशयों को भग्न करना तथा ग्रामों को नष्ट करना।
8. शत्रु से युद्ध करना।
9. शत्रु देश के नागरिकों को अंग-भंग करना।
10. शत्रु देश के पशुधन का बलपूर्वक अधिग्रहण करना।
11. शत्रु को उसके देश से निष्कासित कर साधनहीन बना देना।
12. शत्रु के नगर तथा पट्टन पर आक्रमण करके वहाँ के धन-धान्य, पशु, वस्त्र तथा अन्य सामग्री पर अधिकार करना।

इसके अतिरिक्त कौटिल्य और कामन्दक की भाँति, सोमेश्वर ने दण्ड के तीन अन्य प्रकारों का भी उल्लेख किया है-(1) वध, (2) घात तथा (3) अभिचार उनके अनुसार इनका प्रयोग बलहीन शत्रु के प्रति ही करना चाहिये।[1]

दण्ड के उपर्युक्त बारह उपभेद वस्तुतः युद्ध में प्रयुक्त होने वाली क्रियायें हैं। डा0 शिवशेखर मिश्र के अनुसार ये दण्ड अधिक व्यक्तियों, पुर, जन, राष्ट्रआदि से सम्बन्धित होने के कारण सर्वांगीण हैं और शत्रु को समूल नष्ट करने के लिये इनका प्रयोग किया जाता है, परन्तु विष वध तथा अभिचार दण्ड एकाकी है और किसी शत्रु विशेष को नष्ट करने के लिए इनको उपयोग में लाया जाता है।[2]

माया—

माया का प्रयोग शत्रु को भ्रम में डालने के लिये किया जाता था। महाभारत में बृहस्पति का कथन है कि शत्रु द्वारा प्रयुक्त माया विपक्ष को बड़े कष्ट में डाल देती है।[3]

---

1. *मानसोल्लास : 2/20*
2. *डॉ0 शिव शेखर मिश्र : मानसोल्लास- एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 238*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 104, श्लोक 24*

कामन्दक ने दो प्रकार की माया का वर्णन किया है—

(1) मानुषी और (2) दिव्या अथवा अमानुषी।

मानुषी माया वह है जिसमें देव प्रतिमाओं और स्तम्भों के भीतर सैनिक एवं चर छिपकर अनेक चेष्टा करते हैं तथा अवसर पाकर शत्रु पर आक्रमण कर देते हैं। कहीं पुरूष स्त्रियों के वस्त्र धारण कर लेते हैं तथा रात में अद्‌भुत दर्शन दिखाते हैं। बेताल, पिचाश और देवताओं के समान रूप धरना और आवश्यकता पड़ने पर दूसरा रूप धारण कर लेना, इन सभी को कामन्दक ने मानुषी माया के नाम से सम्बोधित किया है। इस भाँति अनेक प्रकार के मायावी रूप धारण करके शत्रु पक्ष में भय उत्पन्न करना एवं अवसर पाकर उस पर प्रहार करना ही माया हैं। भीम ने स्त्री का रूप धारण करके कीचक की हत्या की थी।

दिव्या माया का विश्लेषण भी कामन्दक ने किया है। दिव्या माया में अनेक प्रकार के छलों द्वारा शत्रु पक्ष को आश्चर्य में डाल दिया जाता था और उसी अवस्था में उस पर प्रहार किया जाता था। इच्छानुसार स्वरूप धारण करना, अस्त्र-शस्त्र, पत्थर तथा जल की वर्षा करना, आकाश में बादल छा जाना इत्यादि क्रियायें दिव्या माया के अन्तर्गत आती हैं। राजा नल ने दिव्या माया के प्रभाव से दीर्घकाल तक अपने को गुप्त रखा था।[1] माया का सर्वोत्तम उदाहरण महाभारत के द्रोणपर्व में है, जब माया-विशारद शकुनि ने युद्ध के अवसर पर श्रीकृष्ण और अर्जुन को माया-नीति से भ्रमित अथवा मोहित कर दिया था, यद्यपि अर्जुन ने इस माया को विफल कर दिया था।[2]

---

1. *देवताप्रतिमस्तम्भसषिरान्तर्गतैनरैः।*

पुमान्स्त्रीयस्त्रसंवीतो निशि चादभूतदर्शनम्।।

बेतालः क्व पिशाचानां देवानाच्च सुरूपता।

इत्यादि माया विज्ञेया मानुषी मानुषैश्चरन्।।

कामतो रूपधारित्वं शस्त्रास्त्राश्माम्बुवर्षेणम्।

तमोनिलीनता चैव इति माया च मानुषी।।

जघान कीचकं भीम आश्रितः स्त्रीस्वरूपताम्।

चिरं प्रच्छन्नरूपोडभूद्दिव्यया मायया नलः।। *काम0 सर्ग 17, श्लोक 51-54*

2. *म0 भा0 द्रोणपर्व : 30/15-27, 14/47*

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी माया के प्रसंग मिलते हैं।[1]

उपेक्षा—

उपेक्षा का अर्थ है शत्रु को अनुचित कार्य करने से न रोकना, जिससे वह नष्ट हो जाये अथवा विपत्ति में फंस जाये। कामन्दक ने उपेक्षा को त्रिविधा कहा है और तीन भागों में विभक्त किया है—

1. अन्याय में उपेक्षा करना।
2. व्यसन में उपेक्षा करना।
3. युद्ध में प्रवृत्त हुये का निवारण न करना।

यदि कोई मनुष्य किसी के साथ उपकार करता है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में जानबूझकर उपकार करने वाले की आवश्यकता के समय उपकृत व्यक्ति आँखे बन्द कर लेता है तथा मौन रहता है, कामन्दक के मतानुसार यह उपेक्षा उपाय का अवलम्बन करना है। इसके वह दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रथम उदाहरण है कि जो अकार्य में फंसा हुआ था, विषय के कारण जिसके नेत्र अंधे हो रहे थे, ऐसे कीचक द्वारा द्रौपदी का अपमान किये जाने पर भीमसेन ने उसको द्रोपदी का रूप धारण करके मार डाला तब वहां के राजा विराट ने उपेक्षा नीति का आश्रय लिया था। दूसरा उदाहरण है कि भीमसेन को सज्जित देखकर अपने स्वार्थसिद्धि के लिये निर्भय हिडिम्बा राक्षसी ने अपने भ्राता बक के मारे जाने में उपेक्षा की थी, आशय यह है कि वह भीमसेन पर मोहित हो गई और जब भीमसेन ने उसके भ्राता हिडिम्ब राक्षस को मारा तब उसको बचाने के लिये हिडिम्बा ने कुछ प्रयास नहीं किया।[2]

इस प्रकार उपेक्षा नीति से शत्रु को विनष्ट किया जा सकता है। ऐसे राजा की उपेक्षा कर देनी चाहिये जो न उपकार कर सकता है और न उपकार तथा जिसको नष्ट करना भी उचित न लग रहा हो।[3]

---

1. *विष्णुधर्मो0 2/146-149*
2. *काम0 सर्ग 17, श्लोक 55-57*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 69/18; विराटपर्व अ0 16; आदिपर्व : अ0 152*

इन्द्रजाल—

इन्द्रजाल का शाब्दिक अर्थ है जादू, मंत्र प्रयोग अथवा अन्य चालाकियों द्वारा शत्रु को भ्रम में डाल देना। इसके प्रयोग से बादल, अन्धकार, अग्नि, वर्षा एवं पर्वत जैसे विचित्र वस्तु दिखाकर शत्रु सेना को भयभीत किया जाता था। माया और इन्द्रजाल में विशेष अन्तर नहीं हैं। कामन्दक ने जिस प्रकार से इन उपायों की व्याख्या की है उससे स्पष्ट होता है कि उस युग में भारतीय मंत्र, तंत्र जादू आदि पर विश्वास करते थे।[1] रामायण और महाभारत में इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, किन्तु इनकी व्याख्या केवल कामन्दकीयनीतिसार में ही की गयी हैं।

कामन्दक ने साम, दान, दण्ड, भेद- इन चार उपायों के अलावा माया, उपेक्षा, इन्द्रजाल को भी उपायों में परिगणित कर कहा है कि नीति प्रवीण राजा को आवश्यकतानुसार शत्रु की सेना और अपने द्रोहियों में सातों उपायों का प्रयोग करना चाहिये। इनका प्रयोग करने से अवश्य ही सम्पदा बुद्धिमानों के वश में हो जाती है और राजा की उदारता की प्रंशसा होती है।[2]

उपायो का प्रयोग—

प्राचीनकाल से ही राजा उपायों का प्रयोग करते चले आ रहे हैं। वैदिक काल से ही उपाय नीति— साम, दान, भेद एवं दण्ड के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। इन्द्र की दूती सरमा को पणि शासक ने साम तथा दान नीति के द्वारा अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया था। उसके बाद भेद नीति द्वारा इन्द्र की सैनिक शक्ति जानने तथा अपनी शक्ति की प्रबलता दिखा कर सरमा को अपने अनुकूल करने की चेष्टा की थी। देवासुर संग्राम दण्ड नीति पर आधरित था। आर्य-अनार्य तथा स्वयं आर्यो के पारस्परिक युद्धों में भी दण्डनीति का प्रयोग किया गया था। इसके अतिरिक्त शत्रु को बन्दी बनाने और शारीरिक दण्ड देने के भी उदाहरण मिलते हैं। इन्द्र द्वारा शुष्ण को बन्दी बनाने तथा उसे शारीरिक यातनायें देने का उल्लेख मिलता है।[3]

महाकाव्य काल में तो उपायों के प्रयोग की सघन प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। रामायण में राम ने सुग्रीव के प्रति साम, विभीषण के प्रति दान, बालि और रावण के प्रति भेद और दण्ड का प्रयोग

---

1. *काम० सर्ग 17, श्लोक 58-59; विष्णुधर्मोत्तर पुराण : 2/149*
2. *काम० सर्ग 17, श्लोक 63-64*
3. *ऋ० 10/108/5-10, 1/56/3 ; अर्थर्व० 5/21/10, 1/51/5*

किया था। राम द्वारा विभीषण को शरण देना दान तथा रावण के पक्ष में फूट डालना भेद था।[1] रावण के प्रति पहले साम नीति और उसके बाद दण्ड नीति का प्रयोग किया गया था। हनुमान ने सामनीति द्वारा वानरों को अपनी ओर मिलाया था।[2] सुमाली ने रावण को साम, दान तथा बल(दण्ड) तीनों ही उपायों द्वारा कुबेर से लंका प्राप्त करने का परामर्श दिया।[3] माया प्रयोग के उल्लेख भी मिलते हैं। मेघनाद ने मायाबल से नाग-रूपी वाणों का प्रयोग करके राम लक्ष्मण को बन्धन में डाल दिया था तथा माया-रूपी सीता का वध कर दिया था, जिसे देखकर राम की सेना निराश हो गयी थी। युद्ध में वह अपने रथ तथा सेना को कभी अदृश्य और कभी प्रकट कर देता था।[4] राम-रावण युद्ध में इन्द्रजाल का प्रयोग मिलता है। युद्धभूमि में कभी एक और कभी सहस्त्रों राम दिखाई देने लगते थे।[5]

महाभारत में उपायों का पृथक-पृथक तथा सम्मिलित प्रयोग का विवरण मिलता है। कृष्ण ने दो विरोधी सत्ताओं (कौरव और पाण्डव) में सहयोग एवं एकता बनाये रखने हेतु चारों ही उपायों का आश्रय लिया था। युद्ध के नरसंहार को रोकने के लिये उन्होंने कौरवों के प्रति सर्वप्रथम सामनीति का प्रयोग किया ताकि कुरूवंश में फूट न पड़े और राष्ट्र निरन्तर उन्नति करता रहे । सामनीति के असफल होने पर उन्होंने भेदनीति का आश्रय लिया। उन्होंने पाण्डवों के आचरण तथा कार्यो की बारम्बार प्रशंसा कर, दुर्योधन को तिनके के समान तुच्छ कहकर उसके समर्थकों में फूट डालकर, कर्ण एवं शकुनि को डरा-धमका कर अपने प्रयोजन की प्राप्ति हेतु प्रयत्न किया। उसके बाद सामनीति सहित दाननीति का प्रयोग किया और पाण्डवों के लिये मात्र पांच गांव ही मांगकर युद्ध टालने का प्रयास किया। परन्तु कौरवों द्वारा इसे अस्वीकार किये जाने पर उन्हें उचित मार्ग पर लाने के लिये चौथे उपाय अर्थात दण्डनीति का आश्रय लिया।[6] इसी प्रकार कौरवों ने भी विभिन्न नीतियों

---

1. *रामा0 युद्धकाण्ड : 18/13-14*
2. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : 37/2-9*
3. *रामा0 उत्तरकाण्ड : 11/8*
4. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 44 एवं 81-84*
5. *रामा0 युद्धकाण्ड : 93/27*
6. *म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 150*

का प्रयोग किया था। दुर्योधन ने पाण्डवों को वश में लाने हेतु धृतराष्ट्र को इन नीतियों के अपनाने पर बल देते हुये सुझाव दिया कि सर्वप्रथम विश्वसनीय ब्राह्मणों द्वारा कुन्ती एवं माद्री-पुत्रों में फूट डाल दे ताकि पांचाल नरेश युधिष्ठिर त्याग दे। तब वे चतुर एवं कार्यकुशल व्यक्तियों द्वारा प्रेमपूर्ण व्यवहार से कुन्ती-पुत्रों में भेद डाल दे अथवा द्रौपदी को इस प्रकार बहका दें कि वह अपने पतियों का परित्याग कर दे। भीम को मारने के लिये भी सुझाव दिया गया ताकि भीम के मारे जाने पर अर्जुन पृष्ठरक्षक के अभाव में दुर्बल होने पर राज्य प्राप्ति हेतु प्रयत्न नहीं करे। दुर्योधन ने सुन्दर युवतियों द्वारा पाण्डवों को लुभाने तथा विश्वसनीय कार्यकर्त्ताओं द्वारा छल, कपट आदि का आश्रय ले उन्हें बध करने का भी कुविचार प्रस्तुत किया।[1] परन्तु कर्ण ने इसका विरोध करते हुये कहा कि न साम से, न दान से और न ही भेद से पाण्डवों को वश में किया जा सकता है। अत: पराक्रम के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्यसिद्धि का उपाय मैं नही देखता।[2] अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर अर्जुन के साथ युद्ध न करने के उद्देश्य से बभ्रुवाहन ने सामनीति का आश्रय लिया। उस समय अर्जुन ने उसे धिक्कारते हुये कहा था कि तुझ दुर्बुद्धि को धिक्कार है। तुम निश्चय ही क्षत्रिय धर्म से भ्रष्ट हो गये हो क्योंकि युद्ध हेतु आये हुये मेरा स्वागत-सत्कार तुम सामनीति से करने को उद्यत हो।[3]

राजा द्रुपद अपने दूत को कुरू सभा में भेदनीति के उद्देश्य से भेजते हैं कि वहाँ जाकर वह ऐसी बातों को कहे जिससे भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि कौरव सें से बिरक्त हो जाँय तथा उनमें परस्पर भेद उत्पन्न हो जाये।[4] महाभारत में माया प्रयोग के उदाहरण भी हैं। भीम ने स्त्री रूप धारण करके कीचक का वध किया था। अर्जुन ने वृहन्नला का रूप धारण कर द्रुपद के यहाँ सारन्ध्री का

---

1. *म० भा० आदिपर्व : अ० 200*
2. *न हि साम्ना न दानेन न पेदने च पाण्डवा:।*
   ज्ञनया: सार्धायतुं तरमाद् विक्रमेणेव ताज्जलि ।।
   तान् विक्रमेण चित्वेमापलिकां मुटटा मेदिकीय।
   मता नानूयं प्रपश्च मि कार्योपाय घनाधिप।। *म० भा० आदिपर्व : अ० 201, श्लोक 20-21*
3. *म० भा० आश्वमेधिकपर्व : अ० 79, श्लोक 5*
4. *म० भा० उद्योगपर्व : अ० 6, श्लोक 9-10*

कार्य किया था। राजा नल ने माया द्वारा अपना रूप बदलकर लम्बे समय तक अपने को गुप्त रखा था। शकुनि ने कृष्ण और अर्जुन को अपनी ओर करने के लिये उनके प्रति माया का प्रयोग किया था।[1] शाल्व ने कृष्ण के साथ युद्ध में माया द्वारा निर्मित उनके नकली पिता का वध कर दिया था।[2] अलम्बुष द्वारा माया के प्रयोग को अभिमन्यु ने व्यर्थ कर दिया था।[3] महाभारत में उपेक्षा के भी उदाहरण हैं। भीम द्वारा कीचक वध के समय हिडिम्बा ने उपेक्षा नीति अपनायी थी।

कामन्दक का मत है कि राजा दारूण विग्रह को भी दान से शांत करे, इन्द्र ने उपचार(प्रयोग) और दान से शुक्र का विग्रह शांत कर दिया था। आचार्य बताते हैं कि जिस समय वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा का वस्त्र भूल से शुक्र की कन्या देवयानी का वस्त्र धारण कर लिया था तो देवयानी ने बुरा भला कहा।यहाँ तक कि देवयानी शमिष्ठा को सूखे कुँए में ढकेलकर चली आई । राजा ययाति ने उसे निकाला । यह बात अपनी पुत्री से सुन जब भृगु जी क्रोधित हुये तब वृषपर्वा ने अपनी वही कन्या देवयानी को दासी के रूप में देकर उसको प्रसन्न किया। शांति की इच्छा वाला राजा शक्तिशाली नरेश के समीप जाकर कुछ भेंट दे अन्यथा बिना दान के गान्धारी के पुत्र मारे गये थे।[4] कामन्दक का मत है कि इस प्रकार की दान नीति से विजियगीषु राजा शत्रु को बिना युद्ध के अपने वश में कर सकता है।[5]

शुक्र ने मित्र राजा के प्रति दाननीति का पालन उचित माना हैं। उनके अनुसार मित्र राजा से यह कहना दाननीति है कि– "मेरी सभी वस्तुयें तुम्हारी हैं, और मेरा जीवन भी तुम्हारा है।" उन्होंने स्व–प्रजा के प्रति सामनीति के साथ ही दाननीति के पालन को उचित माना है। शुक्र के अनुसार शत्रु राजा द्वारा पीड़ित उसकी प्रजा के प्रति दाननीति लाभकारी होती है। इससे शत्रु राजा की प्रजा में विजिगीषु राजा के प्रभाव में वृद्धि होती है और शत्रु प्रजा को अपने पास एकत्रित करने में सफलता

---

1. *म० भा० उद्योगपर्व : 30/15–17*
2. *म० भा० उद्योगपर्व : अ० 21*
3. *म० भा० उद्योगपर्व : 101/23–26*
4. *काम० सर्ग 17, श्लोक 7, 19, 20, 21, 61, 62*
5. *विलोभयन्किचिद्पित्रयच्छन्कुर्वीत मिंत्र द्विषतो न पानम्।*

   राष्ट्रादभीक्ष्णांद्विषत: एपण्यं पण्यैर्हितनालिकयाडडददीत ।। काम० सर्ग 15, श्लोक 53

मिलती है।[1]

उपायों का संयुक्त रूप से अथवा पृथक-पृथक प्रयोग—

कौटिल्य के अनुसार उपायों का पृथक-पृथक अथवा संयुक्त रूप से प्रयोग किया जा सकता हैं। कौटिल्य ने तीन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमें किसी एक उपाय का, अथवा दो में से किसी का, या दो या अधिक उपायों का सम्मिलित प्रयोग करना उचित होता है। इस प्रकार के प्रयोगों को उन्होंने नियोग, विकल्प और समुच्चय की संज्ञा प्रदान की है।[2] इनमें से एक उपाय द्वारा जो सिद्धि प्राप्त होती हैं उसे एक सिद्धि तथा दो, तीन और चार उपायों के सम्मिलित प्रयोग से प्राप्त सिद्धि को द्विसिद्धि, त्रिसिद्धि और चतु:सिद्धि कहा जाता हैं।[3] उन्होंने उपाय प्रयोग की 15 विधियों का उल्लेख किया है। (1) केवल साम (2) केवल दान (3) केवल भेद तथा (4) केवल दण्ड। यह चार उपायों के पृथक-पृथक प्रयोग है। इनके अतिरिक्त चार प्रकार और होते है जब तीन-तीन उपायों का प्रयोग एक साथ किया जाता है- (5) साम,दान, भेद (6) साम, दान, दण्ड (7) साम, भेद, दण्ड और (8) दान, भेद, दण्ड। छः अन्य प्रकार होते हैं जब दो-दो उपायों का सम्मिलित प्रयोग किया जाता है- (9) साम-दान (10) साम -भेद (11) साम-दण्ड (12) दान-भेद (13) दान-दण्ड और(14) भेद-दण्ड (15) साम, दान, भेद और दण्ड चारों उपायों का एक साथ प्रयोग।

उन्होंने 15 प्रकार के प्रतिलोम उपाय बताये हैं[4] यथा— दण्ड, भेद, दान, साम (इन चारों का पृथक-पृथक प्रयोग), दण्ड-भेद-दान, दण्ड-भेद-साम,भेद-दान-साम, दण्ड-दान-साम(इन चान विधियों में तीन-तीन उपायों का सम्मिलित प्रयोग किया जाता है); दण्ड-भेद,दण्ड-दान, दण्ड-साम, भेद-दान भेद- साम, दाम-साम (यह छः प्रकार दो-दो उपायों के सम्मिलित प्रयोग हैं); तथा दण्ड-भेद-दान-साम का संयुक्त प्रयोग।

मनुस्मृति तथा महाभारत में कहा गया है कि आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार उपायों

---

1. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 25-29*
2. *अर्थ0 अधि0 13, अ0 4, वार्ता 14*
3. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 7, वार्ता 19-94*
4. *अर्थ0 अधि0 9, अ0 7, वार्ता 87-90*

का पृथक्-पृथक् अथवा संयुक्त रूप से प्रयोग करके अपना इच्छित कार्य पूर्ण करना चाहिये।[1]

कामन्दक ने कहा है कि सामनीति का भेद नीति के साथ और साम एवं भेद नीति का दान नीति के साथ संयुक्त प्रयोग अधिक लाभ पूर्ण और कार्य सिद्धि करने वाला होता है। लेकिन बिना दान के सामनीति से थोड़ा लाभ प्राप्त होता है।[2]

नीति निर्धारण—

राज्य की कार्यसिद्धि के लिये चतरूपाय महत्वपूर्ण साधन तो हैं ही, अन्तर्राज्य-सम्बन्धों के निर्धारण में भी इसका स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। राज्य की बाह्यनीति इन्हीं उपायों के आधार पर ही निर्धारित होती थी। इनका महत्व बताते हुये आचार्य कणिक कहते है कि किसी वीर पुरूष के बाण का निशाना संदिग्ध रहता है, वह निरर्थक भी हो सकता है, परन्तु सुनियोजित नीति कभी भी असफल नहीं हो सकती। वह राजा सहित सम्पूर्ण राष्ट्र का विनाश करने में समर्थ है।[3] राज्य की सफलता, जय-पराजय का आधार होने के कारण राजा के लिये इसका समुचित ज्ञान नितान्त आवश्यक माना गया है। अत: राजा किस अवसर पर किसके साथ कौन सी नीति का प्रयोग करे, महाभारत में स्थान-स्थान पर इस सम्बन्ध में उपदेश मिलते हैं। राजा समयानुसार उचित नीति का प्रयोग करे। वह अपने तथा शत्रुपक्ष के बलाबल, देश, काल एवं परिस्थिति आदि का ज्ञान प्राप्त करके उचित नीति का आश्रय ले।[4] आवश्यकतानुसार इनमें से एक, दो के द्वारा अथवा सबके संयुक्त प्रयोग द्वारा अपने कार्यसिद्धि हेतु प्रयत्नशील राजा नि:सन्देह अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल होता है।

---

1. *मनु0 अ0 7, श्लोक 159*

   साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथ्वा पृथक्।

   विजेतु प्रयतेतारीत्र युद्धन कदाचन।। — *मनु0 अ0 7, श्लोक 198*

   संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुध:। — *मनु0 अ0 7, श्लोक 214*

2. *दानरिक्तेन सर्वत्र साम्ना कृत्यं तृणेन वा।*

   निदनिं साम नायाति कलत्रेष्वपि संस्थितिम्।। — *काम0 सर्ग 18, श्लोक 62-64*

3. *एकं सन्सान्न वा इन्यादिर्ष्मुको धनुष्मता।*

   बुद्धर्बौध्मतोत्सृष्ध हन्याद् राष्ट्र सरायकम ।। — *म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 33, श्लोक 43*

4. *म0 भा0 वनपर्व : अ0 150, श्लोक 32*

उसे कभी भी पराजय का सामना नहीं करना पड़ता।[1]

सम-शक्तिसम्पन्न राजा के साथ साम एवं भेदनीति, अपने से अधिक शक्तिशली राजा के साथ दाननीति और अपने से दुर्बल राजा के साथ दण्डनीति अपनाने का आदेश सभी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत में भी भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र,कृपाचार्य, नारद आदि ने इन्हीं कथनों का समर्थन किया है। भीष्मपितामह के अनुसार शत्रु की शक्ति प्रबल होने पर राजा सर्वप्रथम सामनीति का प्रयोग करे। सामनीति की असफलता पर दाननीति अर्थात् धन आदि देकर शत्रु को वश में लाने का प्रयत्न करे। यदि दाननीति के मूल में भेद नीति का समावेश हो तो वह उत्तम हो जाती है।[2] कृपाचार्य का मत है कि जब शत्रु की शक्ति अपने समान हो, तो उसके प्रति साम और भेदनीति का प्रयोग करना चाहिये अर्थात उससे समझौता करना या उसकी सेना, प्रकृति आदि में फूट डालनी चाहिये। यदि शत्रु अपने से अधिक शक्तिशाली हो तो वहाँ दाननीति का प्रयोग उचित है अर्थात उसे धन, रत्न आदि भेंट देकर उसे शांत करना चाहिये। यदि अपनी शक्ति शत्रु की अपेक्षा अधिक हो तो उसे दण्ड देना अर्थात युद्ध मे पराजित करना ही उचित है।[3] आचार्य कणिक ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[4]

कौटिल्य के अनुसार धार्मिक राजा के प्रति साम नीति का, लोभी और क्षीण राजा के प्रति दान नीति का, सशंकित तथा भीरू राजा के प्रति भेदनीति का प्रयोग लाभदायक होता है। तीक्ष्ण,उत्साह-सम्पन्न,व्यसन-ग्रस्त तथा दुर्गादि से युक्त शक्तिशाली राजा के प्रति उपांशुदण्ड नीति अपनानी चाहिये।उत्साहहीन,विग्रह-श्रान्त, निष्फल-उपाय, क्षय-व्यय तथा प्रवास से सन्तप्त, सशंकित, मैत्री-प्रधान एवं कल्याण-बुद्धि राजा के प्रति भी साम नीति प्रयोग करना चाहिये।[5]

कामन्दक के अनुसार मैत्री-प्रधान तथा अल्प वयस्क राज के प्रति सामनीति का, लोभी और क्षीण पक्ष के प्रति दान नीति का, ऐसे पक्ष को जो एक-दूसरे के प्रति संशकित हों भेद नीति

---

1. *म0 भा0 वनपर्व : 150/42*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 94/4-5*
3. *म0 भा0 विराटपर्व : 29/ 11-12*
4. *म0 भा0 आदिपर्व :139/50-51*
5. *अर्थ0 9/6/24-31 एवं 63*

का तथा दुष्टजनों के प्रति दण्डनीति का प्रयोग कर उनको वश में करना चाहिये।[1]

कौटिल्य ने भेद्य पक्षों का विवरण इस प्रकार दिया है[2]—

1. क्रुद्धवर्ग —

1. प्रचुर व्यय करने के पश्चात् भी जिनको अपने राजकीय कार्य में वांछित सफलता नहीं मिल सकी है।
2. जो अपने कुलजनों से पृथक कर दिये गये हैं।
3. जिनका राजा के प्रिय पुरूषों ने अवरोध किया है।
4. जिनके बन्धु-बान्धुओं को देश से निष्काषित कर दिया गया है।
5. जिनको बन्दीग्रह में कैद कर लिया है।
6. जिनको प्रतिज्ञा करके भी धन नहीं दिया गया है।
7. अपने अधिकार तथा दाय-भाग से वंचित व्यक्ति।
8. अपने मान और अधिकार से च्युत किये गये।
9. समान कुशल व्यक्तियों में जिनका अपमान किया गया है।
10. जिनकी स्त्री बलपूर्वक अपहृत कर ली गयी हो।
11. जो राजा की आज्ञा से दीर्घकालीन प्रवास से संतप्त हों।
12. जिनको उचित विचार किये बिना दूसरों के कथन मात्र पर दण्डित किया गया है।
13. जिनको झूँठ बोलने से रोका गया है।
14. जिनका सर्वस्व छीन लिया गया है।
15. जिनको बन्धन दण्ड दिया गया है।
16. जिनको स्वयं आमंत्रित करके तिरस्कृत किया गया है।

2. भीत वर्ग—

1. ऐसे राजपुरूष के कुल का वह व्यक्ति जो उसकी संपत्ति को प्राप्त करने का अधिकारी है।
2. जो राजा से द्वेष करता है।

---

1. काम0 सर्ग 17, श्लोक 45-47

2. अर्थ0 अधि0 1, अ0 14, वार्ता 1-6

3. दण्ड द्वारा वश में किया गया व्यक्ति।

4. जो अपने ही समान अपराधी व्यक्ति को दण्डित होते देखकर भयभीत है।

5. भूमि का अपहरण करने वाला।

6. जिनके दुष्कर्म उजागर हो गये हैं।

7. राजपुरूष जिसने अचानक बहुत सम्पत्ति अर्जित कर ली है।

8. स्वकृत अपराध के फलस्वरूप भयभीत व्यक्ति।

9. जिससे राजा द्वेष करता है।

10. जिनसे राजा अप्रन्न है।

3. लुब्ध वर्ग—

1. व्यसनी तथा अपव्ययी व्यक्ति।

2. कृपण व्यक्ति।

3. जिनका धन नष्ट हो चुका है।

4. जिनका वैभव नष्ट हो चुका है।

4. मानी वर्ग—

1. अपने से निम्नवर्ग के व्यक्तियों के साथ कार्य में लगाया हुआ व्यक्ति।

2. अपने प्रतिपक्षी के सम्मान को सहन न कर सकने वाला व्यक्ति।

3. मान—सम्मान प्राप्ति का इच्छुक।

4. स्वयं को श्रेष्ठ मानने वाला।

5. तीक्ष्ण तथा साहसिक प्रकृति के व्यक्ति—

1. प्राप्त भोग सम्पदा से असन्तुष्ट व्यक्ति।

कामन्दक चार प्रकार के भेद्य पक्ष मानते हैं—लोभी, मानी, कुद्ध और भयभीत। शत्रु पक्ष के लोभी व्यक्ति जिनको शत्रु से अभीप्सित वस्तु न प्राप्त हुई हो, मानी व्यक्ति जिनको अपमानित किया गया है, कुद्ध व्यक्ति जिनको किसी कारण वश कुपित कर दिया गया है एवं भीत व्यक्ति जो किसी कारण भयभीत हो गये हैं। इन सबको उनकी कामनापूर्ति कर सरलता से अपने पक्ष में किया जा सकता है। इसी प्रकार शत्रु पक्ष में मंत्री, अमात्य, पुरोहित, युवराज एवं शत्रु कुल के अन्य

व्यक्तियों का उपजाप करने का प्रयास करना चाहिये। लेकिन वह कहते हैं कि केवल ऐसे व्यक्तियों का ही उपजाप किया जाना चाहिये जो कोप और अनुग्रह करने में सक्षम हों। शठ-प्रकृति के व्यक्तियों का उपजाप कभी नहीं करना चाहिये।[1]

इसके अतिरिक्त कामन्दक ने भेद्य पक्षों का विवरण इस प्रकार है[2] :–

1. कर- भार से पीड़ित व्यक्ति।
2. संग्राम-प्रिय अथवा युद्ध-प्रिय व्यक्ति।
3. ऐसे व्यक्ति जिन पर मिथ्या दोषारोपण किया गया हो।
4. ऐसे व्यक्ति जो धर्म और सुख नष्ट हो जाने के कारण दुखी हों।
5. स्वभावत: क्रोधी व्यक्ति।
6. राजा के बन्धु-बान्धव।
7. राजा जिनसे द्वेष रखता हो।
8. ऐसे व्यक्ति जिनकी आजीविका का साधन नष्ट कर दिया गया हो।
9. ऐसा व्यक्ति जिसे राजा ने धनादि देने का वचन दिया हो परन्तु कार्य हो जाने पर देने से इन्कार का दिया हो।
10. धन की लिप्सा रखने वाला व्यक्ति।
11. ऐसे व्यक्ति जिनको राजा ने बुलाकर अपमानित किया हो।
12. जिनको आत्म-सम्मान बहुत प्रिय हो।
13. साहस कर्म करने वाले व्यक्ति।
14. ऐसे व्यक्ति जो राजा से द्वेष रखते हो।
15. ऐसे योग्य व्यक्ति जिनको अयोग्य पुरूषों के साथ कार्य में नियुक्त किया गया हो।
16. ऐसे व्यक्ति जिनको बिना कारण देश से बहिष्कृत किया गया हो।
17. ऐसे व्यक्ति जिनको अपराध की अपेक्षा अघिक दण्ड दिया गया हो।
18. जिनकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो।

---

1. काम0 सर्ग 17, श्लोक 23-29

2. काम0 सर्ग 17, श्लोक 31-36

19. पूज्यनीय व्यक्ति जिनको सम्मानित न किया गया हो।
20. ऐसे व्यक्ति जिनकी स्त्री तथा धन का अपहरण कर लिया गया हो।
21. ऐसे व्यक्ति जो अत्याधिक वैभव के आकांक्षी हों।
22. ऐसे व्यक्ति जो स्वकृत अपराधों के कारण त्रस्त हों।
23. ऐसे व्यक्ति जो किसी कारणवश राज से भयभीत हों।
24. जिनकी सम्पत्ति देश से बाहर चली गयी हो।
25. ऐसे व्यक्ति जिनको उनके योग्य मान, सम्मान न प्रदान किया गया हो।
26. ऐसे व्यक्ति जिनको बिना कारण बन्धन में डाल दिया गया हो।
27. ऐसे व्यक्ति जिन्होंने स्वयं दूसरों से बैर किया हो और परिणामस्वरूप सन्तप्त हों।
28. जिन्हें देश और समाज से बहिष्कृत कर दिया गया हो।
29. ऐसे मानी पुरूष जो अपमानित किये गये हों।
30. जिनके बन्धुजनों को देश से निष्कासित कर दिया गया हो।

कामन्दक का विचार है कि साम नीति और दान नीति अपनाकर ऐसे व्यक्तियों को जो राजा से कुपित अथवा भयभीत हैं, उनको मधुर वचनों से समझाकर, इच्छा पूर्ति कर तथा भय दिखाकर अपनी ओर करने का प्रयास करना चाहिये।[1]

सोमेश्वर कुलीन, साधुप्रकृति, कृतज्ञ और मेधावी व्यक्तियों को साम द्वारा तथा भीत, अपमानित, एवं क्रुद्ध शत्रु को भेद नीति द्वारा विनष्ट करने का आदेश देते हैं।[2]

उपायों का तुलनात्मक महत्व—

चार उपायों में से कौन सा उपाय श्रेष्ठ हैं, वह एक विचारणीय प्रश्न है। यथासमय देश-काल के अनुरूप प्रस्तुत की गयी सभी नीतियाँ महत्वपूर्ण होती हैं[3] तथापि महाभारत में अनेकश: भेदनीति को ही लक्ष्य प्राप्ति का सफल साधन माना गया है। शत्रुपक्ष एवं उसकी प्रकृति आदि में फूट डालते हुये उसे शक्तिहीन बनाकर उस पर विजय प्राप्ति का यह सर्वोत्तम साधन माना

---

1. *काम0 सर्ग 17, श्लोक 37-40*
2. *मानसेल्लास : 2/17/978-988*
3. *वी0आर0आर0 दीक्षितार : वार इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 324-325*

गया हैं। वनपर्व में कहा गया है कि राजा भेदनीति द्वारा शत्रु राजा और उसके मित्रों में प्रयत्न करे। मित्रों द्वारा शत्रु राजा का परित्याग किये जाने पर वह दुर्बल हो जायेगा, तब उसे अपने वश में कर लेना चाहिये।[1] अत: राजा सर्वप्रथम शत्रु के प्रति भेदनीति का प्रयोग करे। तत्पश्चात् उपयुक्त अवसर आने पर दण्डनीति का प्रयोग करे।[2] भेदनीति का आश्रय लेकर राजा शत्रु पर सरलतापूर्वक विजय प्राप्त कर सकता है। कालकबृक्षीय मुनि ने विदेषराज को उपदेश देते हुये शत्रुपक्ष में भेद उत्पन्न करने पर बल दिया गया है।[3]

महाभारत में अनेक स्थानों पर सामनीति अर्थात शांतिपूर्ण ढंग से समझौता द्वारा प्रयोजन सिद्धि पर बल दिया गया है क्योंकि सामनीति द्वारा लिये गये निर्णय स्थायी होते हैं और इनके उल्लंघन की सम्भावना नहीं रहती है। इसीलिये राजा को युद्ध का आश्रय लेते हुये शांतिपूर्ण उपायों द्वारा अभीष्ट—पूर्ति पर बल दिया गया है। कृष्ण सामनीति की प्रशंसा करते हुये कहते हैं- मेल -मिलाप, समझा-बुझाकर सिद्ध हुये प्रयोजन और परिणाम हितकारी होते हैं।[4] साम-दान द्वारा प्राप्त हुई विजय को श्रेष्ठ माना गया है। भेदनीति द्वारा शत्रुओं में फूट डालकर प्राप्त की जाने वाली विजय मध्यम और युद्ध द्वारा प्राप्त विजय को अधम कहा गया है।[5] उद्योग पर्व में पाण्डवों ने सामनीति को प्रधानता देते हुये यह मत प्रकट किया है कि "यद्यपि हम युद्ध की इच्छा न रखकर साम, दान, भेद और अन्य उपायों से राज्य प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, तथापि हमारी सामनीति असफल हुई तो युद्ध की हमारा प्रधान कर्तव्य होगा।"[6]

इसके विपरीत कौटिल्य का कथन है कि साम,दान, भेद एवं दण्ड मे साम उपाय अन्य उपायों की अपेक्षा लघु होता है। वह साम को एक गुण वाला, दान को दो गुण वाला, भेद को त्रिगुण और दण्ड को चतुर्गुण मानते हैं।[7]

---

1. *म0 भा0 वनपर्व : 33/68; आश्रमवासिकपर्व : 6/16*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 105/28*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 105/ 9-13*
4. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 2/13-14*
5. *म0 भा0 भीष्मपर्व : 3-81*
6. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 72/69*
7. *अर्थ0 9/6/66-70*

रामायण में भी सामनीति को बहुत नम्र माना गया है। लक्ष्मण के अनुसार इस नीति के अवलम्बन से विजय की प्राप्ति नहीं होती।[1]

शुक्र ने कहा है कि जब शत्रु राजा के साथ सहयोग की नीति अपनायी जाती है और यह निश्चय किया जाता है कि एक दूसरे की हानि नहीं की जायेगी, तब उसे शत्रु के प्रति सामनीति का पालन समझा जाता है।[2] संभवतः शत्रु राजा के प्रति सामनीति के अन्तर्गत अन्य शत्रुओं के विरूद्ध परस्पर सहयोग किया जसता है और एक- दूसरे की हानि नहीं किये जाने के निश्चय के द्वारा आपसी सुरक्षा में वृद्धि की जाती है। उन्होंने मित्र राजा के प्रति सामनीति के पालन का उल्लेख करते हुये कहा है कि जब मित्र राजा को यह विश्वास दिलाया जाता है कि वह हमारा अनन्य मित्र है तब यह मित्र राजा के प्रति सामनीति होती है।[3] राजा को स्व-प्रजा के प्रति सदैव ही सामनीति अपनानी चाहिये। शत्रु प्रजा के संदर्भ में शुक्र का मत है कि जब शत्रु राजा अपनी प्रजा को पीड़ा देता हो, तब उसकी प्रजा के प्रति सामनीति अपनानी चाहिये।[4] अर्थात शत्रु राजा द्वारा पीड़ित उसकी प्रजा का हृदय जीतने के लिये सामनीति का प्रयोग किया जाना चाहिये।[5]

शुक्र प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुकरण करते हुये दण्डनीति को चारों नीतियों (उपायों) में चौथी एवं अन्तिम नीति के रूप में मान्यता दी है,[6] अर्थात् प्रथम तीन नीतियों (साम, दान व भेद) के असफल होने पर ही दण्डनीति का प्रयोग किया जाना चाहिये। उन्होंने बताया है कि राजा को पर्याप्त सोच विचार कर चारों नीतियों (उपायों) का प्रयोग करना चाहिये[7], क्योंकि क्रिया-भेद (अभीष्ट साम्य में परिवर्तन) के अनुसार इन नीतियों (उपायों) के प्रयोग में भी भिन्नता आ

---

1. *रामा० युद्धकाण्ड : 21/16*
2. *शुक्र० अ० 4, श्लोक 28*
3. *शुक्र० अ० 4, श्लोक 25*
4. *शुक्र० अ० 4, श्लोक 38-39*
5. *प्रो० बी. के. सरकार : शुक्रनीति, पृ० 130*
6. *शुक्र० अ० 4, श्लोक 34*
7. *शुक्र० अ० 4, श्लोक 23*

जाती है।[1]

कामन्दक अन्य उपायों की अपेक्षा सामनीति को ही प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। इसकी पुष्टि में वह दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं– समुद्र मन्थन के समय देवता और दानवों ने मतभेद मिटाकर समझौता कर लिया था जिसके परिणामस्वरूप दोनों ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके थे। दूसरी ओर सामनीति के विरोधी कौरवों को पराजित होना पड़ा था।[2]

मनु का भी मत है कि राजा सामनीति द्वारा ही शत्रुओं के वश में करे। यदि शत्रु साम, दान और भेद से नष्ट न होता हो तो दण्ड के द्वारा वश में करें। राष्ट्र की अभिवृद्धि के निर्मित सामनीति की सर्वत्र प्रशंसा होती है।[3] भाष्यकार कुल्लूक इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि सामनीति अपनाने से धन–व्यय और सैन्यक्षयादि दोष नहीं घटित होते हैं।

सोमेश्वर इन उपायों में साम को उत्तम, भेद को मध्यम, उपप्रदान को अधम तथा दण्ड को कष्टतम मानते हैं। साम को वह इसलिये उत्तम मानते हैं क्योंकि इसके प्रयोग से बिना द्रव्य–हानि के तथा बिना किसी प्रकार के उपद्रव के ही कार्य सिद्ध हो जाता है। भेद और दान को मध्यम तथा अधम कहा गया है, क्योंकि भेद प्रयोग से कार्य की सिद्धि संदिग्ध ही रहती है। केवल कुत्सित जन ही उपजापित होते हैं और वह विश्वस्त नहीं होते। दान नीति के प्रयोग से धन की हानि होने पर भी सिद्धि भाग्याधीन बनी रहती है। दण्ड उपाय को कष्टतम मानने का कारण स्पष्ट है, उसके प्रयोग से युद्ध अनिवार्य हो जाता है, जिसमें विजय, स्वराज्य तथा जीवन संकट में पड़ जाते हैं।[4]

इन उपायों में भेदनीति का विशेष महत्व था। भीम का कथन है कि राजा भेद नीति के द्वारा ही शत्रु के मित्रों में फूट डालकर उसे क्षीण कर देते हैं और तत्पश्चात् सरलता से उसे पराजित कर देते हैं।[5] विराटपर्व से विदित होता है कि सेना के विनाश करने के जितने साधन हैं उनमें आपस

---

1. *क्रियाभेदा दुपायाहिभिद्यंतेचयथार्हत:। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 32*
2. *काम0, सर्ग 18, श्लोक 19–20*
3. *मनु0 अ0 7, श्लोक 107*
4. *मानसोल्लास : 2/17/972–976, 980*
5. *म0भा0 अरण्यपर्व : अ0 33, श्लोक 68*

की फूट सबसे मुख्य है।[1]

सभी आचार्यों का मत है कि अन्य उपायों के विफल होने पर ही दण्ड का प्रयोग करना चाहिये[2] क्योंकि दण्ड प्रयोग से दोनों ही पक्षों की जन-धन हानि अवश्यम्भावी है, परन्तु स्वपक्ष की विजय अन्त तक अनिश्चित ही रहती है। रामायण में कहा गया है कि जब साम, दान और भेद नीति से लक्ष्य की पूर्ति न हो सके तब अन्तिम उपाय के रूप में दण्ड का प्रयोग करना चाहिये।[3]

महाभारत में आदेश दिया गया है कि साम, दान और भेद नीति का अवलम्बन करके शासकों को अपना ऐश्वर्य बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये परन्तु यथासम्भव दण्ड के प्रयोग से बचना चाहिये।[4] कृष्ण ने कौरवों के प्रति अन्य उपायों के विफल होने पर ही पाण्डवों से कहा था कि उनको केवल दण्ड द्वारा ही मार्ग पर लाया जा सकता है।[5]

आचार्य बृहस्पति तथा कौटिलय ने गृहनीति के संदर्भ में साम नीति को विशिष्ट महत्व प्रदान किया है।[6] कौटिल्य के अनुसार दान से पूर्व साम, भेद से पूर्व साम और दान, तथा दण्ड से पूर्व अन्य तीन उपायों का प्रयोग करना चाहिये।

मनु तथा सोमेश्वर ने भी यही मत व्यक्त किया है कि दण्ड का प्रयोग अन्य उपायों के विफल होने पर ही किया जाना चाहिये।[7] सोमेश्वर का तो यह भी आदेश है कि दण्ड प्रयोग करने से पहले प्रयोक्ता को स्वयं अपनी शक्ति भलीभाँति जान लेना चाहिये।[8] यदि वह पूर्णतः समर्थ है तभी

---

1. *म0भा0 विराटपर्व : अ0 51, श्लोक 13*
2. *म0भा0 शान्तिपर्व : अ0 102, श्लोक 22*
3. *रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 39, श्लोक 2*
4. *म0भा0 शान्तिपर्व : अ0 69, श्लोक 23; अ0 94, श्लोक 4-5*
5. *म0भा0 उद्योगपर्व : अ0 150, श्लोक 18*
6. *बृहस्पति सूत्र : 519, 16 एवं अर्थ0 9/5*
7. *मनु0 7/200 एवं 7/108*
8. *उपायत्रितयंनापि यो न शक्यो भवेद् रिपुः।*

   तस्य दण्डं प्रयुञ्जीत बलवान् यदि भूपतिः।।

   तस्माद् दण्डं प्रयुञ्जीत दण्डो हि वशकृन्नूणाम्।। *मानसोल्लास : 2/20/1031.31*

उसे दण्ड नीति अपनानी चाहिये। विष्णुधर्मसूत्र में भी दण्ड उपाय को अत्यन्त विचारपूर्वक प्रयोग करने का निर्देश है।[1] शुक्र के अनुसार जब अपने प्राणों का संशय हो तभी दण्ड उपाय प्रयोग में लाना चाहिये।[2]

व्यवहारिकता की दृष्टि से इन नीतियों का महत्व आचार्य कणिक ने एक कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। धृतराष्ट्र ने कणिक से यह प्रश्न किया कि साम, दान, भेद अथवा दण्ड के द्वारा शत्रु का नाश कैसे किया जा सकता है, यह मुझे यथार्थ रूप से बताइये। तब कूटनीति-विशेषज्ञ आचार्य कणिक ने चतुरूपायों द्वारा स्वार्थसिद्धि किये जाने का जानवरों से सम्बन्धित एक वृतान्त सुनाया।[3]

एक वन में पांच मित्र- सियार, चीता, चूहा, भेड़िया और नेवला निवास करते थे। एक बार उन्होनें अपने संयुक्त प्रयास से एक बलवान हिरण को मार डाला। परन्तु स्वभावतः चतुर सियार अकेले ही हिरण के माँस का उपभोग करना चाहता था। अतः उसने एक युक्ति निकाली। उसने सभी मित्रों के समक्ष प्रस्ताव रखा कि वे स्नान के पश्चात् ही माँस को ग्रहण करेंगे। उसने कहा- "आप लोग स्नान कर आओ तब तक मैं इसकी रखवाली करता हूँ।" सर्वप्रथम जब चीता स्नान के पश्चात् लौटा तब सियार ने उससे कहा कि चूहा तुम्हें धिक्कारते हुये कह रहा था कि "मृग का तो मैंने मारा है। मेरे बाहुबल का आश्रय लेकर ही वह (चीता) अपनी भूख मिटायेगा।" उसने और भी घमंड भरी बाते कहीं हैं। अतः उसकी सहायता से प्राप्त हुये इस भोजन को ग्रहण करना मेरा भी अपमान है। सियार द्वारा ऐसा कहे जाने पर चीता ने भी अपना अपमान समझते हुए उस माँस का उपभोग करना अनुचित समझा। यहाँ चतुर सियार ने भेदनीति का आश्रय लिया। इसके पश्चात् जब चूहा स्नान करके लौटा तब सियार ने उससे कहा कि नेवला कह रहा था कि चूहे के काटने से माँस विषाक्त हो गया है। अतः मैं चूहे को ही खाँऊगा। यह बात सुनकर चूहा अत्यन्त भयभीत हो प्राणों की रक्षा के लिये बिल में जा घुसा। इस प्रकार सियार ने यहाँ चूहे और नेवले के मध्य भेद एवं

1. *विष्णुधर्मसूत्र : 3/38*

2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 34-35*

3. *म0 भा0 आदिपर्व : अ0 139, श्लोक 25-51*

दण्डनीति का प्रयोग किया। इतने में भेडिया भी वहाँ स्नान करके आ पहुँचा। सियार नें भेड़िया से कहा कि चीता तुम पर बहुत नाराज है, वह अभी अपनी पत्नी को लेकर यहाँ आ रहा है। सियार के ऐसा कहने पर भेड़िया भी प्राणों की रक्षा के लिये वहाँ से भाग गया। अतं में जब नेवला वहाँ आया तब सियार ने अपने को उससे शक्तिशाली समझते हुये दण्डनीति का आश्रय लिया। उसने कहा कि सभी दोस्त मेरे बाहुबल से परास्त हो भाग गये है। यदि तुम मेरे से बल में श्रेष्ठ हो तो मुझे परास्त करने के पश्चात् ही माँस को ग्रहण कर सकते हो। अन्ततः सियार के कथनों को सत्य मानते हुये तथा अपने को सियार से दुर्बल समझते हुये वह भी वहाँ से चला गया।

इस प्रकार चतुर सियार इन नीतियों का प्रयोग करते हुये अपनी स्वार्थसिद्धि में सफल हो गया और अकेले ही माँस का उपभोग किया। सियार द्वारा सुनियोजित ढंग से प्रयुक्त की गई नीति के कारण ही वह अपनी युक्ति में सफल हुआ। अतः आचार्य कणिक ने इस कथा के माध्यम से नीतियों का व्यवहारिक महत्व बताते हुये राजा को उपदेश दिया है कि उपायों को भलीभाँति व्यवहार में लाने वाला राजा ही सदैव सुखी रहते हुये अपनी निरन्तर उन्नति करने में समर्थ हो सकता है। राजा डरपोक को भय दिखाकर फोड़ दे, शूरवीर के समक्ष हाथ जोड़कर उसे वश में करे, लोभी को धन देकर और कमजोर को पराक्रम से वश में करे। समयानुसार जो उपाय उपयुक्त हों उसी का प्रयोग कर अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहिये। अन्त में यही कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि अवसर और परिस्थिति के अनुरूप सभी उपाय सिद्धदायक हो सकते है।

प्राचीन भारतीय आचार्यो द्वारा मान्य चार उपायों का महत्व आधुनिक युग में भी स्वीकारा जाता है। के0एम0 पन्निकर का मत है कि हिन्दू नीतिशास्त्रों में राजनय के साधनों और पद्धतियों को जिन चार साम, दान भेद एवं दण्ड– के रूप में पारिभाषित किया है, वह आज भी सत्य हैं और इसमें किसी प्रकार का संशोधन किया जाना प्रायः संभव नहीं है।[1] प्रो0 सरकार ने उपायों सम्बन्धी विवरण की श्रेष्ठता को स्वीकारते हुये उसे हिन्दुओं की उच्च राजनीतिक चेतना का प्रमाण माना माना है।[2]

---

1. *के0 एम0 पन्निकर : दि प्रिंसिपल्स एण्ड प्रक्टिस आफ डिप्लोमेसी, पृ0 37*

2. *बी. के. सरकार : शुक्रनीति, पृ0 129*

अध्याय—पंचम

।। दूत तथा चर व्यवस्था ।।

अध्याय-पंचम

।। दूत तथा चर व्यवस्था ।।

किसी भी देश के शासन तंत्र के सुगठित और निरापद संचालन के लिये जिन मूलभूत, प्रमुख और सशक्त उपायों का आश्रय अनिवार्य है उसमें दूत-व्यवस्था भी सम्मिलित है। शासन की आन्तरिक और बाह्य समस्त छोटी-बड़ी क्रियात्मक, भावात्मक जानकारी प्राप्त होते रहना, शासक की स्थिति को जागरूक,सन्नद्ध और प्रभावी बनाये रख सकने का वह विशिष्ट स्त्रोत है जिस पर शासनतंत्र निर्भर रहता है।

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की गतिशीलता एवं स्थायित्व के लिये प्राचीन भारतीय राजशास्त्र चिन्तकों ने दूत-व्यवस्था को आवश्यक कहा है।

प्राचीन समय में भारतवर्ष बहुत विशाल और विस्तृत होने के कारण छोटे-बड़े अनेक राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों की आन्तरिक सुरक्षा,समृद्धि और वाह्य संकट के यथोचित प्रतिरोध हेतु इनमें पारस्परिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक था। अतः राज्यों ने वैदेशिक नीति को राजनयिक रूप से कार्यान्वित करने के निमित्त कार्यवाहक अंगों की समुचित व्यवस्था की थी। ऐसे अनेकानेक उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल में इन अंगों का समुचित प्रयोग किया जाता था। राष्ट्रीय हितों का संरक्षण एवं सम्बर्द्धन एक महत्वपूर्ण तथा अत्यन्त कठिन कार्य है। अतः प्राचीन आचार्यो ने इस कार्य को सम्पादित करने के लिये स्पष्ट तथा गुप्त दोनों विधियों के प्रयोग पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने क्रमशः राजदूतों तथा गुप्तचरों की व्यवस्था की है। प्रत्येक राज्य परराज्यों के साथ मैत्री-स्थापन और पारस्परिक वार्ता-विनिमय हेतु दूसरे राज्यों में अपने-अपने दूत भेजा करते थे। विभिन्न राज्यों में दूत भेजने की प्रथा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही चली आ रही है।

दूत व्यवस्था—

राष्ट्रों में पारस्परिक राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम दूत था। दूत द्वारा ही राजा सन्धि-वार्ता करते थे और उसी के द्वारा युद्ध के लिये चुनौती देते थे। जब एक राजा दूसरे राजा

को किसी प्रकार का सन्देश भेजता था, अथवा उसको यज्ञादि के अवसर पर या युद्ध में सहायता देने के लिये आमंत्रित करता था, तब यह सब कार्य दूत के माध्यम से ही सम्पन्न होते थे।

दैत्य परम्परा भारत में बहुत प्राचीन है। दूत का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है, वहाँ दूत शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है।[1] उसी समय से देश की राजनीति में उसे महत्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थानों पर अग्नि को दूत माना गया है और उसे यज्ञ में देवों को बुलाने के लिये कहा गया है। भाषाविद् टीकाकारों का मत है कि इस शब्द के साथ चार वृत्ति (गुप्तचर कार्य) का अर्थ भी सन्निहित है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि सरमा नामक देवदूती को वृहस्पति की गायों का हरण करने वाले पाणियों का स्थान तथा उनके धन का पता लगाने के लिये भेजा गया था और वह निश्चित स्थान तक पहुँच गई थी, परन्तु जब पणियों को इसका पता चला तो उन्होंने उसे बहन बनाकर कुछ गायें देने की बात कही, इस पर सरमा ने उन्हें सुझाव दिया कि वे गायों को छोड़कर और कहीं चले जाँये।[2] कुछ टीकाकारों ने लिखा है कि सरमा एक कुतिया थी जो देवों के लिये गुप्तचरी करती थी और वे उसे देवदूती कहते थे। परन्तु शब्दों की समानार्थी परम्परा के अनुसार यह मानना ही उचित होगा कि सरमा गुप्तचर न होकर दूत थी क्योंकि यज्ञ के संदर्भ में अग्नि के लिये दूत शब्द का प्रयोग गुप्तचर के रूप में नहीं हुआ है। यदि यह मान लिया जाये कि सरमा एक कुतिया थी तो यह किस प्रकार से माना जा सकता है कि पणि उसे कुछ गायों का प्रलोभन देते, वे उसे मित्र बनाने के लिये केवल बहन जैसा सम्मान ही दे सकते थे क्योंकि कुतिया गायों को लेकर क्या करती। इस प्रकार यह स्वीकार करना ही उचित रहेगा कि सरमा देवों की दूत थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद काल में भी दूत स्वाभिमानी तथा स्वदेश प्रेमी थे और शत्रु देश के दूतों को उत्कोच देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयास भी किया जाता था। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल में भी दूतों का आदर होता था और उन्हें सम्मानित समझा जाता था तथा उनके प्रति शत्रु भी सद्व्यवहार करता था।

उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित पालागल भी दौत्य कार्य करता था।[3] महाकाव्य काल तक

---

1. *ऋ0 1/12/1, 161–3 8/44–3*

   बी. आर. आर. दीक्षितार : वार इन इन्सियन्ट इण्डिया, पृ0 337

2. *ऋ0 10/108*

3. *शतपथ ब्राह्मण : 5/3/1/11*

दूत व्यवस्था पर्याप्त उन्नत हो चुकी थी। रामायण में मिथिला और कोशल नरेश के दूतों का उल्लेख है, जो क्रमशः दशरथ और केकय-राज्य के पास भेजे गये थे। इनके अतिरिक्त रामदूत अंगद और हनुमान का लंका में दूतचर्या का उल्लेख मिलता है। यह सर्वविदित एवं सर्वमान्य है कि अंगद ने राम के दूत के रूप में, रावण को राम का अन्तिम संदेश दिया था कि या तो सीता को वापस कर दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। महाभारत में कौरवों की सभा में पाण्डवों द्वारा विदुर, संजय और कृष्ण को दूत बनाकर भेजने का वर्णन मिलता है। कृष्ण पाण्डावों के दूत बनकर दुर्योधन की सभा में गये थे और उन्होंने पाण्डवों तथा कौरवों के बीच संधि कराने एंव युद्ध को टालने का प्रयास किया था।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद, रामायण तथा महाभारत काल में भारत में दूतों का प्रयोग किया जाता था और दूत के रूप में अत्यन्त विश्वासपात्र एवं गुणवान व्यक्तियों का प्रयोग किया जाता था। कौटिल्य, मनु, भीष्म, कामन्दक, शुक्र, सोमदेव आदि राजनीतिक चिन्तकों ने दूत में अपेक्षित गुण तथा उसके कार्यों की समुचित विवेचना की है। प्राचीन तमिल ग्रन्थ तोलकाप्पियम, कुरड़ शिल्पपदिकारम् में भी दूत विषयक विवरण प्राप्त होता है।[1]

दूत व्यवस्था का परिचय ऐतिहासिक साधनों से भी मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला के शासक आम्भी ने उसके पास अपना दूत भेजकर सन्धि का प्रस्ताव किया था।[2] यूनानी लेखकों ने मालव और शूद्रक गणों के दूतों का विवरण दिया है। कर्टियस ने लिखा है कि उनके एक शत विशालकाय दूत रथों पर सवार होकर सिकन्दर से मिलने गये थे। स्ट्रैवो ने पाण्ड्य राजा के उस दूत का उल्लेख किया है जिसे उसने 20 ई0 पू0 में रोम के सम्राट आगस्टस सीजर के पास भेजा था। मौर्य सम्राटों के शासनकाल में भारत का वैदेशिक सम्बन्ध यूनान, मिश्र, चीन, लंका आदि दूरस्थ देशों के साथ था। सेल्यूकस निकेटार ने चन्द्रगुप्त के दरबार में अपने दूत मेगस्थनीज को और उसके पुत्र ऐन्टीओकस ने बिन्दुसार के समय डायमेकस को भेजा था।[3] मिश्र के शासक

---

1. *बी. आर. आर. दीक्षितार : वार इन इन्सियन्ट इण्डिया, पृ0 337*
2. *डॉ0 हेमचन्द्र राय चौधरी : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ0 18*
3. *स्टैवो : जियोग्राफी, (अनु. जोन्स बाल), 15.1. 36, पृ0 63*

   प्लीनी : नेचुरल हिस्ट्री, (अनु. रैकहैम) 6, 58, पृ0 383

टालेमी–फिलाडेल्फस का दूत डायोनीसस मौर्य दरबार में आया था।[1] अशोक के दूत यूरोप,एशिया और अफ्रीका के ग्रीक राज्यों में गये थे। मौर्योत्तर काल में भी दौत्य परम्परा के उदाहरण मिलते हैं। श्रीलंका के राजा मेघवर्ण ने गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त के पास अपने दूत भेजकर बोधगया में अपने देश के भिक्षु यात्रियों के ठहरने के लिये मठ बनवाने की अनुमति प्राप्त की थी।[2] कामरूप के शासक भास्करवर्मन ने हंसवेग नामक दूत के माध्यम से सम्राट हर्ष के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का प्रस्ताव किया था।[3] वाण के "हर्षचरित" से हर्ष की सभा में अन्य राज्यों के राजदूतों की उपस्थिति भी प्रमाणित होती है। स्वयं हर्ष ने अपना ब्राह्मण दूत चीन भेजा था और तत्पश्चात् चीन का दूत भारत आया था।[4] 643ई0 में लि–ची–पाओ नामक दूत तथा 647 ई0 में बांग–हवेन–त्से नामक दूत के नेतृत्व में एक दूतमण्डल भारत आया था।[5] 625–626 ई0 में चालुक्य नरेश पुलिकेशिन् द्वितीय ने ईरान में शाह खुसरू द्वितीय के दरबार में अपना दूत भेजा था। उसके बदले में ईरानी दूत भारत आया था। पुलिकेशिन के साथ उसकी भेंट का दृश्य अजंता की गुफा में चित्रित है।[6] पूर्व मध्यकाल में भी दूत परम्परा प्रचलित थी और भारतीय शासक एक दूसरे के यहाँ अपने प्रतिनिधि भेजा करते थे। "प्रबन्धचिन्तामणि" से विदित होता है कि गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह का दूत कन्नौज के गाहड़वाल नरेश के दरबार में नियुक्त था।[7]

राजतरंगिणी में भी कश्मीर के राजाओं का अन्य राष्ट्रों के साथ दौत्य सम्बन्ध उल्लिखित

---

1. *फ्रेडरिक श्रीन : इण्डियन ऐन्टीक्वेटरी, (खण्ड–9), 1880, पृ0 288*
2. *बी. ए. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ0 303*
3. *आर. के. मुकर्जी : हर्ष, पृ0 24*
4. *बी. ए. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ0 366*
5. *मात्वालिन : दि क्लासिक ऐज, पृ0 120*

   सम्पा. जेम्स प्रिन्सेप : जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (खण्ड–6), पृ0 69
6. *डॉ. जी. याजदानी : दकन का प्राचीन इतिहास, पृ0 203*

   रार्बट सीवेल : जर्नल ऑफ रांयल एशियाटिक सोसाइटी, (खण्ड–11), पृ0 169
7. *प्रबन्धचिन्तामणि : पृ0 74*

है।[1] इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी समकालीन साहित्य तथा अभिलेखों में प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शासकों ने विदेशी शासकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। फलस्वरूप विदेशी दूतों का भारत आगमन होता रहा।

दूत की परिभाषा—

''दुनोति स्ववारेण यातव्यभिति दूत:[2]'' अर्थात जो अपने आचरण से शत्रु को दु:खी करे, वह दूत है। भारतीय राजनीति में दूत को सर्वत्र इसी रूप में देखा गया है। विजयनगराधीश वुक्कराय के सचिव सेनानी प्रसिद्ध वेदभाष्यकार सायण ने भी दूत को ''परसैन्यवृतान्त ज्ञापनकुशाल:[3] कहा है। मनु ने दूत की उपयोगिता बताते हुये लिखा है कि सन्धि और विग्रह दूत पर निर्भर करते हैं, वही शान्ति की स्थापना करता है और सुसंगठित राष्ट्रों में भेद डाल देता है। दूत वह कार्य करता है जिससे मनुष्यों (राष्ट्रों) में फूट पड़ जाती है।[4] मनु के शब्दों को स्पष्ट करते हुये कुल्लूक लिखते हैं कि परस्पर भिन्न राष्ट्रों में सन्धि स्थापना करने में दूत ही सक्षम होता है और सुसंगठित राष्ट्रों को तोड़ने में भी। परराष्ट्र में रहता हुआ दूत वह कार्य करता है जिससे सुसंगठित राष्ट्रों में फूट पड़े या न पड़े।[5] दूत का यह आचरण निश्चय ही राजा और राष्ट्र को दु:खदायी था। तभी तो राजा को शत्रुदूत का भेद जानने का परामर्श दिया गया है।[6]

वस्तुत: दूत अतिप्राचीन काल से ही शत्रु का भेद जानने का सशक्त साधन रहा है। राजशास्त्रप्रणेताओं ने राजा को दूत के माध्यम से शत्रुराष्ट्र का रहस्य जानने की सलाह दी है।[7]

---

1. *राजतरङ्गिनी : 3/188, 231, 248, 4/505, 553*
2. *काम0 13/1 पर उपाध्याय निरापेक्षानुसारणी टीका।*
3. *तै0 सं0 4/5/7 पर सायणभाष्य।*
4. *मनु0 अ0 7, श्लोक 65-66*
5. *मनु0 7/65-66 पर कुल्लूक भट्ट की टीका*
6. *दूतस्य यद्रहस्यं च तद्देश्योभायवेतने:।*

   "तच्छीलेर्वा परिज्ञेय" येन शत्रु: प्रसिध्यति।

   ☞ *नीतिवाक्यामृतम् टीका में शुक्र के नाम से उद्धत परन्तु शुक्रनीतिसार में अप्राप्य।*
7. *दूतेव नरेन्द्रस्तु कुर्यादरिविमर्शनम्। काम0 सर्ग 13, श्लोक 25 और मनु0 अ0 17, श्लोक 68*

ऋग्वेद में इन्द्र की दूती सरमा पणियों तक इन्द्र का सन्देश पहुँचाने के साथ-साथ उनके रहस्यों का भी पता लगाती है।[1] वहीं एक अन्य स्थल पर यम के दूत कपोत आदि गुप्तचरी करते बताये गये हैं।[2] रामायण में भी सुग्रीव ने अपने दूत हनुमान को भिक्षु के रूप में प्रथमत: राम-लक्ष्मण के वनागमन का कारण ज्ञात करने के लिये ही भेजा था।[3] इसी प्रकार सीता की खोज के अवसर पर भी हनुमान ने गुप्तचरी के साथ-साथ दौत्यकर्म बड़ी सफलता के साथ निभाया था।[4]

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने दूत को चरस्थानीय माना है। चर प्रच्छन्न रूप में जो कार्य करता है वही कार्य दूत प्रकाश रूप में सम्पादित करता है। सभी आचार्य इस सन्दर्भ में एकमत हैं कि परराष्ट्र में रहता हुआ दूत वहाँ के सभी रहस्यों को जानने का प्रयास करे। "दूत" की यह परिभाषा इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिया के उन शब्दों में अक्षरश: मिलती है जिनमें दूत को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संरक्षण में आदरास्पद गुप्तचर बताया गया है।[5] लगभग यही बात 17वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजनितिज्ञ सर हेनरी वोट्टन ने भी कही थी कि "राजदूत ऐसा ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश के हित के लिए विदेश में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है।"[6] चर और दूत में एक दूसरा अन्तर यह

---

1. *ऋ0 10/108*
2. *ऋ0 4/165/10*
3. *रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 4, श्लोक 2-3*
4. *(क) प्रकाशश्वाप्रकाशश्व वरस्तु द्विविध: स्मृत:।*

   अप्रकाशो यमुदिद्ष्टि: प्रकाशे दूत उच्यते। काम0 सर्ग 13, श्लोक 23

   (ख) दूताश्व में प्रकटमैव राजान्तर प्रति शतागतमा वरिन्त। याज्ञ0 1/328 पर मिताक्षरा टीका।

   (ग) चर: प्रकाशे दूत: स्यादप्रकाशश्वरों द्विधा। आदिपुराण : 241/12

   (घ) प्रकाशें दूत संज्ञक। युक्तिकल्पतरू : 71/9-10
5. *An ambassador is often nothing more than an honourable spy acting under the protection of the law of nations. — Encyclopedea Britainca.*
6. *An ambassador is a person who is sent tell a lie abroad for the benifite of his country.*

   —Lawrence : The Principles of international Law, p. 272.

है कि दूत का कार्यक्षेत्र केवल परराष्ट्रों तक ही सीमित है जबकि चर राष्ट्र और परराष्ट्र दोनों में ही गुप्तचरी का कार्य करते हैं। परराष्ट्र में गुप्तचर स्वतन्त्र भी कार्य करते थे और दूत भी अपने अलग गुप्तचर रखता था।

दूत का महत्व—

दूतों की महत्ता एवं आवश्यकता प्रत्येक काल एवं युग में रही है और वर्तमान समय में भी दूत किसी देश की राजव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का एक प्रमुख अंग माने जाते हैं। प्रारम्भ में, भारत जैसे विशाल देश में छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व था, जो कालान्तर में कुछ बड़े राज्यों और साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। शान्ति और युद्ध दोनों ही काल में उनके बीच पारस्परिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का विकास प्रारम्भ हुआ। विदेशी आक्रमणों और आवागमन के कारण विदेशों से भारत का सम्बन्ध स्थापित हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास ने प्राचीन भारतीय-प्रशासन में दूत-पद को जन्म दिया जिसका सैद्धान्तिक रूप वैदिक युग में ही विद्यमान था। क्रमश: बदलती हुई परिस्थितियों से दूत -पद्धति का क्रमिक विकास और व्यावहारिक उपयोग प्रारम्भ हुआ, जो इंगित करता है कि प्राचीन भारतीय शासकों ने विभिन्न राज्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के संदर्भ में पृथक्त्व के सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया था।

प्राचीन भारत में अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध उच्च सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आधार पर स्थित थे। सामान्यत: विभिन्न राज्यों अथवा देशों के मध्य शत्रुता और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनते और बिगड़ते रहते थे। प्राय: शासकों को यह सर्वाधिकार प्राप्त होता था कि वे दूसरे देशों या राज्यों से मैत्री या शत्रुतापूर्ण नीति निर्धारित करें । इन नीतियों के कुशल निर्धारण -कार्यान्वन के लिये प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने मण्डल-सिद्धान्त, जो वास्तव में शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त था, का प्रतिपादन किया था। इसके साथ ही षड्गुण्य नीति-सन्धि, विग्रह, संश्रय, द्वैधीभाव, यान और आसन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया । कूटनीति और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के सफल संचालन हेतु नीति के चार उपायों-साम,दाम,भेद और दण्ड के प्रयोग का भी निर्देश दिया गया था। इन सभी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करने के लिये दूत की उपयोगिता तथा उसकी भूमिका को स्वीकार किया गया ।

दूत का महत्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि वैदिक वाड्मय में देवताओं के दूतों का भी

उल्लेख मिलता है।[1] महाकाव्य युग में स्वयं कृष्ण ने दौत्य कार्य किया था। जो व्यक्ति दूत बनाकर अन्य देश में भेजा जाता था,वह एक प्रमुख अधिकारी तो होता ही था, साथ ही देशभक्त, निर्भीक और कुशल भी होता था, कारण परराष्ट्र से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान अधिकांश दूत पर ही निर्भर था। राजा तथा राज्य की प्रतिष्ठा और कार्य-सफलता प्रायःदूत के व्यक्तित्व, वाकपटुता और कार्यकुशलता पर आश्रित थी। सामान्य परिस्थिति में अथवा युद्धादि के समय विभिन्न राजाओं के मध्य, बातचीत आरम्भ करने का मुख्य साधन दूत ही था।कौटिल्य ने इसीलिये दूत को राजा का मुख कहा है,[2] तो कामन्दक ने उसका नेत्र[3] , सोमदेव और शुक्र उसे राज्य के मंत्रिमण्डल में स्थान देते हैं।[4] मनु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सन्धि-विग्रह दूत के ही अधीन मानते हैं।[5] दूत रूपी मुख के द्वारा राजा परराज्य में अपनी नीति को अभिव्यक्त करता था। महाभारतकार के अनुसार दूत स्वामी के कथानुसार यथार्थ बात को कहने वाला व्यक्ति होता है।[6] वास्तव में दूत एक विश्वसनीय संदेशवाहक का कार्य करते हुये राज्यों के मध्य सद्भावना स्थापित करता है। इसी कारण प्राचीन भारतवर्ष में दूत को वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में प्राप्त प्रतिष्ठा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता था। आजकल जैसे दूत को ''पवित्र और अवध्य'' मानते हैं, वैसे ही प्राचीन ग्रन्थों में दूत का वध करना वर्जनीय माना गया है।[7] महाभारतकार का मत है कि दूत की हत्या करने वाला राजा अपने मंत्रियों सहित नरक में जाता है।[8] महाभारत प्रणेता ने दूत को कटुवचन कहना अथवा बन्दी बनाना भी वर्जित माना है।[9] वर्तमान समय में भी दूत का पद महत्वपूर्ण माना जाता है।

---

1. *रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 48*
2. *अर्थ0 अधि0 1, अ0 16, वार्ता 16*
3. *काम0 सर्ग 16, श्लोक 52*
4. *नीतिवाक्यामृत : 13/1 ; शुक्र0 अ0 2, श्लोक 69-70*
5. *मनु0 अ0 7, श्लोक 65*
6. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 85, श्लोक 27 ; उद्योगपर्व : अ0 162, श्लोक 39*
7. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 85, श्लोक 26 ; अर्थ0 1/15*
   रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 52, श्लोक 14-15
8. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 85, श्लोक 26*
9. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 162/39, 88/18*

दूतों का वर्गीकरण—

दूतों के वर्गीकरण से सम्बन्धित प्राचीनतम् उल्लेख यजुर्वेद में प्राप्त होता है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में दूत और प्रहित—ये शब्द साथ-साथ आये हैं।[1] सायण ने उक्त स्थल की व्याख्या करते हुये दूत और प्रहित को क्रमश: "परसैन्यवृतात्तज्ञापन कुशल" और "स्वामिना प्रषित: पुरूष: प्रहित:" कहा है इससे स्पष्ट होता है कि शत्रु की सेना आदि का रहस्य जानने के लिये परराष्ट्र में नियुक्त व्यक्ति "दूत" कहे जाते थे। किन्तु जो व्यक्ति राजा द्वारा किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर सन्देश आदि पहुँचाने के लिये दूसरे राष्ट्र में भेजे जाते थे, उनकी संज्ञा "प्रहित" थी।

किन्तु आगे चलकर यह व्यवस्था उलट गयी प्रतीत होती है, क्योंकि प्राय: सभी राजशास्त्रप्रणेताओं ने "दूत" को राजा का मुख, यथोक्तवादी, दूसरे के लिये बोलने वाला परवश व्यक्ति कहा है।[2] जिससे उसका प्रमुखतया सन्देशवाहक होना ही सूचित होता है। लेकिन परराष्ट्र में सम्मान का पद ग्रहण करने के कारण अपनी स्थिति का लाभ उठाते हुये वह गुप्तचरी करता था—यह दूसरी बात है ।[3] इस प्रकार परवर्तीकाल में वह निश्चित रूप से "प्रहित" ही था। किन्तु सम्भव है कि दूत को गुप्तचरी आदि के कुछ विशाषाधिकार अपने नियोक्ता की ओर से प्राप्त होते हों प्रहित को नहीं, किन्तु प्राचीन साहित्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

दूतों का प्रथम और सुस्पष्ट वर्गीकरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। वहाँ कौटिल्य ने दूतों के तीन प्रकार बताये हैं—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर।[4] अग्निपुराण और कामन्दकीयनीतिसार के अनुसार भी दूतों के तीन ही प्रकार हैं —निसृष्टोर्थ, मितार्थ और शासनहारक।[5] विज्ञानेश्वर के अनुसार निसृष्टार्थ, सन्दिष्टार्थ और शासनहर—ये दूतों के तीन प्रकार होते हैं।[6]

---

1. *"दूताय व प्रहिताय व"।* *तै0 सं0 4/5/7*
2. *इसी अध्याय का "दूतों की योग्यता (अपेक्षित गुण)" शीर्षक।*
3. *इसी अध्याय का "दूतों के कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व" शीर्षक।*
4. *अर्थ0 2/11/15/1*
5. *निसृष्टार्थो मिार्थरच तथा शासनहारक:।*
   सामर्थ्यापादतों हीनो दूतस्तु त्रिविध:।
   सामर्थ्यात्पादतों हीनों दूतस्तु त्रिविध: स्मृत:।। अग्नि0 241/8 ; काम0 सर्ग 12, श्लोक 3
6. *ते व त्रिविधा—निसृष्टिार्थत सन्दिष्टार्थ, शासनहराश्चेति। याज्ञ0 1/328 पर मिताक्षरा टीका।*

सोमदेव कौटिल्य का ही अनुसरण करते हैं।[1] किन्तु युक्तिकल्पतरू में राजर्षिभोज ने विमृष्टार्थ, मिताव्यी और सन्देशहारक—ये तीन प्रकार के दूत बताये हैं।[2] कौटिल्य का निसृष्टार्थ और भोज का विमृष्टार्थ शब्दार्थ की दृष्टि से एक न होते हुये भी प्रकृति की दृष्टि से "एक" है। मितार्थ और परिमितार्थ तो समानार्थी शब्द हैं। विज्ञानेश्वर ने इसी को सन्दिष्टार्थ कहा है जो अपनी प्रकृति में मितार्थ से भिन्न नहीं है। शासन, शासनहारक और सन्देशहारक—तीनों में अर्थ और प्रकृति—दोनों ही की समानता है।

1. निसृष्टार्थ—

कौटिल्य के शब्दों में "अमात्यसम्पदोपेतो निसृष्टार्थ"[3] निसृष्टार्थ दूत की परिभाषा है। "अमात्यसम्पदोयेत' का अर्थ है—"अमात्य (मन्त्री) के गुणों या अधिकारों से युक्त"। इस प्रकार "निसृष्टार्थ" दूत वह दूत था जिसे अमात्योचित गुण होने के कारण ही अमात्य के अधिकार देकर नियुक्त किया जात्ता था। किन्तु एच. एस. भाटिया "अमात्यसम्पदोपेत:" को निसृष्टार्थ की परिभाषा मानने को तैयार नहीं है। उनके अनुसार "अमात्यसम्पद्" एक परिभाषिक शब्द है। जिसकी व्याख्या स्वयं कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अधिकरण 1, प्रकरण 3, अध्याय 7 के अन्तर्गत की है। इस प्रकार वह अमात्यसम्पद् शब्द से "अमात्य के गुणों" का ही ग्रहण करते हैं। दूसरे यह शब्द अर्थशास्त्र में ही सर्वाध्यक्ष [4] और लेखक [5] के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ मिलता है। अत: उनके अनुसार कौटिल्य के शब्दों को मुश्किल से ही दूतों की परिभाषा माना जा सकता है। वे इन

---

1. *स त्रिविधों निसृष्टार्थ परिमितार्थ शासनहरश्चेति। नीतियाक्या0 13/3*
2. *दूतास्त्रयों मा त्यगुणे: समै: पादार्थवार्जिते:।*
   विमृष्टार्थ: कार्य वशसाच्छासनं न करोति य:।।
   मितार्थ: कार्यमावोक्तो न कुर्यादुरोत्तरम्।
   यथोक्तवादी सन्देशहारको लेखहारक:।। युक्तिकल्पतरू : 21/75-76
3. *अर्थ0 1/11/15/1*
4. *अमात्यसम्पदोपेतो: सर्वाध्यक्षा: शक्तित: नियोज्या:। अर्थ0 2/25/9/1*
5. *तस्मांदमा त्यसम्पदोपेत: सर्वसमर्थावदाशग्रन्थ श्र्वविक्षरों लेखवाचनसमर्थो लेखक: स्मात्।*
   अर्थ0 2/25/10/2

शब्दों से दूतों की योग्यताओं का ही ग्रहण करने के पक्ष में हैं और उनका मत है कि तीन प्रकार के दूतों के लिए प्रयुक्त तीनों शब्द अर्थशास्त्र में अपरिभाषित ही रहे हैं।[1]

एच. एस. भाटिया के उक्त मत में कोई सार प्रतीत नहीं होता। "अमात्यसम्पद्" शब्द से अमात्य के गुण (योग्यता) और उसके अधिकार दोनों को एक साथ ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं है। प्रो. टी. बी. मुखर्जी ने अमात्यसम्पद् का अर्थ मन्त्री का स्तर ही माना है।[2] भारतीय परम्परा का प्रत्येक विद्यार्थी यह भलीभाँति जानता है कि समग्र प्राचीन भारतीय राजनीतिदर्शन में अधिकारों को योग्यता के साथ जोड़ दिया गया है। प्राचीन भारत में आज की भाँति अधिकारों को योग्यता से पृथक नहीं देखा जाता था। अतः जिस व्यक्ति में अमात्योचित गुण हों, उसे दौत्य जैसे महत्वपूर्ण

---

1. *"The term Amatyasomad not only also occurs in other places of the Arthashostra, but it seems to have been a real technical term of which Kautilya has provided in with an extensive definition..........Kautilya's difinitions of three kinds of duties have nothing to do what so ever with their respective powers, but they rather refer to the qusalifications required in these high official. Actually, kautilyas words can here by be said to be difinition of the various duties the tern Amatyasoniped is so little peculiar of the duta, that it has also been used not only with regard to the Amatya as in natural, but equally so with regard to the three terms which were perepicious enough be themselves but which had remained undifined in the........."*

   H. S. Bhatia : International law and Practice in ancient India

2. *"One with the qualification of a minsiter is an ambassador. The qualifi cation mentioned is not is not the personal qualities of had and heart but it means that the ambassador was to have the status of a minister ....To volidate his action he was given the staus of a minister.....To volidate his action he was given the status of ministor."*

   T.B. Mukharajee : Interstate Relations in Ancient India, p. 172

कार्य में नियुक्त करते समय तद्गुणोचित अधिकार देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। रही बात सर्वाध्यक्ष और लेखक के "अमात्यगुणोपेत" होने की, वह भी अनुचित नहीं है। सम्भवतः श्री भाटिया ने सर्वाध्यक्ष को एक विशिष्ट अधिकारी समझ लिया है और यह उनकी भूल है। कौटिल्य ने "सर्वाध्यक्षाः" शब्द का प्रयोग किया है जो बहुवचनान्त है। इससे "भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष" अर्थ ही अभिप्रेत हैं। विभागाध्यक्ष अपने विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता है, अतः उसे अमात्यसदृश गुणों और अपने विभागीय कार्य के संचालनार्थ अमात्यसदृश अधिकारों से युक्त होना ही चाहिये। इसी प्रकार लेखक विदेशों के भेजे जाने वाले सन्देशों को लिखने का काम करता था।[1] अतः उसका भी उक्त गुणों और अधिकारों से सम्पन्न होना अनुचित नहीं है। वस्तुतः कौटिल्य ने केवल मन्त्रियों अथवा अमात्यों की विशिष्ट योग्यताओं का सविस्तार वर्णन किया है। अन्य सभी अधिकारियों में भी वे गुण होने ही चाहिये—यह कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है। हम यह नहीं कह सकते कि अधिकारियों के पीछे गुप्तचर लगे रहते थे। अतः उन्हें उच्च अधिकार प्राप्त नहीं थे। कौटिल्य की समग्र नीति अविश्वास पर आधारित है। मन्त्री, रानी, राजकुमार सभी के पीछे गुप्तचर लगाना कौटिल्य को अभीष्ट था।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में "अमात्यसम्पदोपेतः" को निसृष्टार्थ दूत की परिभाषा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। परराष्ट्र में भेजा गया "दूत" राजा का मन्त्री ही होता है। यह बात अनेक आचार्यों ने स्वीकार की है।[2] यह स्थिति सामान्य दूत की नहीं हो सकती। निश्चय ही निसृष्टार्थ कोटि के दूत के लिये यह कहा गया होगा। रामायण में सुग्रीव के दूत हनुमान को राम ने "सचिव" कहा है।[3] जिससे उनका "अमात्यसम्पदोपेत" होना स्वतः सिद्ध है। पाण्डवों के दूत कृष्ण ऐसे सर्वाधिकार सम्पन्न दूत थे जिन्हें युधिष्ठिर ने यह अधिकार देकर भेजा था कि जो भी हमारे हित की बात हो उसे

---

1. *अर्थ० 2/26/10/1—2*

2. *अना सन्नेठेवयेषु दूतों मन्त्री।* *नीतिवाक्यामृतम : समुद्देश 13, श्लोक 1*

   "देशान्तरस्थित" कार्य दूतद्वारेण सिधति।

   सस्माद् दूतो यथामन्त्री सत्वांह हि प्रसाध्येत् ।।

   ☞ *याज्ञवलक्य टीका में उद्धत राजपुत्र का वचन।*

3. *सचिवो यं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्थ महात्मनः ।। रामा० 2/114/47*

दुर्योधन से कहना।[1] सभी आचार्यों ने कृष्ण को निसृष्टार्थ दूत के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

अर्थशास्त्र के बाद अग्निपुराण [2] और कामन्दकीयनीतिसार [3] में "निसृष्टार्थ" शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु वहाँ इसकी व्याख्या नहीं की गई है। सर्वप्रथम नीतिवाक्यामृत में इस शब्द की परिभाषा मिलती है। उसके अनुसार "यत्कृतो स्वामिनः सन्धिविग्रहो प्रमास निसृष्टार्थः यथा कृष्णः पाडवानाम्" [4] अर्थात् जिसके द्वारा किये गये सन्धि-विग्रह संबन्धी निर्णय राजा को मान्य होते हैं, वह निसृष्टार्थ कहलाता है। उन्होंने पाण्डवदूत कृष्ण को इसके उदाहरण रूप में बताया है। विभिन्न आचार्यों के शब्दों में निसृष्टार्थ दूत की परिभाषा इस प्रकार है–

(क) जो सभी राजकार्यों को देश और काल के अनुरूप स्वयं ही करने में समर्थ हैं, वे निसृष्टार्थ दूत कहे जाते हैं।[5]

(ख) जो बिना बताये या सिखाये ही देशकाल के अनुरूप यथायोग्य दूसरे राजा के सामने कहा है, वह निसृष्टार्थ दूत होता है, जैसे—पाण्डवों के दूत श्री कृष्ण।[6]

(ग) सभी गुणों और सामर्थ्य (अधिकारों) से युक्त दूत को निसृष्टार्थ दूत जानना चाहिये।[7]

(घ) निसृष्ट वह दूत होता है जिसके सन्धि-विग्रह आदि प्रयोजन राजा द्वारा निश्चित नहीं हैं, जैसे युधिष्ठिर ने कृष्ण को यह कहकर भेजा था कि जो हमारे हित की बातें हो उन्हें दुर्योधन से कहना। सन्धि ही करनी है या विग्रह ही करना है, ऐसा नियन्त्रण इस दूत पर नहीं होता।[8]

---

1. *ययस्मद्धितं कृष्ण तत्तद्वाच्यः सुयोधनः ।। महाभारत : 5 /72/92*
2. *अग्नि0 241/8*
3. *काम0 सर्ग 13, श्लोक 3*
4. *नीतिवाक्या0 13/3*
5. *तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्यमेव कर्तुं क्षमाः। याज्ञ0 1/323 पर मिताक्षरा टीका।*
6. *तत्रयः अशिक्षितमेव देशकालोचितं यथायोग्यमन्यस्यागे वदति स निसृटार्थः यथा पाण्डवानां दूतो वासुदेवः।*

   ☞ *काम0 सर्ग 13,श्लोक 3 पर नीतिमयूख में नीलकण्ठ की व्याख्या।*
7. *तत्र गुणसाकल्यं सामर्थ्यमस्य तदुपेतों निसृष्टार्थो वेदितयुक्तः। शंकराचार्य कृत जयमंगला टीका।*
8. *निसृष्टः नियमरहितः अर्थः सन्धि विग्रहादिकः यस्य, यथा युधिष्ठिरेण वासुदेव एवमुक्त्वा प्रेषित ; यक्षदस्मद्धितं कृष्ण तत्तद्धवाच्यः सुयोधनः। अत्र सन्धिरेव कर्तव्यो विग्रहो वेति न नियमः।*

   ☞ *उपाध्यायनिरपेक्षानुसारिणी टीका।*

(ड) जिसका वाक्य राजा के लिये अनीप्सित होने पर भी अन्यथा नहीं होता उसे नीतिज्ञ लोग निसृष्टार्थ दूत समझते हैं।[1]

भोजदेव ने निसृष्टार्थ के स्थान पर "विमृष्टार्थ" शब्द का प्रयोग किया है। उनकी "विमृष्टार्थ" की परिभाषा के अनुसार विमृष्टार्थ दूत, अमात्यगुणों से युक्त, आधे–अधूरे अधिकरों से रहित अर्थात् पूर्ण अधिकारों से युक्त किन्तु जो राजा के कार्यों में संलग्न होने के कारण स्वयं शासन नहीं करता।[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोचन से स्पष्ट है कि यद्यपि कौटिल्य और भोज के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने निसृष्टार्थ दूत के अमात्याधिकार से सम्पन्न होने की बात नहीं कही, तथापि उसके विशिष्ट अधिकार क्षेत्र को देखते हुये उसे "अमात्य के अधिकारों से सम्पन्न" मानने में कोई विपत्ति नहीं दिखायी देती। डॉ. पी. वी. काणे ने उसे मन्त्री के अधिकार से युक्त आजकल के राजदूत (Ambassador) के समान माना है।[3] डॉ. अल्तेकर उसे मध्यस्थता के पूर्व अधिकारों से सम्पन्न मन्त्री सदृश मानते हैं।[4] डॉ. एच. एल. चटर्जी उसकी आधुनिक राजदूत से समानता करते हुये कहते हैं कि आज भी भारतीय गणतन्त्र में राजदूत केन्द्रीय केबिनेट के मन्त्री के समान पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।[5]

2. परिमितार्थ—

जैसा कि इसके शब्दार्थ से स्पष्ट है कि इस श्रेणी के दूत के सन्धि-विग्रहादि प्रयोजन

---

1. *यद्वाक्यं ना नान्याथाभावि प्रभोर्थप्यनीप्सितम्।*

   निसृष्टार्थः स विज्ञेयो दूतो ना तिविवक्षणेः।

   नीतिवाक्या0 13/3 पर याज्ञवलक्य टीका में उद्धत भृगु का कथन।

2. *दूतो स्वयोऽमात्यगुणेः समेः यादार्धवर्जितेः।*

   foe"VkFkZd k, Z' kkFNk u u d j kfr ; %a ; qfDr d Yi r: %11@5

3- MkW0 ih0oh0 d k.ks/ keZ'kkL= d k bfr gkl] (fgUnh v uqokn)] Hkkx 2] i 0 635

4- MkW, 0, l 0 v Yrsd j %LVsV , .M xoZesUV bu , fU ; UV bf.M; k] i 0 222

5- MkW, p0 , y0 pVth hZ%b.Vjusku y kW,V. M b.VjLVsV fj y sku bu , fU ; UV bf.M; k] i 0 210

परिमित अर्थात् सीमित और नियन्त्रित होते हैं।[1] कौटिल्य के अनुसार वह अमात्योचित गुणों और अधिकारों के प्रथम श्रेणी के दूत (निसृष्टार्थ) से 1/4 कम होता है।[2] वह राजा द्वारा कही हुई बात को ही परराष्ट्र में कहने का अधिकारी है, अपनी ओर से वह कुछ नहीं कह सकता।[3]

विज्ञानेश्वर ने इसी को "सन्दिष्टार्थ" [4] कहा है और इसकी परिभाषा "उक्तमात्रं ये परस्मे निवेदयन्ति ते सन्दिष्टार्थः" अर्थात् जो दूसरे राजा के लिये मात्र कही हुई बात (सन्देश) ही कहते हैं, दी है। डॉ. अल्तेकर भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि परिमिथार्थ राजा के निर्देशों का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

3. शासनहर—

राजा का लिखित सन्देश, आदेश या प्रतिज्ञा "शासन" कही जाती है। उसे परराष्ट्र तक पहुँचाने वाला व्यक्ति "शासनहर" कहलाता था। [5] प्राचीन समय में ऐसे पत्रवाहकों या सन्देश वाहकों को भी राजनीतिशास्त्रियों ने दूत का दर्जा दे रखा था। [6] लेकिन दूतों की श्रेणी में यह सबसे छोटी कोटि का दूत था। कौटिल्य ने उसे प्रथम श्रेणी के (निसृष्टार्थ) दूत के गुणों और अधिकारों में "आधा" बताया है।[7] भोज के अनुसार वह लेख के साथ-साथ मौखिक सन्देश भी ले जाता था किन्तु उसे सन्देश का मात्र यथोक्त कथन करना होता था।[8]

---

1. *मितार्थः मितः नियमितः निदिष्टः अर्थः सन्धि विशुहा दिवः वस्यसःत्व रिपु संसदि एवं व्यवहर्तव्य यथा विग्रहोभवति, इत्येव स्वामिता नियमित मितार्थः। कामO 13/1 पर अपाध्यायनिपेक्षानुसाररिणी टीका।*
2. *पादगुणहीनः परिमितार्थ। अर्थO 1/11/15/1*
3. *यत्प्रोक्तं प्रभुणा वाक्यं तत्प्रमाणं वदेच्च यः।*
   परिमितार्थ इतिज्ञेयो दूतों नान्य ब्रवीति यः।। नीतिवाक्याO 13/3 की टीका में उद्धत भृगु का कथन।
4. *याज्ञO 1/328 पर मिताक्षरा टीका।*
5. *शासनहरा स्तु राजलेखहारिणः। याज्ञवलक्यO 1/328 पर मिताक्षरा टीका।*
6. *प्रभुणालेखितं यच्द तत्परस्य निवेदयेत्।*
   यः शासनहरः सौ पि दूतो ज्ञेयों नवान्वितेः। नीतिवाक्याO 13/13 की टीका में उद्धत भृगु का कथन।
7. *अर्धगुणहीनः शासनहारः । अर्थO 1/11/15/1*
8. *यथोक्तवादी सन्देशहारको लेखहारकः। युक्तिकल्पतरू : 11/76*

4. पालागल—

इस प्रकार के दूत का उल्लेख केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में ही पाया जाता है। यह जाति से शूद्र होता था और राजा के सन्देश का वहन करता था।[1] वैदिक साहित्य के बाद के साहित्य में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता।

दूतों को उपर्युक्त वर्गीकरण सन् 1815 में वियना कांग्रेस द्वारा किये गये दूतों के वर्गीकरण से असाधारण रूप से समानता रखता है। वियना कांग्रेस ने दूतों की तीन ही श्रेणियों निश्चित की थीं[2]—

(अ) राजदूत एवं पोप दूत—

ये अपने राजाध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि माने जाते हैं। ये पराष्ट्राध्यक्ष से सीधे मिलकर वार्ता कर सकते हैं। प्राचीन भारतीय "निःसृष्टार्थ" दूत भी इसी श्रेणी का दूत था।

(ब) पूर्णाधिकार मन्त्री तथा असाधारण दूत—

इस प्रकार के दूत अपने शासनाध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि नहीं माने जाते और उन्हें परराष्ट्र में राष्ट्राध्यक्ष से सीधे मिलने एवं बात करने का भी अधिकार नहीं होता। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से यह निःसृष्टार्थ से कम हैं क्योंकि इसे परराष्ट्राध्यक्ष से सीधे मिलने जैसे अधिकार प्राप्त नहीं हैं। डॉ. हीरा लाल चटर्जी परिमितार्थ को इस श्रेणी में रखते हैं।[3]

(स) कार्यदूत—

इस प्रकार के दूत वर्तमान समय में राष्ट्राध्यक्ष द्वारा न भेजे जाकर विदेश मन्त्रालय द्वारा विदेश मन्त्रालय को भेजे जाते हैं। डॉ. हीरा लाल चटर्जी "शासनहर" को इसके समकक्ष मानते हैं।[4]

किन्तु प्राचीन भारतीय दूतों की विभिन्न श्रेणियों की वर्तमानकालीन दूतों के साथ तुलना करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्राचीन भारतीय आचार्यों के मतानुसार दूत—प्रेषण का कार्य राजा का ही था। सभी प्रकार के दूतों की नियुक्ति राजा ही करता था। मन्त्रियों या अन्य

---

1. *शत० ब्रा० 5/3/1/11, 13/5/5/8*
2. *लॉरेन्स : प्रिन्सिपिल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ०, पृ० 274*
3. *लॉरेन्स : प्रिन्सिपिल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ०, पृ० 274*
4. *डॉ० हीरा लाल चटर्जी : इण्टरनेशनल लॉ एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० 57*

अधिकारियों को दूत की नियुक्ति का अधिकार नहीं था। सभी दूत राजा के प्रतिनिधि माने जाते थे। यद्यपि उनके अधिकारों की सीमा भिन्न-भिन्न थी।[1]

दूत की योग्यता (अपेक्षित गुण) –

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने तथा युद्ध परिहार्य में दूत महत्वपूर्ण योगदान देते थे। अत: प्राचीन भारतीय विचारकों ने दूत के महत्व को समझकर दूतों के लिये अनेकानेक गुणों की आवश्यकता पर बल दिया है। कौटिल्य के अनुसार दूत राजा के मुख के समान होता है।[2] कुछ प्राचीन आचार्य दूत को राजा की आँख और कान की संज्ञा भी देते हैं क्योंकि वह शत्रु राज्य में रहकर वहाँ की परिस्थितियों को देखता तथा सुनता है और यही कारण है कि अग्नि पुराण में उसे 'प्रकाश चर' अर्थात् राजा का साक्षात् गुप्तचर भी कहा गया है। राजदूत वैदेशिक नीति के कार्यान्वयन तथा राजनय के सफल सम्पादन में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं अत: राष्ट्रीय हित में इनका गुणवान् होना आवश्यक है।

"दूत" नियुक्त करते समय उसकी "योग्यता" का अतिप्राचीन काल से ही ध्यान रखा जाता रहा है। ऋग्वेद में यद्यपि दूत की योग्यताओं का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता तथापि उसके यत्र-तत्र विखरे हुये प्रसंगों से संकेत मिल जाते हैं। ऋग्वेद में अग्नि और मरुद्गणों को देवताओं का दूत तथा "सरमा" को इन्द्र की दूती कहा गया है। इनकी चारित्रिक विशेषताओं के आलोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न वही व्यक्ति दूतपद के अधिकारी हुआ करता था जो स्वयं में श्रेष्ठ हो, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हो, बलवान हो और जिनका आचरण संयमपूर्ण रहा हो,[3] जो अग्नि के समान गृहपतियों और राष्ट्रवासियों के आनन्द को बढ़ाने वाला हो,[4] तन्द्रा रहित हो,[5] यथोक्तकथन और सन्देशवहन करने वाला तथा उसकी प्रस्तुति में विलम्ब न करने वाला हो [6] और

---

1. *डॉ0 हीरा लाल चटर्जी : इण्टरनेशनल लॉ एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ0 57*
2. *अर्थ0 1/15*
3. *ऋ0 1/161/1*
4. *ऋ0 4/36/1*
5. *ऋ0 5/10/7*
6. *ऋ0 5/43/5*

स्वामिभक्त एवं लोभरहित हो।[1]

सर्वविदित है कि दूत के उपर्युक्त गुणों की उपयोगिता सभी देशों की सार्वकालिक राजनीति के लिये स्थायी महत्व रखती है। यद्यपि दूत की उपरिनिर्दिष्ट योग्यताओं के अन्तर्गत ही उसकी अन्य सभी सम्भावित योग्यताओं का अन्तर्भाव हो जाता है तथापि देश-काल की बदलती हुई परिस्थितियों और बढ़ते हुये राजनीतिक दाँव-पेचों के कारण "दूत" का राजनीतिक महत्व बढ़ जाने से उसकी आवश्यक योग्यताओं का समय-समयय पर आलोचन, पुरस्सर, पुननिर्धारण अपरिहार्य हो जाता है। भारतीय राजशास्त्री अपनी सामयिक परिस्थितियों के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं और ऐसे महत्वपूर्ण विषयों पर अपनी सम्मति देते रहे हैं।

महाभारत में "दूत" की आठ आवश्यक योग्यताओं का उल्लेख किया गया है—गर्वरहित, समर्थ, कार्य में देरी न करने वाला, दयावान, सुन्दर, शत्रु जिसे अपने पक्ष में न मिला सके,निरोग और उदार अर्थात् युक्तियुक्त वचन बोलने वाला।[2] महाभारत में ही एक अन्य स्थल पर उसके सात गुणों का उल्लेख किया गया है-कुलीन,शीलसम्पन्न,वाकपटु,दक्ष, प्रियंवद, यथोक्तवादी और स्मृतिवान्।[3] एक अन्य स्थल पर ब्रह्मवादी ब्राह्मण विशेषतः बृद्ध को दूत पद पर नियुक्त करने की बात कही गयी है।[4] यह इसलिये कि वृद्धों में कुल धर्म के पालन की परम्परा रहती थी।[5] महर्षि वाल्मीकि का मत है कि अपने ही राष्ट्र के उस नागरिक को ''दूत'' बनाना चाहिये जो विद्वान हो, अपने अनुकूल हो, प्रतिभाशाली हो और यथोक्तवादी हो।[6] एक अन्य स्थान पर राम सुग्रीव के दूत हनुमान के गुणों

---

1. *ऋ0 10/108/10*
2. *अस्तब्धमवलीबम दीर्घसूत्र, सानुकोश श्लक्षणमहायेमन्यैः।*
   अरोगजाती यमुदारवाक्यं, दूतं वदन्त्यष्टगुणोदयन्नम्।। — *म0 भा0 5/37/25*
3. *कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।*
   यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिगुणेः।। — *म0 भा0 12/86/27*
4. *दूतकर्मरियुक्तरिप स्थविरथ्य विशेषतः।* — *म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 6, श्लोक 17*
5. *वृद्वैषु कुलधर्म च ध्रुवन पूर्वे नुष्ठितम।* — *म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 6, श्लोक 15*
6. *कश्विज्जानपदौ विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान्।*
   यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भारत पण्डितः।। — *रामा0 2/114/47*

की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि "ऋग्वेद और सामवेद का अध्ययन किये बिना कोई व्यक्ति इतना युक्तिसंगत नहीं बोल सकता, इसके बहुत बोलते हुये भी एक भी शब्द अशुद्ध नहीं बोला ।अतः निश्चय ही इसने व्याकरणशास्त्र अनेक बार गुरूमुख से सुना है। इसके मुख, नेत्र,ललाट, भौहें अथवा अन्य किसी अंग में कोई दोष भी नहीं है। इसके हृदयस्थ वाक्य सारवान, असन्दिग्ध, विलम्बरहित किन्तु अद्भुत हैं और वे कण्ठ के भी मध्यम स्वर में है। यह व्याकरण आदि के संस्कार से सम्पन्न अद्भुत किन्तु अविलम्बित, मनोहर और कल्याणकारी वाणी को बोलता है।[1] इस प्रसंग से स्पष्ट है कि दूत वेद-व्याकरणादि शास्त्रों में निष्णात, व्याख्यान देने में दक्ष, अपनी बात को बिना विलम्ब के मधुर वाणी से प्रस्तुत करने में निपुण और शारीरिक दोषों से रहित होना चाहिये। वैक्लव्य अर्थात् कार्य की गुरूता को देखकर घबड़ा जाना और अपने को ही पण्डित मानना दूत के दो अवगुण माने गये हैं।[2] शास्त्रज्ञान ,वाक्यपटुता, मित्र के समान उपकारी, अन्तःकरण से पवित्र और श्रेष्ठकुल में जन्म-उसकी आवश्यक योग्यतायें थीं।[3]

महाभारत युद्ध के बाद से ही राजनीति का धर्म से विलगाव होने लगा था। फलतः राजनीति एक स्वतन्त्र विषय बन चुका था यद्यपि आगे चलकर स्मृतिकारों ने पुनः उसे धर्म से जोड़ने का प्रयास किया। किन्तु फिर भी राजनीति के व्यावहारिक और आदर्श दो पक्ष स्पष्ट रूप से उभर चुके थे। आदर्श यद्यपि सर्वस्वीकृत था तथापि व्यवहार में उसका अनेकत्र उल्लंघन होता था। इसलिये परराष्ट्र में गये हुये "दूत" के साथ अनेक बार दुर्व्यवहार की आशंका बनी रहती थी। अतः अपने चारों ओर की परिस्थितियों को तुरन्त भाँपने में दक्ष और शत्रु के मन की बात को ताड़ने की क्षमता-"दूत" की आवश्यक योग्यतायें मानी जाने लगीं।[4] मनु की दृष्टि से दूत को इंगितकारचेष्टज्ञ

---

1. *रामा0 4/3/27-36*
2. *रामा0 5/2/39-40*
3. *शास्त्राविदवाव कुशलः सुदृत्सप्रतिभाः शुविः।*
   कुले महति वोत्पन्नों दूत एबा सता मतः ।। रामा0 5/82/16
4. *प्रवीणः प्रेक्षणे दक्षः परचित्तोपलक्षणः।*
   स्फुटवाक्यस्तथा प्राज्ञ ऐष दूतो विधीयते।। वृद्धचाणक्य : 4/9
   मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः परचित्तोवलक्षवः।
   धीरों यथोक्तवादी च ऐष दूते विधयते।। चाणक्यनीति : 104

होना चाहिये।[1] बृहस्पति ने ''दूत'' के गुणों की उक्त तालिका में सन्धि, भेद और सन्धान के स्थान तथा नीति की गति का ज्ञान और जोड़ दिया है। [2] शुक्र भी दूत के लिये सन्धि, विग्रह, दान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय-इन छः गुणों का ज्ञान आवश्यक मानते हैं।[3] मत्स्यपुराण की दृष्टि से दूत को गन्तव्य देश की भाषा में प्रवीण, क्लेश सहन करने में समर्थ और देशाटन किये हुये होना चाहिये।[4] गरूड़ का मत है कि दूत स्वभाव से ''क्रूर '' होना चाहिये।[5] अग्निपुराण और कामन्दक के मत में दूत को शास्त्र के साथ-साथ ''शस्त्र'' में भी निपुण होना चाहिये।[6] सोमदेव ने दूतों के गुणों का परिगणन कराते हुये लिखा है कि स्वामिभक्ति, दुर्व्यसनों से अनासक्ति, दक्षता, अन्तःकरण की पवित्रता, पाण्डित्य, प्रगल्भता,प्रतिभाशालित्व, सहिष्णुता, शत्रु के मर्म का ज्ञान और उत्तम कुल में जन्म ये दूत के प्राथमिक गुण हैं।[7] युक्तिकल्पतरू में ''दूत'' के गुणों की एक लम्बी सूची दी गयी है जिसमें प्रत्युत्पन्नमतित्व और सभ्य अर्थात सभा में बैठने की योग्यता-ये दो गुण और जोड़ दिये गये हैं।[8] 1.

---

1. *दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।*
   इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचि दक्षं कुलोद्गतम्।। — *मनु0 7/63*
2. *सन्धिभेदसम्धोनस्थानज्ञा गुरयतः शुचिदक्षः स्मृतिमान देश कालनोदर्शनीर्य न नीतिगतिज्ञ प्राज्ञे*
   वाग्मी दूतः स्यात विश्वस्म द्वारा ।। — *वार्ह0 11/307*
3. *इंगिताकारचेटाज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित्।*
   षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्गमी वीतभीर्दूत इष्यते।। — *शुक्र0 2/87*
4. *यथोक्तबादी दूतः स्याददेशभाषा विशारदः।*
   शक्तः क्लेशसहो वाग्गनी देशकाल विभागवित्।
   पिज्ञातदेशालश्च दूतः स स्यान्महीक्षितः।
   वक्ता नयस्य यः काले स दूतो कनृपते वित्।। — *मत्स्य0 215/12-13*
5. *बुद्धिमान मतिमाकश्चैव परवित्तोपलक्षकः।*
   क्रूरों यथोक्तवादी च सष दूतों विधीयते। — *गरूड0 1/112/8*
6. *प्रगल्भः स्मृतिवान वाग्मी शस्त्रे शास्त्रे व निष्ठितः।*
   अभ्यस्त कर्ता नृपतेदूतों भक्तिुमर्हति। — *अग्नि0 241/7; काम0 सर्ग 13, श्लोक 2*
7. *नीतिवाक्या0 13/1-25*
8. *युक्तिकल्पतरू : 11/72-74*

इस प्रकार उच्चकुलोत्पन्न, शौचयुक्त, दक्ष, वाग्मी, प्रगल्भ, स्मृतिवान, देशकाल एवं इंगिताकार ज्ञाता, शस्त्र-शास्त्र विशारद, स्वरूपवान, निर्भय, अव्यसनी, अभ्यस्तकर्मा एवं स्वामिभक्त व्यक्ति को ही दूत पद पर नियुक्ति किया जाता था। यह भी सम्भव है कि मन्त्रियों की भाँति उपधा परीक्षा में सफल व्यक्ति ही इस पद पर नियुक्ति किये जाते हों। दूत इतना योग्य एवं गुणसम्पन्न हो कि वह देश-काल के अनुसार स्वामीहित हेतु शीघ्रतापूर्वक उचित निर्णय लेते हुये एवं मधुर वचनों द्वारा दूसरे राजा को प्रसन्न एवं सन्तुष्ट कर अपनी कार्य-सिद्धि में सफल हो जाये। वह विपक्ष की गुप्त बातों अथवा मनोभावों को भलीभाँति समझ सके और अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के द्वारा परराष्ट्र में अपने राज्य की प्रतिष्ठा को बनाये रखे। दूत का कुलीन होना इसलिये आवश्यक है कि कुलीन मनुष्य में शालीनता विद्यमान रहती है। उसे शीलसम्पन्न एवं सावधान रहना और अन्य दुर्गुणों से दूर रहना इसलिये आवश्यक है कि परराष्ट्र में बहुत अधिक सम्मान, मदिरा आदि द्वारा उसे भ्रष्ट किये जाने की सम्भावना रहती है। दूत को यथोक्तवादी होना परम आवश्यक है। दूत अपने राजा के अप्रिय एवं कटु सन्देश को कहने में किसी प्रकार का भय न करे। वह सदैव भयरहित हो यथार्थ बातें कहने में सक्षम हो।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दूत की आवश्यक योग्यताओं के निर्धारण में उत्तरोत्तर अत्यधिक सतर्कता अपनायी गई है और सम्पूर्ण विवरण का निष्कर्ष इस प्रकार है-

1. ''दूत'' की सबसे पहली योग्यता ''उसका उच्च वंश में जन्म'' होना था। प्रारम्भ में ब्रह्मबादी वृद्ध ब्राह्मण पुरोहित ही इस श्रेणी में मान्य थे। किन्तु आगे चलकर-धन, विद्या और सदाचार की उच्चता ही वंश की श्रेष्ठता समझी गई। धनी होने के कारण उसके लालच में फंसने की सम्भावना कम रहती थी। आगे चलकर ''उच्च वंश'' का तात्पर्य सम्भवत: सदाचारी वंश से ही रह गया प्रतीत होता है क्योंकि निर्लोभ और विद्वत्ता दूत के पृथक गुण माने गये हैं।

2. वह अपने ही राष्ट्र का नागरिक हो तो अच्छा है किन्तु यह उसकी आवश्यक योग्यता न थी। परन्तु उसे सदाचारी, पवित्र अन्त: करण वाला,स्वामिभक्त, दुर्व्यसनों से दूर, प्रतिभाशाली, विद्वान,गर्वरहित और विभिन्न कष्टों को सहन करने में सक्षम अवश्य होना चाहिये।

3. उसका व्यक्तित्व आकर्षक हो तथा वह पूर्णतया स्वस्थ एवं बलवान् हो।

4. उसकी स्मरणशक्ति तीव्र होनी चाहिये जिससे वह यथोक्त कथन कर सके अर्थात राजा की बात

ज्यों की ज्यों कह सके ।

5. उसका स्वभाव "उदार " हो किन्तु जो आवश्यकता पड़ने पर "क्रूर" भी बन सके। अत: उसे निडर स्वभाव का होना चाहिये।

6. इसके लिये उसे स्पष्ट स्वरवाला "वाक्पटु" होना चाहिये।

7. वह व्यावहारिक मनोविज्ञान का ज्ञाता हो जिससे वह शत्रु के संकेतो, उसकी चेष्टाओं और मुखकृतिदर्शनमात्र से ही उसके अन्त:स्थ भावों को जान सके।

8. जिस देश में उसे नियुक्त किया जा रहा है उस देश की भाषा में वह प्रवीण हो तथा उसने विभिन्न देशों में भ्रमण किया हो जिससे उसे विभिन्न देशों की रीति-रिवाजों का व्यावहारिक ज्ञान हो।

9. दूत पद के लिये स्त्री और पुरूष-दोनों ही उपयुक्त समझे जाते थे।

10. उसे कूटनीति के षाड्गुण्य सिद्धान्त का पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिये।

11. उसे सभा में बैठने की योग्यता से सम्पन्न तथा प्रत्युत्पन्नमति वाला होना चाहिये जिससे वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में तुरन्त निर्णय ले सके।

12. विभिन्न शास्त्रों के साथ-साथ शस्त्रसंचालन में भी वह निपुण हो।

13. दूत के "शुचित्य" पर बहुत बल दिया गया है। टीकाकारों के अनुसार "शुचि" का तात्पर्य स्त्री एवं धन सम्बन्धी पवित्रता भी है। अत: स्पष्ट है कि समृद्ध गृहस्थ ही "दूत" पद के उपयुक्त पात्र समझे जाते थे। ऐसे व्यक्ति स्त्री और धन से लुभाये नहीं जा सकते थे।

वर्तमान राष्ट्रीय नियमों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में दूत की आवश्यक योग्यताओं का कोई विवरण नहीं मिलता । राष्ट्र स्वेच्छानुसार जिस व्यक्ति को राष्ट्रहित-सम्पादन में कुशल तथा समर्थ समझता है उसे परराष्ट्र में दूत बनाकर भेज देता है।[1] अत: इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों में अलग-अलग प्रकार के नियम प्रचलित हैं। परन्तु सभी राष्ट्र यह बात भली-भाँति समझते हैं कि दौत्यकर्म बहुत ही दुरूह एवं जटिल कार्य है। एतएव समस्त राष्ट्र कार्यकुशलता तथा क्षमता को दूत की आवश्यक योग्यता समझते हैं।

स्वतंत्र भारत में विदेश सेवा विभाग की प्रतियोगिता परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले तथा शासन

---

1. डॉ0 हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ0 235

का पर्याप्त अनुभव रखने वाले, सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों को राजदूत बनाया जाता है। स्व. श्री जवाहर लाल नेहरू का विश्वास था कि सुन्दर एवं गुणवती पत्नी राजदूत को परदेश में नये सामाजिक सम्बन्ध बनाने और उसके कार्य में अत्याधिक सहायक होती है। अत: यह कहा जाता है कि भारत में राजदूतों की नियुक्ति करते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है।

प्राचीन आचार्यो ने राजदूत के लिये जिन गुणों को आवश्यक बताया है उनका निष्पक्ष अवलोकन इस तथ्य को स्थिर करता है कि इन गुणों से युक्त राजदूत राष्ट्रहित साधक के रूप में कार्य करेगा जिससे राष्ट्रीय हितों का संरक्षण एवं सम्बर्द्धन समुचित प्रकार से होगा। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में दूतपद हेतु चारित्रिक उत्कृष्टता तथा उसके सर्वगुण सम्पन्न होने पर बहुत अधिक बल दिया जाता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दूतों की नियुक्ति में प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ आज के राजनीतिज्ञों की अपेक्षा कहीं अधिक सतर्क थे।

दूत के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व—

यद्यपि दूत संस्था का आर्विभाव अत्यन्त प्राचीन काल में ही हो चुका था और वैदिक साहित्य में उसकी उपयोगिता आदि के सम्बन्ध में अनेकश: उल्लेख भी मिलते हैं, तथापि ऐसे स्थल विरल ही है जिनसे दूत के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर सम्यक् प्रकाश पड़ सके। ऋग्वेद के कुछ स्थलों के अनुशीलन से वेदकालीन दूत के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व इस प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं—

1. अपने कार्यो से अग्नि के समान गृहपतियों एवं राष्ट्रवासियों को आनन्द प्रदान करना।[1]
2. अपने स्वामी के कार्य को बिना किसी प्रलोभन में फंसे हुये निष्ठापूर्वक सम्पादित करना।[2]
3. यथोक्त कथन, सन्देशवहन और उसकी प्रस्तुति में विलम्ब न करना।[3]
4. दौत्यकर्म के साथ-साथ अपने राष्ट्र के हित के लिये परराष्ट्र में गुप्तचरी करना।[4]

---

1. ऋ0 7/10-15

2. ऋ0 10/108/5,6,10

3. ऋ0 1/36/4

4. ऋ0 1/165/1-5, 10/108

5. परराष्ट्र में अपने स्वामी के वर्चस्व की यथासम्भव स्थापना करना जिससे शत्रु भयभीत हो उठे।[1]

महाकाव्य युग में भी दूत के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को इसी रूप में देखा गया।[2] यद्यपि इस युग में उसके कर्तव्यों में एक विशेष बात यह और जोड़ दी गई कि अपने स्वामी का कार्य सम्पादित किये बिना उसे परराष्ट्र में दिये गये भोजन व सत्कार आदि को भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।[3] यह उसका मात्र नैतिक कर्त्तव्य ही नहीं था, अपितु ऐसा करने में स्वयं दूत की भी सुरक्षा निहित थी, क्योंकि एक ओर तो राजा आये हुये दूत को विशिष्ट भोजन-सत्कार आदि के द्वारा प्रलोभित कर अपनी ओर मिलाने की चेष्टा करते, दूसरी ओर भोजनादि के साथ विष देकर उसे मारने अथवा कैद कर लेने का भी प्रयास अवश्य करते होंगे। कौटिल्य ने दूत को इन सभी चीजों से सावधान रहने का जो उपदेश दिया है वह एक आकस्मिक घटना नहीं हो सकती। निश्चत् ही इसके पीछे से इस प्रकार की परम्परा रही होगी।

मनु ने दूत के दो प्रधान कार्यो का निर्देश किया है–सन्धि और विपर्यय[4] अर्थात् परराष्ट्र के साथ सन्धि और युद्व। उनके अनुसार दूत ही दो शत्रु राष्ट्रों को अपने वाक्चातुर्य से परस्पर मित्र बना देता है और अपनी कार्यकुशलता से शत्रु मित्र राष्ट्रों में फूट डाल देता है।[5] अपने इस कठिन कार्य के सम्पादन में उसे सतत् जागरूक रहने की आवश्यकता होती है, अन्यथा अपने ही अनिष्ट का भय बना रहता है। इसलिये उसके कर्त्तव्यों का परिगणन कराते हुये मनु पुनः लिखते हैं कि दूत को चाहिये कि वह प्रतिपक्षी राजा के निगूढ़ (अनुचर) पुरूषों के हाव-भाव तथा व्यवहार से तथा

---

1. *ऋ0 10/108/4,8*
2. *रामा0 4/3/36, 5/56/127 ; म0 भा0 5/70/7, 12/86/26*
3. *न शयमकृतार्थेन दूतेन हरिपुगंव।*
   प्रतिगृहीतुं शुक्यं वे भौक्त संवेष्टमेवच।
   सदा कृता थी दूतः स्याद भतुस्थ विनिश्चयै।
   प्रतिग्राह्यस्सदा, तेन सत्कारश्च ।।   *रामा0 4/27/6-4*
   कृतार्था भंजते द्रूताक पूर्जा ग्रहणन्ति वैव हि ।   *म0 भा0 5/89/18*
4. *दूते सन्धिविपयेयों ।*   *मनु0 अ0 7, श्लोक 65*
5. *मनु0 अ0 7, श्लोक 66*

स्वयं राजा की विभिन्न चेष्टाओं एवं परिजनों के प्रति किये गये इंगिताकारों से उसके मनोगत भावों को जानने का प्रयास करे और वह क्या करना चाहता है इस बात को भली-भाँति जानकर ऐसा प्रयत्न करे जिससे स्वयं को तथा अपने राष्ट्र को क्षति न पहुँचे।[1]

कौटिल्य ने दूत के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का परिगणन इस प्रकार कराया गया है-[2]

1. प्रेषणम—

अपने स्वामी का सन्देश देने परराष्ट्र में जाना। टी0 गणपति शास्त्री ''प्रेषणम्'' का अभिप्राय ''शत्रुदेशगतागतम्''[3] अर्थात् "अपने स्वामी का सन्देश देने परराष्ट्र में जाना और अपने द्वारा जाने गये शत्रुदेश के वृत्तान्त को अपने स्वामी से निवेदन करना" समझते हैं। वस्तुत: प्राचीन भारतीय दूतव्यवस्था का अन्तर्निहित उद्देश्य ही परराष्ट्र में गुप्तचरी करना है। उसका प्रत्येक कार्य गुप्तचरी से भरा होता था। इसलिये तो स्वयं कौटिल्य ने दूतकर्मो के परिगणन के बाद राजा को सतर्क किया है-''पर दूताश्वं रक्षयेत्''।

2. सन्धिपालत्वम्—

अर्थात् ''परराष्ट्र के साथ की गई सन्धि का परिपालन" इससे स्पष्ट है कि आज की ही भाँति प्राचीन भारत में भी दूत का ही यह कर्तव्य था कि वह यह देखे कि कृतसन्धि का पालन दोनों ओर हो रहा है अथवा नहीं। यदि नहीं, तो यह उसी का कर्तव्य था कि वह परराष्ट्र से उसका पालन

1. *स विवादस्य कृत्येष, निगूढ़ेगितचेष्टितै:।*
   आकारमिगिंत चेष्टा भृत्येषु च विकीर्षितम ।।
   बद्ध्वा च सर्व तत्वेन पराविकार्षितम।
   तथा प्रयत्नमातिष्ठेद् यथा त्मांन न पीडयेत् ।। *मनु0 अ0 7, श्लोक 67-68*
2. *प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रह: ।*
   उपजाप: सुहद्भेदो दण्डगूढ़ा तिसारणम् ।।
   समाधिभोक्षो दूतस्य कर्मयोगस्य वाश्रय:।
   बन्धुरत्नापाहरणं चारज्ञानं पराक्रम:।
   स्वदूतै: कारयेदेतत् परदूताश्वि रक्षयते ।। *अर्थ0 अधि0 1, प्रकरण 11,अ015, श्लोक 1-3*
3. *अर्थ0 अधि0 1, प्रकरण 11,अध्याय 15, श्लोक 1-3 पर मूला टीका ।*

कराने का प्रयास करे।

3. प्रताप—

अर्थात् अपने स्वामी की शक्ति का परराष्ट्र में प्रदर्शन करना जिससे शत्रु मित्रता बनाये रखने के लिये बाध्य होता रहे। ऋग्वेद में इन्द्र की दूती सरमा पणिराज के समक्ष इन्द्र के प्रताप का वर्णन कर उसे डराती है। रामायण में राम के दूत हनुमान और अंगद रावण के दरबार में अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। पाण्डवों के दूत कृष्ण ने भी कौरवों की सभा में पाण्डवों की शक्ति का वर्णन किया था। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज के राजदूत भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यही कार्य करते हैं।

4. मित्रसंग्रह—

अर्थात् अधिक से अधिक मित्र बनाना। कौटिल्य का मित्रसंग्रह से तात्पर्य शत्रुराष्ट्र के प्रमुख अधिकारियों के साथ मित्रता स्थापित करने से है—''अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्येश्व प्रतिसंसर्ग यच्छेत्''। आज के राजदूत भी विभिन्न समारोहों में उपस्थित अधिकारियों के साथ अपना परिचय देकर मेलजोल बढ़ा लेते हैं।

5. उपजाप—

परराष्ट्र के कृत्यपक्ष का भेद अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को अपनी ओर फोड़ लेना जो लोभ, भय, अपमान आदि किसी कारण राजा से क्रुद्ध हो गये हों।

6. सुहुद्भद—

अर्थात् परराष्ट्र के मित्रों में भेद डालना। यहां मित्र से अभिप्राय शत्रु के मित्रराष्ट्र और उसके स्वयं के मित्रों और अधिकारियों से समझना चाहिये।

7. दण्डगूढ़ा तिसारणम् —

अर्थात् सेना के रहस्यों का भेद जानना। स्व0 टी0 गणपतिशास्त्री ने इसका अर्थ सेना के तीक्ष्ण, रसद आदि विशेष गुप्त अधिकारियों को मार देना (दण्डस्य सेनाया: गूढ़ानां तीक्ष्णरसदादीनां वा क्रमणम्—श्रीमूला) किया है। डा0 श्याम लाल पाण्डेय इसका अभिप्राय ''चुपचाप दण्ड की व्यवस्था करवाना''[1] समझते हैं जो उचित नहीं है। डा0 हीरा लाल चटर्जी अतिसारण का अर्थ

---

1. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : कौटिल्य की राज्यव्यवस्था, पृ0 49*

"निष्कासन" करते है।[1]

8. बन्धुरत्नापहरणम्—

अर्थात् शत्रु के मित्रों और बहुमूल्य रत्नों का गुप्तरीति से अपहरण करा लेना, अथवा शत्रु के रत्नतुल्य अमूल्य मित्रों को उड़ाकर अपनी ओर मिला लेना यह अर्थ भी संभव हैं। डा0 शामशास्त्री प्रथम अर्थ को स्वीकार करते हैं [2] जबकि डा0 श्याम लाल पाण्डेय दूसरे अर्थ से सहमत हैं। [3]

9. वारज्ञानम्—

अर्थात् गुप्तचरों का ज्ञान। यहाँ गुप्तचरों से तात्पर्य अपने द्वारा नियुक्त गुप्तचरों तथा शत्रु द्वारा नियुक्त किये गये गुप्तचरों दोनों ही से प्रतीत होता है क्योंकि एक ओर जहाँ अपने गुप्तचरों के कार्यकलापों पर दृष्टि रखना आवश्यक होता है, वहाँ दूसरी ओर शत्रु के गुप्तचरों से सावधान रहने की भी नितान्त आवश्यकता रहती है।

10. पराक्रम—

उचित अवसर पर पराक्रम प्रदर्शन। यह पूर्व उल्लिखित "पराक्रमप्रदर्शन" से भिन्न है। यहाँ दूत के व्यक्तिगत पराक्रम से अभिप्राय है जो अवसर पड़ने पर अपने बल प्रयोग द्वारा स्वाभीष्ट की सिद्धि करता है।

11. समाधिमोक्ष—

अर्थात् सन्धि, विश्वास आदि के रूप में नियुक्त किये गये राजपुत्र आदि को मुक्त कराना। सम्भवत: सशर्त सन्धियों में राजपुत्र आदि को जमानत के रूप में रखने की प्रथा रही होगी अथवा कभी-कभी केवल विश्वास जमाने के लिये भी ऐसा किया जाता होगा जिसे उचित अवसर मिलने पर दूत के माध्यम से मुक्त करा लिया जाता था। प्राचीन भारत में यह प्रथा कूटनीति का ही एक आवश्यक अंग प्रतीत होती है।

---

1. *डॉ0 हीरा लाल चटर्जी : इण्टरनेशनल लॉ एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्स्येन्ट इण्डिया, पृ0 53*
2. *डॉ0 आर0 शामशास्त्री : अर्थशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद), पृ0 31*
3. *डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : कौटिल्य की राज्य व्यवस्था, पृ0 49*

12. योगाश्रय–

अर्थात् अपने का कार्य की सिद्धि के लिये आवश्यकता पड़ने पर औपनिषदोवतमारण आदि के नुस्खों का सहारा लेना। अर्थशास्त्र के चौदहवें अधिकरण में ऐसे नुस्खों का सविस्तार वर्णन हैं।

इसके अतिरिक्त कौटेल्य ने दूत के कुछ कर्तव्यों का उल्लेख किया है जो उसके आचरण और व्यवहार से सम्बन्धित हैं जैसे–

1. उसे सुसज्जित यान, वाहन, सेवक तथा अन्य सुख–सुविधा की सामग्री लेकर परराष्ट्र में जाना चाहिये।[1] उससे न केवल उसके राष्ट्र का गौरव परिलक्षित होगा अपितु उसे अपनी कार्यसिद्धि के लिये भी आवश्यक सामग्री जुटाने की चिन्ता नहीं रहेगी।

2. परराष्ट्र में रहते हुये वहां के वनाधिकारी, सीमाप्रान्त के गर्वनर, पुर एवं राष्ट्र के प्रधान अधिकारियों से मित्रता गांठ लेनी चाहिये।[2] यहाँ स्व0टी0 गणपतिशास्त्री एक दूसरा अर्थ भी सुझाते हैं-''दूत्यायऽऽमप्रयाणं तेभ्यों निवघवा गण्छेत्" अर्थात वन, सीमा, पुर, राष्ट्र के प्रधान अधिकारियों को अपने आने की सूचना देकर ही दौत्यकर्म के लिये जाना चाहिये।

3. दूत को चाहिये कि वह परराष्ट्र में वहाँ के राजा की बिना आज्ञा प्रवेश न करे।[3]

4. जब तक शत्रु राजा उसे अपने राष्ट्र से जाने की अनुमति न दे दे तब तक वहाँ रहे।[4] यदि वह यह समझे कि कार्य सम्पन्न होने पर भी यह मुझे जाने नहीं दे रहा अथवा यह कार्यसिद्धि में अवरोध डालकर मुझे यहाँ रोके रखना चाहता है तो उसके उद्देश्य को भलीभाँति परखकर या तो वहाँ रूका रहे अथवा भाग जाये अथवा इष्टप्रयोजन की सिद्धि के लिये रूका ही रहे। लेकिन कटु सन्देश देने के बाद दूत को वहाँ से पलायन कर जाना चाहिये अन्यथा उसके कैद होने या मारे जाने का भय रहता है।[5] इसका सुन्दरतम् उदाहरण रामायण में मिलता है। कटुसन्देश सुनने के बाद जब रावण अंगद को

---

1. *सप्रतिविहितयानवाह-पुरूषपरिवाय: प्रतिष्ठेत । अर्थ0 1/16*
2. *अटव्यन्तपाल पुरराष्ट्रमुचयैश्य प्रतिसंसर्ग गच्छेत् । अर्थ0 1/16*
3. *पराधिष्ठानमानुज्ञात: प्रविशेत् । अर्थ0 1/16*
4. *असेदविसृष्ट: । अर्थ0 1/16*
5. *कार्यस्य सिद्धावुपरूध्यमा नर्स्कयेत्- .... भास्वा वसेदपसरेद् वा। शासनमनिष्ट उक्त्वा वन्धम वधभ वादिवसृष्टो प्यपगच्छेन्दन्यथा नियम्येत् । अर्थ0 1/16*

कैद करने की आज्ञा अपने मन्त्रियों को देता है तो अंगद वहां से अपना बल प्रदर्शित करता हुआ भाग आता है।[1]

5. परराष्ट्र में प्राप्त सम्मान से प्रफुल्लित नहीं होना चाहिये।[2]

6. शत्रुओं के बीच में अपने को बलवान प्रदर्शित न करे।[3]

7. शत्रु के अनिष्ट वाक्यों को भी सह ले।[4]

8. परस्त्रीगमन और मद्यपान से दूर रहे। उसे सोना भी अकेला ही चाहिये क्योंकि नशे में अथवा निद्रा में कभी-कभी भेद खुल जाने का डर रहता है।[5]

उनके अतिरिक्त कौटल्य ने दूत के कुछ ऐसे कार्यो का भी उल्लेख किया है जिन्हें हम उसके नैतिक कर्तव्य (धर्म) कह सकते हैं और जो वस्तुत: दूत के महान् उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जैसे—

1. दूत को पहले से ही या मार्ग मे ही भलीभाँति सोचकर यह निश्चय कर लेना चाहिये कि उसे सन्देश किस प्रकार प्रस्तुत करना है और सन्देश सुनने के बाद शत्रु के संभावित उत्तर का भी प्रत्युत्तर क्या देना हैं।[6]

2. उसे अपने राजा का सन्देश ज्यों -की-त्यों कहना चाहिये। यहाँ तक कि प्राणों का संकट उपस्थित हो जाने पर भी यथोक्त कथन ही कहे।[7]

3. यह दूत का ही उत्तरदायित्व है कि वह अपनी तथा शत्रु की सेना के ठहरने योग्य स्थानों, युद्धानुकूल क्षेत्रों और अवसर पड़ने पर भागने योग्य मार्गो का भलीभाँति अवलोकन कर ले।[8]

---

1. *रामा0 युद्धकाण्ड : 41/83-91*
2. *पूज्या नौत्सिक्ति: । अर्थ0 1/16*
3. *परेष बलित्वं न मन्येत । अर्थ0 1/16*
4. *वाक्यमनिष्ट सहेस । अर्थ0 1/16*
5. *स्त्रिय: पानं च वर्जयेत् एक: राथोता सुप्तमत्तयोहि भावज्ञानं दृष्ट मालनेव। अर्थ0 1/16*
6. *शासनमेव वाव्य: पर:, स वक्ष्पत्येवम्, तस्येदं प्रतिवावयम्, एवंम तिसंधातव्य मित्यधीयानौ गच्छैत्। अर्थ0 1/16*
7. *शासनं व यथोवतं ब्रूयात्। प्राणाबाधे पिदृष्टे। अर्थ0 1/16*
8. *अनीकस्थानयुज्ज प्रतिग्राहारभमिरात्मन: परस्य वावेदोत। अर्थ0 1/16/9; काम0 13/7,23; नीतिवाक्या0 13/8*

4. शत्रु के दुर्ग,राष्ट्र, धन, जीविका,रक्षा के साधन और उसकी कमजोरियों का पता लगाने का भी उत्तरदायित्व दूत पर ही था।[1]

5. अमात्यादि प्रकृतियों का शत्रुराजा के प्रति राग, द्वेष, और उनकी कमजोरियों का पता तापस, व वैदेहक संस्थाओं के माध्यम से लगाना भी उसी का उत्तरदायित्व था। तपस्वियों और वैदेहकों के शिष्यों, वेद्यों, पाखण्डियों और दोनों पक्षों से वेतन पाने वाले गुप्तचरों से, यदि उनसे बातें न हो सके तो भिक्षुओं, नशों में चूर लोगों, पागलों, सुप्तों के प्रलापों से, तीर्थो और मन्दिरों में संकेतों या उनकी दीवारों पर विशिष्ट चित्र-संकेतात्मक लिपियों से उक्त तथ्यों की न केवल जानकारी प्राप्त करने की अपितु उनका उपजाप करने की भी जिम्मेदारी उसी की थी।[2]

6. यदि शत्रुराजा दूत से उसके राजा अथवा उसकी प्रवृत्तियों के विषय में कुछ भेद लेने का किसी प्रकार प्रयास करे तो उसे भेद नहीं देना चाहिये।"श्रीमान् जी सब कुछ जानते ही हैं", कह कर टाल दे या फिर ऐसी बात कहे जो अपने प्रयोजन के अनुकूल हो।[3]

अग्निपुराणकार के अनुसार दूत का प्रथम शिष्टाचार है कि वह परराष्ट्र में वहाँ के राजा की बिना अनुमति के प्रवेश न करे और परराष्ट्र में पहुँच कर भी राजसभा में बिना पूर्वानुमति के प्रवेश न करे। इसके लिये भले ही उसे कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़े।[4] शत्रुराष्ट्र में रहते हुये उसे शत्रु के सभी छिद्रों, उसके कोश, मित्र, सेना तथा राजा की दृष्टि और शारीरिक चेष्टाओं से अपने प्रति रागापराग की जानकारी कर लेनी चाहिये। उसे शत्रुराजा के समक्ष दोनों ही पक्षों की कुल, नाम, धन और कर्म विषयक चतुर्विध प्रशंसा करनी चाहिये। परराष्ट्र में उसे तपस्वियों जैसा आचरण करने

---

1. *दुर्गराष्ट्रप्रमाणं सारवृत्तिगुप्तिविच्छद्राणि वोपलभेता।* *अर्थ0 1/16*

2. *कृत्यपक्षोपजा परकृतयपक्षे गूढप्रणिधानं रागापरागौ भर्तरि रन्ध्रं व प्रकृतीनां ता पसवैदेहक व्यंजनाभ्याभ, पलभेतातयोरन्तेवा सिभिश्विवित्सकपाषण्ड व्यंजनोभ यवेतनैर्वा तेषामसैभाषा या वकमत्तोन्मत्तसुप्तप्रलापैः पुण्यस्थन देवगृववि प्रलेखयसंगा भिर्वा बारमुपलगेला उपलब्धभो जासुभुमेदात।* *अर्थ0 1/16*

3. *परेण वोक्त्लः स्वासां प्रकृतीनां परिमाण नाऽक्षीति। सर्वं वेद भवतीति ब्रूयात्. कार्यसिद्धिकरे वा।* *अर्थ0 1/16*

4. *नाविज्ञातं परं शत्रौः प्रविशेच्व न संसदम्।*
कालमीक्षेत कार्यार्थनुतातश्च निष्यतेत्।। *अग्नि0 241/9*

वाले गुप्तचरों के साथ रहना चाहिये।[1]

कामन्दक ने दूत के कर्तव्यों के सन्दर्भ में प्रायः कौटल्य का ही अनुसरण किया है।[2] सोमदेव ने कृत्यपक्ष का विनाश, आकृत्यपक्ष का उत्थापन, राजकुमारों तथा अन्य दामाद बन्धुओं एवं बन्दिजनों को फोड़ना, अपने राष्ट्र में प्रविष्ट गूढ़चरों का ज्ञान, सीमाप्राप्त के रक्षकों, बनरक्षकों, देश, नीति, मित्र आदि की जानकारी, कन्या, रत्न, वाहन आदि का अपहरण और अपने अभीष्ट पुरूषों के प्रयोग से प्रकृति में राजा के प्रति क्षोभ उत्पन्न करना दूत के कर्म बताये हैं।[3] इसके साथ ही मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि के विश्वस्त परिजनों को विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों से अपनी ओर मिला कर यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि राजा का मन्तव्य क्या है? उसकी सेना और कोष कितना है? आदि। यदि शत्रु के अनिष्टकारी वचनों का उत्तर देने में स्वयं असमर्थ ही तो दूत को ऐसे कटुवाक्य सहन कर लेने चाहिये किन्तु गुरू अथवा स्वामी के प्रति कहे गये निन्दा वाक्यों को कदापि सहन न करे, भले ही उसे मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े।[4]

दूत के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के संदर्भ में विभिन्न भारतीय राजशास्त्रियों के विचारों के परिशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्राचीन भारत में दूत के दो प्रकार के कर्तव्य थे- 1-प्रकट कर्तव्य और 2-प्रच्छन्न कर्तव्य। राजा के सन्देश का यथोक्तकथन, सन्धिपालन, स्वराष्ट्र की शक्ति और वैभव का प्रदर्शन,शत्रुदेश के विभिन्न अधिकारियों से परिचय जैसे कर्म उसके "प्रकट कर्तव्य" कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों के पालन में परराष्ट्र की ओर से कोई व्यवधान उपस्थित नहीं किया जाता। किन्तु कृत्यपक्ष का भेद, प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करना, सेना-कोष आदि के

---

1. *छिद्रं व शात्रौर्जानीयात् कोषमित्रबला नि व।*
   रागापरागौ जानीया द दृष्टिगा त्रूविवेष्टितैः।।
   कर्याच्वतुविधुं स्तौत्रै पैक्षेसभ्ययोरपि।
   तपस्व्यिंजनो पेतैः सुचारैः सह संवसत्।।   अग्नि0 अ0 241, श्लोक 10-11
2. *काम0 सर्ग0 13, श्लोक 4-25*
3. *नीतिवाक्यामृतम : समुद्देश 13, श्लोक 5-8*
4. *नीतिवाक्यामृतम : समुद्देश 13, श्लोक 9-11*

सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आदि ऐसे कर्म है जिन्हें दूत "प्रच्छन्न रीति" से ही सम्पादित कर सकता है। यद्यपि दूत के इन गुप्तकर्मो को शिष्टानुमोदित नहीं कहा जा सकता और परदूत की ऐसी राज्यविरोधी गतिविधियों को उचित नहीं ठहराया जा सकता है किन्तु फिर भी प्राचीन भारतीय कूटनीति में इसे राजनीतिज्ञों का समर्थन प्राप्त था। अत: उन दिनों प्रत्येक राष्ट्र यह भलीभाँति समझता था कि उसके राष्ट्र में कोई आया हुआ परदूत अपने दूत्यकर्म के साथ-साथ अपने राष्ट्र के लिए उसी प्रकार गुप्तचरी अवश्य करेगा जिस प्रकार के उसके स्वयं के दूत पर राष्ट्र में कर रहे हैं। अत: यह राजा का अपना ही उत्तरदायित्व था कि वह परराष्ट्र में अपने दूतों के माध्यम से ऐसे गुप्तकार्यो को कराने के साथ-साथ अपने राष्ट्र में आये हुये परदूतों की गतिविधियों से सावधान रहे।[1] इसलिये राजा को सलाह दी गयी है कि उसे विभिन्न प्रकार की नीतियों,वैश्याओं, उभयवेतनधारी गुप्तचरों, दूत के गुण, आचारशील, व्यवहार को जानने वाले व्यक्तियों आदि के माध्यम से परदूत के रहस्य को जानने का प्रयास करना चाहिये।[2] इतना ही नहीं, कभी-कभी परदूतों की गतिविधियाँ इतनी भयंकर होती थी कि राजा को अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ जाता था। इस सम्बन्ध में सोमदेव ने राजा को सतर्क करते हुये लिखा है कि ''राजा को चाहिये कि वह वीर पुरूषों से घिरकर ही परराष्ट्र के आगन्तुक दूतों से साक्षात्कार कर" क्योंकि सुना जाता है कि प्राचीनकाल में चाणक्य ने तीक्ष्ण विषदूत के प्रयोग से नन्द को मार दिया था। इसी प्रकार शत्रु द्वारा प्रेषित शासनलेख और भेंट को भी अपने विश्वस्त पुरूषों से परीक्षित कराये बिना स्वयं स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि सुना जाता है कि स्पर्शविष से युक्त वस्त्रदान के द्वारा कराहटपति कैटभ ने नाम के राजा को और

---

1. *स्वदूतेः कारयैदैतत्परदूताश्च रक्षयेत्।*
   प्रतिदूता पसर्पाभ्यां दृश्यादृश्यैश्च रक्षिभिः।।   *अर्थ0 1/15/4-5*
   दूतेनैव नरेन्द्रस्तु कुर्यादरिविमर्रानम्।
   स्वपक्षे च विजानीयात् परदूतवियेष्टितम्।।   *काम0 13/25*
2. *स्वैय रहस्यपरिज्ञा नार्थ परदूतो नयाद्यैः स्त्रीीीरूभ यवेतनेस्तद्गुणा वारशीला नुवृत्तिभिर्वा प्रणि धातव्यंः।*   *नीतिवाक्या0 13/24*
   दूतस्य यद् रहस्यै व तद्वेश्यौभयवेतनैः।
   लच्छीलैर्वा परिज्ञेयं येन शत्रु प्रध्यिति।।   *शुक्रनीतिसार।*

आशीविष वाले सांप से युक्त पिटारी भेंट में भेजकर करपाल ने कराल नाम के राजा को मार दिया था।[1]

प्रसंगवश यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि आधुनिक युग में भी राजदूत प्राय: उन सभी कार्यों को करते हैं जिन्हें प्राचीन भारत के दूत किया करते थे। आज के विद्वानों ने भी उन्हें, "झूठ बोलने के लिये परराष्ट्र में भेजा गया ईमानदार व्यक्ति[2]" और "सम्माननीय गुप्तचर"[3] कहा है।

ओपेनहाइम ने दूतों के तीन मुख्य कार्यों का निर्देश किया है—[4]

1. सन्धि वार्ता (Negotiation)—अर्थात् अपने राज्य के लिये दूसरे राज्य के साथ विभिन्न विषयों पर बात-चीत करना। इस सन्दर्भ में मनु का वाक्य "दूते सन्धि विषर्थयों " उल्लेखनीय है।

2. निरीक्षण (Observation)—अर्थात् दूसरे देश की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण और उसकी पूरी रिपोर्ट अपनी सरकार को देना। यद्यपि निरीक्षण का तात्पर्य गुप्तचरी से नहीं है और आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी दूत को परराष्ट्र में गुप्तचरी करने का खुला अधिकार नहीं देता किन्तु व्यवहार में वह गुप्तचरी करता ही है। निरीक्षण शब्द "गुप्तचरी" का ही स्थानापन्न परिमार्जित शब्द है।

3. संरक्षण (Protection)—अर्थात् परराष्ट्र में अपने देशवासियों की सुरक्षा करना। प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों ने दूत का यह कार्य तो नहीं बताया किन्तु "समाधिमोक्ष" का अवश्य उल्लेख किया है।

---

1. *यावत्परीक्षितं न स्वैलिखितं प्राभृतं तथा।*
   शत्रौरभ्यागतं राज्ञा तावद् ग्राहयं न तद्भवेत।। *शुक्रनीतिसार।*
   नीतिवाक्या0 13/13-17

   परदूतान् नृप: पश्येद वीरेर्बहुभिरावृत।
   शरैरन्तर्गतस्तैषां चिरं जी वितुमिच्छया।। *नारदस्मृति*

2. *लॉरेन्स : प्रिंन्सीपल्स ऑफ इन्टरनेशनल लॉ, पृ0 272 पर उद्दृत सर हेनरी वॉटन का मत।*

3. *इन्साक्लोपीडिया ब्रिटेनिका*

4. *ओपेनहाइम: इन्टरनेशनल लॉ, भाग-1, पृ0 785।*

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में दूतों का कार्य आज के दूतों के कार्यो की अपेक्षा अधिक विषम और जोखिम भरा था। प्राचीन भारतीय दूत-संस्था पर यह आक्षेप लगाना उचित नहीं होगा कि उसका उद्देश्य परराष्ट्र में मात्र गुप्तचरी करना था। यह तो एक आनुषंगिक किन्तु अनिवार्य उद्देश्य था जो आज भी है किन्तु सभ्यता के आडम्बर में वह छिपा हुआ है।

कार्यपद्धति—

प्राचीन ग्रन्थों में दूत की कार्य पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। कौटिल्य और कामन्दक का मत है कि मंत्रियों के साथ भलीभाँति मंत्रणा करके और उनकी सम्मति से ही राजा को परराष्ट्र में अपना दूत भेजना चाहिये।[1] आधुनिक समय में भी यही प्रथा प्रचलित है।परराष्ट्र में वहाँ के शासक की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् ही दूत की नियुक्त की जाती है। वहाँ पहुँचकर वह अपने स्वामी का संदेश कहता था। इससे स्पष्ट होता है कि परराष्ट्र में जाकर दूत सर्वप्रथम वहाँ के शासक को अपना परिचय-पत्र प्रस्तुत करता था। यह प्रथा आज भी विद्यमान है। कौटिल्य तथा कामन्दक का मत है कि दूत को गूढ़पुरूषों की भाँति गुप्त रूप से नहीं वरन् वहाँ के शासक की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् ही परराष्ट्र में प्रवेश करना चाहिये।[2] सोमदेव सूरि के अनुसार भी दूत को परराष्ट्र के शासक की आज्ञा के बिना न वहाँ जाना चाहिये और न वहाँ से वापस आना चाहिये।[3] दूत को आदेश था कि वह दूसरे राज्यों के महत्वपूर्ण स्थानों में वहाँ के शासक की आज्ञा लेने के पश्चात् ही प्रवेश करे। राजसभा, राजभवन अथवा अन्य महत्वपूर्ण स्थानों में प्रवेश करने पूर्व द्वारपाल द्वारा अपने आगमन की सूचना राजा को दी जाती थी और राजा द्वारा बुलाये जाने पर ही दूत उसके समक्ष प्रस्तुत होता था।[4] दूत अपने राज्य का प्रतिनिधि होता है, अतः परराष्ट्र में भेजते समय उसकी मान मर्यादा पर यथेष्ठ ध्यान दिया जाता था।[5]

---

1. *अर्थ0 1/16/1, काम0 सर्ग 13, श्लोक 1*
2. *पराधिष्ठानमनुज्ञातः प्रविशेत् । अर्थ0 1/1610 ; काम0 13/6*
3. *अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेभिगंच्छेद्वा । नीतिवाक्या0 13/5*
4. *म0 भा0 वनपर्व : 284 /7-8*
5. *सुप्रतिविहितयानवाहनपुरूषपरिवापः प्रतिष्ठेत । अर्थ0 1/16/5*

शत्रु राजा के सम्मुख उपस्थित होकर दूत उसके अन्तर्भाव को समझने की चेष्टा करता था। दृष्टि और चेष्टा देखकर ही उसकी प्रसन्नता व अप्रसन्नता का आभास मिल जाता है। कौटिल्य ने इन चेष्टाओं का सविस्तार विवरण दिया है।[1] दूत से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह शत्रु राजा की अप्रसन्नता की ओर ध्यान न देकर अपने स्वामी के सन्देश को यथावत सुनाये, लेशमात्र भी उसमें परिवर्तन न करे। कौटिल्य का तो कथन है कि प्राणों का भय उपस्थित होने पर, अथवा उसके वध के लिये शस्त्र उठाने पर भी, उसे अपना सन्देश यथोक्त ही कहना चाहिये।[2] रामायण से ज्ञात होता है कि अंगद ने निर्भीकतापूर्वक राम का सम्पूर्ण सन्देश ज्यों का त्यों रावण को सुना दिया था।[3] महाभारत में कौरवों के दूत उलूक ने उनका यथोक्त सन्देश पाण्डवों को और पाण्डवों का कटु प्रत्युत्तर कौरवों को सुना दिया था।[4] दूत को केवल उतनी ही बात कहनी चाहिये जितने का उसे आदेश मिला है, अन्यथा वह दण्ड का भागी होता है।[5] यदि शत्रु राजा को उसका कथन कटु प्रतीत हो तो उसे यह कहकर शान्त कर देना चााहिये कि वह उसे अपने स्वामी की कही हुई बात सुना रहा है, वह स्वयं उसका कथन नहीं हैं।[6]

दूत परराज्य में बहुत ही सावधान रह वहाँ की आन्तरिक बातों को जानने का प्रयत्न करते थे, राजा की अप्रत्याशित नीति के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करते थे और उन सभी कार्यो का सम्पादन करते थे जिससे उसके स्वामी का हित तथा राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ने की सम्भावना होती थी।

दौत्यकार्यो की समाप्ति—

प्राचीन भारतीय राजनीति प्रणेताओं के अनुसार दौत्यकार्य की समाप्ति के अग्रलिखित कारण थे—

---

1. *अर्थ0 1/16/13-14*
2. *अर्थ0 1/16/11-12; काम0 13/8; नीतिवाक्या0 13/18*
3. *रामा0, युद्धकाण्ड, 41/76*
4. *म0 भा0, अरण्यपर्व, 256/6-18; उद्योगपर्व, 161/63*
5. *रामा0 युद्धकाण्ड, 20/18; मत्स्य0 215/12-13*
6. *अर्थ0 1/16/15-17; नीतिवाक्या0 13/18*

1. उस कार्य के पूरा हो जाने पर जिसके लिये दूत को परराष्ट्र भेजा गया था।[1]

2. अभीष्ट कार्य की सिद्धि न होने पर भी दूत स्वदेश लौट आता था।[2]

3. राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने पर परराष्ट्र के दूत को डाँट फटकार कर देश से निकाल दिया जाता था।[3]

4. दूत द्वारा राजा का अपमान, कटुसन्देश अथवा अन्य कोई अपराध कर दिये जाने पर प्राय: दूत को दण्डित करके देश से निकाला जाता था। लंका में उत्पात मचाने और रावणपुत्र का वध कर देने वाले हनुमान् को अंगभंग करके रावण ने भेजा था।[4] कभी-कभी दूत स्वयं ही जान बचाकर भाग आते थे। राम का कटुसन्देश सुनाने के बाद अंगद कैद होने के भय से स्वयं भाग आये थे।[5]

5. सन्देश के कारण दूत को अनावश्यक रोके रखने, कैद कर लेने अथवा मार दिये जाने पर दूत का कार्य स्वाभाविक रूप से समाप्त हो जाता था।[6]

6. युद्ध की घोषणा हो जाने पर दूत अपने-अपने देश लौट जाते थे।[7]

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित परिस्थितियों में भी दौत्यकर्म स्वाभाविक रूप से समाप्त हो जाते थे[8] यद्यपि इसका उल्लेख प्राचीन नीति ग्रन्थों में नहीं मिलता।

1. जब दूत अपने कार्य के मध्य में ही मर जाये।

2. जब दूत भेजने वाले राजा की मृत्यु हो जाये। इस परिस्थिति में पुरानी राजाज्ञा समाप्त हो जाती थी।

3. जिस देश में दूत भेजा गया है उस देश के राजा की मृत्यु हो जाने पर।[9] इस परिस्थिति में नये

---

1. अर्थ0 1/16

2. "विपरीतमतुष्टस्य" अर्थ0 1/16

3. भर्ता ते माममात्यैर्भेदयति, न व पुनरिहागन्तव्यम्। अर्थ0 13/3

4. रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 53, श्लोक 2-4

5. रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 41, श्लोक 86-91

6. अर्थ0 1/16

7. विग्रहमन्त्रः......... । अर्थ0 1/16

8. एच. एस. भाटिया : इन्टरनेशनल लॉ एण्ड प्रैक्टिस इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ0 159।

9. मजूमदार : एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ0 269।

राजा के रूख की प्रतीक्षा करना आवश्यक होता था।

यह तथ्य बहुत ही महत्वपूर्ण है कि आज के युग में भी दौत्यकर्म की समाप्ति के प्राय: वे ही कारण स्वीकार किये गये है [1] जिन्हें आज से शताब्दियों पूर्व भारतीय मनीषियों ने प्रस्तुत किया था।

दूत के विशेषाधिकार तथा सम्मान–

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में दूत की महत्वपूर्ण भूमिका और उसके जोखिमभरे उत्तरदायित्वों को दृष्टिगत रखते हुये प्राचीन भारतीय आचार्यो ने दूत की वैयक्तिक सुरक्षा आदि से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट अधिकार सुनिश्चित किये थे, जिनका पालन प्रत्येक राष्ट्र का ''धर्म'' समझा जाता था।

दूत के ये विशेषाधिकार इस प्रकार थे-

1. वैयक्तिक सुरक्षा तथा अवध्यता–

प्राचीन भारत में दूत अवध्य माना जाता था और उसे कठोर दण्ड देने का भी विधान न था। उभयपक्षों में युद्ध की स्थिति के समय भी राजदूतों के साथ शत्रुवत् व्यवहार नहीं किया जाता था। राजदूत का वध पूर्णत: वर्जित था क्योंकि युद्ध में पराजित राजा का वध करना नैतिक तथा राजनयिक दृष्टि से निषिद्ध था। परराष्ट्र में राजदूत के प्राणों का भय सदा बना रहता है।अत: उसकी सुरक्षा पर पर्याप्त बल देते हुये प्राचीन भारतीय विद्वानों ने कतिपय नियम निर्धारित किये, ताकि दूत निर्भीकतापूर्वक अपने उत्तरदात्वि का भलीभाँति वहन कर सके। दूत को किसी प्रकार की शारीरिक क्षति पहुँचाना, उसे बन्धन में रखना,मृत्यु-दण्ड देना अथवा किसी प्रकार का उसे अन्य शारीरिक दण्ड देना अत्यन्त घृणित एवं जघन्य कार्य माना गया है। यहाँ तक कि उसके प्रति कटु वचनों का प्रयोग करना भी सर्वथा निषिद्ध था। अनेक आचार्यो का मत है कि दैत्य-कार्य में यदि कोई चाण्डाल भी नियुक्त हो तो भी वह अवध्य है, उसी स्थान पर ब्राह्मण हो तो उसके वध के सम्बन्ध में तो सोचा भी नहीं जा सकता।[2] रामायण में वर्णित है कि दूत चाहे साधु हो अथवा असाधु, वह तो दूसरे का

---

1. *जे. जे. लॉरेन्स : प्रिन्सिपिल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 284*

2. *"तेषामन्तावसा विनोडप्यवध्या: " अर्थ0 1/16 ; काम0 13/20; हितोपदेश : 3/15, 7/62*

   "दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्य:" राजनीतिरत्नाकर : एकादशस्तरंग, पृ0 82

भेजा हुआ एवं दूसरे की बात को कहने वाला होता है। इसलिये दूत का वध सर्वथा निषिद्ध है।[1] डा0 अल्तेकर का भी मत है कि आधुनिक काल की भाँति प्राचीन काल में भी दूत अवध्य था।[2]

राजदूतों के प्रति सद्व्यवहार से सम्बन्धित भारतीय परम्परायें प्राचीन हैं। इसके प्रमाण सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में मिलते हैं। यद्यपि इन्द्र की दूती सरमा ने पणि शासक के प्रति कटु वाक्यों का प्रयोग किया था, तथापि उसे किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया गया था। रामायण से भी ऐसा ही आभास मिलता है। हनुमान ने लंका में भीषण उत्पात ही नहीं किया था, वरन् रावण के पुत्र का वध भी किया था।[3] किन्तु रावण द्वारा उसे दण्ड देने की आज्ञा पर विभीषण ने कहा था-'हे राजन्! दूत कहीं किसी समय भी बाध्य नहीं होते-बुद्धिमान लोग दूतवध की आज्ञा नहीं देते, परन्तु अवसरों पर उन्हें कोड़े मारने, मुण्डितकर बाहर निकाल देने आदि की आज्ञा दी गई है।''[4] इसकी पुष्टि राम के उस कथन से भी होती है जो उन्होंने रावण के दूत शुकसारण से कहा था-"तुम दूत के रूप में यहाँ आये हो, तुम्हें जीवन के विषय में कोई भय नहीं होना चाहिये।[5]"

महाभारत में तो दूत की सुरक्षा हेतु और भी उच्च नियम निर्धारित किये गये हैं। भीष्म का स्पष्ट मत है कि आपद्काल में भी राजा दूत का वध न करे, क्योंकि दूत तो स्वामी के आदेश का पालन करने वाला होता है। दूत की हत्या करने वाला अपने मंत्रियों सहित नरक का भागी होता है।

---

1. *रामा0 सुन्दरकाण्ड : अ0 52, श्लोक 13*
2. *डॉ0 ए0 एस0 अल्तेकर : स्टेट एण्ड गवर्न्मेण्ट इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 30*
3. *रामा0 सुन्दरकाण्ड : सर्ग 41-47*
4. *दूता न वध्या: समयेषु राजन्।*

   सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्त:।।

   न दूत वध्यां प्रवदन्ति सन्तो।।

   रामा0 सुन्दरकाण्ड : 52/13-14
5. *न्यस्तशस्त्रौ गृहीतो च न दूतो वधमर्हष:।*

   रामा0 युद्धकाण्ड : 20/34, 25/20

   न दूता ध्वन्ति काकुत्स्थ वीर्यर्ता साधु वानरा: ।।

   रामा0 युद्धकाण्ड : 20/17

क्षात्रधर्म में रत जो सत्यवादी दूत का वध करता है, उसके पितर भ्रूणहत्या के भागी होतें है।[1] राजा द्रुपद अपने पुरोहित को कौरवों के पास दूत बनाकर भेजने के अवसर पर कहते हैं- आप तो दूतकर्म में नियुक्त हैं, अत: आपको कौरव-राज्य में किसी प्रकार भय नहीं होना चाहिये।[2] दुर्योधन के दूत उलूक के कटु वचनों को सुनकर जब पाण्डव अत्यधिक क्रोधित होकर उसे दण्ड देने को उद्यत हुये, तब श्रीकृष्ण पाण्डवों को समझाते हैं- "तुम्हें उलूक के प्रति कठोर वचन नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह तो दौत्य कर्म में स्वामी की यथार्थ बातों को कहने वाला व्यक्ति हैं।[3]" दुर्योधन द्वारा कृष्ण को कैद किये जाने के कुप्रयास की निन्दा करते हुये भीष्मपितामह कौरवों को कहते हैं-"कृष्ण इस समय पाण्डवों के दूत बनकर आ रहे हैं, उन्हें बन्दी न बनाया जाय।[4]"

प्राचीन भारत की व्यावहारिक परम्परायें यह स्थापित करती है कि प्राचीन भारत में इन मान्यताओं का पालन किया जाता था, पणियों ने सरमा,रावण ने अंगद, दुर्योधन ने कृष्ण, शुम्भ-निशुम्भ ने भूतनाथ के साथ यह ज्ञात हो हुये भी कि वे शत्रुपक्ष के थे सद्व्यवहार किया था और उन्हें न तो बन्दी ही बनाया और उनका वध ही किया।[5]

प्रोफेसर दीक्षितार का कथन सर्वथा सत्य है कि पांच हजार वर्ष पूर्व भी भारतवर्ष में मान्यता थी कि दूत अवध्य है। रामायण में मात्र एक उदाहरण रावण का मिलता है जिसने कुबेर के दूत का वध कर दिया था।[6] उसके इस कृत्य की घोर निन्दा की गयी है। दूत की अवध्यता के

---

1. *न तु हन्यान्नृपो जासु दूत कस्यों विदापीदे ।*
   दूतस्य हन्ता निरयमा विशेत्सचिवै सह ।।
   पथ्थोक्तवादिन दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः ।
   यो हन्यात् पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवा प्नुषः ।। *म0 भा0 शान्तिपर्व : 86/25-26*
2. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 6/16*
3. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 162/39*
4. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 88/18*
5. *डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0 303-304*
6. *रामा0 उत्तरकाण्ड : 13/40*

सिद्धान्त को देश में इतनी मान्यता थी कि यदाकदा परराष्ट्र के गुप्तचर भी अपने को दूत बताकर दण्डित होने से बच जाते थे। हनुमान् गुप्तचर के रूप में लंका गये थे किन्तु वहाँ अपने को रामदूत बताकर ही वध दण्ड से बच गये थे।[1]

यद्यपि दूत को वैयक्तिक सुरक्षा और अवध्यता का अधिकार प्राप्त था, तथापि ये अधिकार इतने असीमित न थे जितने कि वर्तमान युग में हैं। अनुक्तवादी दूत के वध की बात कही गयी है, गम्भीर अपराध करने पर उसे दण्डित किया जा सकता था। विभीषण के अनुसार अपराधी दूत के लिये निर्धारित दण्ड थे-अंगभंग कर कुरूप बना देना,कोड़े लगाना, सिर मुड़ा देना और शरीर में विभिन्न प्रकार चिन्ह बना देना।[2] इनमें भी सम्भवत: सिर मुड़ाने और कोड़े लगाने की सजा ही विशेष प्रचलित रही होगी। अंग-भंग करने और संतप्त लोहे आदि से दाग कर शरीर पर विभिन्न प्रकार के चिन्ह बना देने की सजायें निश्चय ही कठोर थी। आज के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वानों की राय में भी देश की आन्तरिक शान्ति को संकट में डालने वाले षड्यन्त्रों में भाग लेने अथवा अपने कूटनीति अधिकारों का उल्लघन करने वाले राजदूतों को कैद आदि की सजा दी जा सकती है।[3]

2. बन्धन से मुक्ति का अधिकार–

प्राचीन भारतीय मनीषियों की राय में दूत को कैद कर लेना उचित नहीं था। दुर्योधन ने पाण्डवदूत कृष्ण को जब कैद करना चाहा तो स्वयं धृतराष्ट्र ने उसे समझाते हुये कहा था-"राजन्! ऐसा मत कहो। यह सनातन धर्म नहीं है। कृष्ण दूत हैं, हमारे प्रिय सम्बन्धी भी हैं और हमारे विषय में इनके विचार कलुषित नहीं हैं, अत: उन्हें कैद करना उचित नहीं हैं।"[4] किन्तु फिर भी व्यवहार में इस नियम का पूर्ण पालन किया जाता था इसकी सम्भावना कम है, क्योंकि कौटल्य तथा उत्तरवर्ती

---

1. *केनविद् राजकार्येण आगतोडस्मि सवान्तिकस ।।*

   दूतोडहर्मित विज्ञाय राघ्वस्यामितौजस: । रामा0 सुन्दरकाण्ड : 50/18-19

2. *वैरूप्यमंगंष्ठु कशाभिध्यातो।*

   मोण्डयं तथा लक्षणसन्निपात:।। रामा0 सुन्दरकाण्ड : 48/6

3. *हालैण्ड : इण्टरनेश्नल लॉ, पृ0 223—224*

4. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 88/17—18*

राजनीतिशास्त्रियों ने दूत को कटुसन्देशकथन के बाद परराज्य से पलायन कर जाने की सलाह दी है।

दूत के साथ कठोर व्यवहार करना भी शिष्टसम्मत न था। भीम के द्वारा कौरवदूत उलूक के प्रति कठोर शब्दों का व्यवहार किये जाने पर अर्जुन ने भीम से कहा था-"हे पुरूषोत्तम! तुम्हें उलूक के प्रति ऐसे कठोर वचन नहीं बोलने चाहिये। कही हुई बात को दुहराने वाले दूत का क्या अपराध है।"[1]

समय-समय पर निर्धारित राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में भी यही कहा गया है कि दूत अवध्य है, उसे बन्दी न बनाया जाये, उसका माल जप्त न किया जाये और उसको सभी प्रकार की क्षति एवं अपकारों से सुरक्षित रखा जाये, क्योंकि दूत का शरीर पवित्र होता है।1708 ई0 के ब्रिटिश कानून के अनुसार किसी को बन्दी बनाने या उसका माल जप्त करने की सब आज्ञायें अवैध होती हैं। ''रिपब्लिक बनाम लोंगचैम्पस'' के मामले में यह कहा गया है-'' राजदूत का शरीर पवित्र और अवध्य होता है। इनके प्रति की गई हिंसा न केवल उस प्रभु या राजा का अपमान है, जिसका प्रतिनिधित्व वह दूत कर रहा है अपितु इससे राष्ट्रों की सामान्य सुरक्षा और कल्याण को भी हानि पहुँचती हैं।" ''पेलवी'' के मामले में दिये गये निर्णय के अनुसार ''राजदूत को सब प्रकार की क्षतियों तथा अपकारों से सुरक्षित रखना चाहिये। हमारे देश के दूत को हानि पहुँचाना कदापि वैध नहीं है।[2]'' डॉ. हरिदत्त वेदालंकार ने विभिन्न देशों के कानूनों और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के उपर्युक्त उदाहरण देते हुये यह सिद्ध किया है-''प्राचीन भारत के नियमों को ही 1708 ई0 के ब्रिटिश कानून में प्रतिष्ठित किया गया है और रिपब्लिक बनाम लोंगचैम्पस एवं पैलवी'' के मामलों के निर्णय से भी इन नियमों को पर्याप्त समर्थन मिलता है।''[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में प्रचलित नियमों की महत्ता और उपयोगिता को मानते हुये वर्तमानकाल में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में इन्हें सम्मिलित किया गया है।

3. कार्य करने की स्वतन्त्रता—

दूत को अपने राजा का सन्देश सुनाने और उसका औचित्य प्रतिपादित करने की पूरी

---

1. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 162/38—39*
2. *डॉ0 हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ0 242*
3. *डॉ0 हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ0 242*

स्वतंत्रता थी। राजनीति के आचार्यो ने राजा को सलाह दी है कि उन्हें दूत के शुभ, अशुभ सभी प्रकार के वचन बिना किसी ईर्ष्या अथवा क्रोध के पूरी तरह सुनने चाहिये।[1] सोमदेव का विचार है कि कौन सुधी राजा दूत के वाक्यों से अपना अपकर्ष और शत्रु का उत्कर्ष अनुभव करेगा ?[2] विरोध की बात कहने वाला भी दूत दण्डनीय नहीं होता।[3]

दूत अपने कार्य के सम्पादनार्थ देश में सर्वत्र भ्रमण कर सकते थे। बौद्ध साहित्य में प्राप्त एक रोचक कथा दूत के सर्वत्र आ-जा सकने की स्वतन्त्रता पर यथेष्ट प्रकाश डालती है। एक व्यक्ति जो राजा के भोजन का आनन्द लेना चाहता था अपने को "दूत" घोषित करता हुआ सीधे राजमहल में जा पहुँचा। जब उसे राजमहल के सन्तरी ने प्रताड़ित करना चाहा तो उसने अपने को दूत बताकर दूतों के विशेषाधिकार की दुहाई दी। राजा ने उसे संरक्षण दिया। बाद में राजा के साथ शाही भोजन का यथेष्ट आनन्द लेकर उसने बताया कि वह "पेट का दूत" है।[4] कौटल्य के अनुसार यदि दूत तथा उसके अनुयायी असमय में अथवा घाट के अतिरिक्त अन्य स्थानों से भी नदी पार करें तो उन्हें दण्डित नहीं किया जाना चाहिये।[5] इससे स्पष्ट है कि दूत को सभी समय सर्वत्र घूमने की स्वतन्त्रता थी । यद्यपि इसके लिये उन्हें राजकीय मुद्रा से अंकित परिचय एवं पारपत्र अवश्य लेने पड़ते थे।

4. कर से मुक्ति—

आज की भांति प्राचीन भारत में भी राजदूतों को सभी प्रकार के करों से मुक्ति रखा गया था।[6] वे अपने साथ रत्न, आभूषण स्वर्ण मुद्रायें आदि ले जा सकते थे और उन पर किसी प्रकार का

---

1. *श्रोतव्यानि महीपेन दूतवाक्या न्यशेषत:।* — *काम0 सर्ग 13, श्लोक 23*
2. *क: सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्ष "स्वापकर्ष" च मन्येत।* — *काम0 सर्ग 13, श्लोक 23*
3. *विरूदमपि जल्पन्तो दूता दण्डया न भूभुता ।* — *युक्तिकल्पतरू : 15/107*
4. *दूतजातक : 2/261*
5. *अर्थ0 2/44/28/3—4*
6. *वसिष्ठस्मृति : 19/15, 25*

कर नहीं लगाया जाता था। चीनी यात्री हूवेनत्सांग अपने साथ तीन हजार स्वर्ण मुद्रायें और दस हजार रोप्य मुद्रायें चीन ले गया था किन्तु इसके लिये उसे किसी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ा था।[1] कौटल्य तो दूत से नाव द्वारा नदी पार करने का किराया भी लेने के पक्ष में नहीं हैं।[2] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारत में राजदूतों को यात्रा की विशेष सुविधायें प्राप्त थीं।

5. गवाही के कार्य से मुक्ति—

प्राचीन भारतीय राष्ट्रों में रातदूतों को गवाही के कार्य से कदाचित् मुक्त रखा गया था, यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थों में नहीं मिलता, तथापि विदेशियों को साक्षी देने के अधिकार से वंचित रखने के सिद्धान्त[3] से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। विदेशी होने के नाते राजदूत को भी साक्ष्य प्रस्तुत करने का अधिकार न था किन्तु आज इसी सिद्धान्त को अधिक शिष्टता के साथ ''राजदूत के सम्मान और विशेषाधिकार'' के रूप में मान्यता प्राप्त है।

6. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—

प्राचीन भारत में राजदूतों को धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार निश्चय ही प्राप्त था, यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थों में नहीं मिलता। प्रियदर्शी सम्राट के दूतों ने अनेक राज्यों में बौद्धधर्म का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रचार किया था। चीनी यात्री हूवेनत्सांग जब भारत के धार्मिक विद्वानों से शास्त्रार्थ कर संकट में पड़ गया था, सम्राट हर्षवर्धन ने उसकी पूर्ण रक्षा की थी।

इनके अतिरिक्त पत्र व्यवहार की स्वतन्त्रता, सीमित क्षेत्राधिकार और राज्यक्षेत्रबाह्यता से सम्बन्धित अधिकार भी दूतों को अवश्य प्राप्त रहे होगें भले ही इसका उल्लेख प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता किन्तु उपर्युक्त वर्णित विशेषाधिकारों से इसकी पुष्टि स्वयं हो जाती है।

दूत सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में दूत-व्यवस्था इतनी ही विकसित थी, जितनी आज के युग में। प्राय: सभी राज्य परराज्यों में अपने हितसाधन हेतु दूत को भेजा करते थे। कार्य समाप्त होने के पश्चात् वे पुन: स्वदेश आ जाते थे। प्राचीन भारत में स्थायी रूप से दूतों की नियुक्ति का विधान उल्लिखित नहीं है जैसा कि आज के युग में है। प्राचीन ग्रन्थों

---

1. *टी. डब्ल्यू अटर्स : ऑन युआन-च्वांगस ट्रेवल्स इन इण्डिया, भाग-1, पृ0 11*
2. *अर्थ0 2/44/28/4*
3. *नारद0 4/177-178*

से यह स्पष्ट नहीं होता कि परराष्ट्र में दूत स्थायी तौर पर नियुक्ति किये जाते थे अथवा विशेष अवसर पर ही भेजे जाते थे।लेकिन इतिहास से आभास मिलता है कि देश में स्थायी रूप से भी दूत नियुक्त करने की प्रथा विद्यमान थी। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मेगस्थनीज का है जो मौर्य दरबार में अनेक वर्षो तक रहा था। आजकल तो प्राय: सभी राज्य अन्य राज्यों में स्थायी रूप से अपने दूतों की नियुक्ति करते हैं। वे वहाँ तब तक रहते हैं, जब तक उनको वहाँ के राज्य चाहते हैं। अत: अवांछनीय व्यक्ति घोषित होने पर ही दूत उस राज्य से वापिस अपने देश में जाता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में दूत राज्यों के बीच परस्परिक सम्बन्ध तथा अन्तर्राज्जीय सम्बन्ध बनाये रखने में प्रधान साधन होते थे। भावनाओं से परे होकर यदि विचार करें तो ज्ञात होगा के दूत प्रक्रिया मानव जाति की एक स्वाभाविक क्रिया-कलाप है, यद्यपि स्थान एवं काल की विभिन्नता के कारण उसका आनुपातिक महत्व बदलता रहा है। भारत में प्राचीनकाल से ही सुशिक्षित, सुसंगठित एवं वाक्-कला में निपुण दौत्य व्यवस्थायें रही हैं। इनसे प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र राज्य की संरचना के लिये एक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बल मिला और इस सन्दर्भ में विदेशी मानस-पटल पर भारतीय राज्य एवं शासन प्रणाली ने एक अमिट छाप छोड़ी।

चर (गुप्तचर) —

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय हितों के संरक्षण एवं सम्बर्द्धन के लिये गुप्तचरों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर गुप्तचरों का प्रयोग सामान्य सामाजिक व्यवस्था तथा राष्ट्रभक्ति को बनाये रखने के लिये किया जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गुप्तचरों का प्रयोग दूसरे देशों में स्वदेश (गुप्तचर का देश) के प्रति आस्था उत्पन्न करने तथा दूसरे देश के सुरक्षा सम्बन्धी भेदों (सैन्यनीति, सैन्यशक्ति,सैन्य फैलाव, सुरक्षा उत्पादन की मात्रा तथा सुरक्षा उद्योगों की प्रकृति आदि) के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये किया जाता है और युद्धकाल में ये विध्वंसात्मक कार्यवाही करने के साथ-साथ शत्रु पक्ष में अफवाहों आदि के द्वारा अपने पक्ष में जनमत तैयार करने का प्रयास करते हैं। युद्धकाल में इनका कार्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता है और इस तथ्य को स्थापित करने वाले अनेकानेक उदाहरण है जिनसे पता चलता है कि प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों में जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन के गुप्तचरों ने महत्वपूर्ण कार्य किये थे।

प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दूत की भाँति चरों का भी महत्वपूर्ण योगदान था। प्राचीन ग्रन्थों में इनको अनेक नामों से पुकारा गया है, यथा-चर, गूढ़चर, प्राणिधि आदि। तैत्तिरीय संहिता में वर्णित प्रहित को सायणाचार्य ने चर ही माना है।[1] वर्तमान युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने 'स्पाइज' तथा 'इनफार्मर्स' की नियुक्ति मित्र तथा दोनों ही राष्ट्रों में करता है, लेकिन भारत में यह प्रथा नवीन नहीं है।

अज्ञात को जानने की इच्छा मानव का सहज स्वभाव है और इस जिज्ञासा के कारण ही सम्भवत: दूसरों की गतिविधि को जानने हेतु गुप्तचरी की प्रथा प्रारम्भ हुई। हो सकता है संसार में चर रूपी संस्था का उद्भव भी राज्यशासन पद्धति के उद्भव के साथ ही हुआ हो और शत्रुपक्ष की गतिविधियां एवं सूचनाओं की प्राप्ति हेतु गुप्तचरों का उपयोग होने लगा हो। कालान्तर में इस संस्था का रूप व्यापक होता गया। सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[2] ऋग्वेद में उल्लेख है कि असुरों के सूत्रामणि यज्ञ में सुरापान करने पर जब इन्द्र से इन्द्राणी ने विरोध व्यक्त करने के लिये क्रोधपूर्ण व्यवहार किया तो इन्द्र ने कहा कि हमारा यहाँ आने का उद्देश्य परिस्थिति का अध्ययन करना है और यह राजनीति से सम्बन्धित है। ऋग्वेद से स्पष्ट होता कि जब स्वयं राजा ही गुप्तचरी के द्वारा शत्रु के भेद ज्ञात करने का प्रयास करता था तो वह इस कार्य के लिये अन्य लोगों का भी प्रयोग अवश्य करता होगा।

ऋग्वेद संहिता में वरूण के गुप्तचरों का वर्णन है और उनकी कारगर गुप्तचर व्यवस्था के कारण ही उनको सर्वदर्शी कहा गया है क्योंकि उन्हें पता रहता था कि विश्व में क्या हो रहा है और क्या होगा।[3] इसी आधार पर अथर्ववेद में चरों को वरूण के सहस्त्र नेत्र कहा गया है। प्राचीन

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 57/39, 58/5; उद्योगपर्व : 7/4; आश्रिमवासिकपर्व : 5/15*

   डॉ0 वेनी प्रसाद : स्टेट इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 44

   एस0 ए0 कुक (सम्पा0) : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग —1, पृ0 94

   डॉ0 वी0 आर0 आर0 दीक्षितार : वार इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 352

2. *ऋ0 10/86*

3. *डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0 305*

   वैदिक इण्डिया, भाग-2, पृ0 16

साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि देवताओं तथा राक्षसों ने प्रतिपक्षी के विरूद्ध गुप्तचरों का प्रयोग किया था। महाभारतकाल में तो गुप्तचरों के गुप्त रहस्य, कार्यप्रणाली और संकेत-प्रणाली इतनी व्यवस्थित हो चुकी थी कि उस समय की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बातों का ज्ञान राजा को गुप्तचरों द्वारा प्राप्त हो जाता था। महाभारत में गुप्तचरों के कार्य, योग्यता, गुण-दोष, महत्व, नियुक्ति, प्रयोग आदि का सविस्तार वर्णन मिलता है।[1] राजा पर्याप्त सोच समझकर विश्वसनीय व्यक्तियों को गुप्तचर बनाता था और उनके माध्यम से बाह्य एवं आन्तरिक बातों से अवगत हो देशहित हेतु आवश्यक कार्यवाही करता था। महाभारत में राजा, राजगुरू,मंत्री,महामंत्री,गुप्तचर आदि द्वारा की जाने वाली रात्रिकालीन परिषद को राज्यशासन का एक महत्वपूर्ण अंग मानकर उसे प्रतिदिन करने पर बल दिया है। ऐसी परिषदों में राजा आदि द्वारा राज्य की आन्तरिक सुरक्षा और बाह्य प्रतिरक्षा पर गोपनीय विचार किया जाता था। गुप्तचरों की बातों को राजा स्वयं सुनता और उनके बारे में आवश्यक निर्देश देता था।[2]

गुप्तचरी के लिये महिलाओं का उपयोग भी किया जाता था। ये अपने नारी-सुलभ-सौन्दर्य से विरोधी को प्रेमपाश में फंसाकर उससे गोपनीय रहस्य प्राप्त कर लेती थीं। कौटिल्य ने गुप्तचर के रूप में कार्य करने वाली महिलाओं को परिब्राजिक(संन्यासी के वेश में काम करने वाली), मुंडा (मुडित भिक्षुणी) वृषला(शुद्रा) आदि नामों से पुकारा है।[3] शत्रु की हत्या के लिये विषकन्याओं का प्रयोग भी किया जाने लगा था। इनको बचपन में ही विष का सेवन कराते हुये उन्हें विषयुक्त बना दिया जाता था। जिससे वे किसी भी व्यक्ति को मात्र अपने श्वास की गंध से मार सकती थीं। रात्रि के समय वेष बदलकर राजा, पुरोहित एवं महामंत्री द्वारा घूम-फिरकर जनता के सुख-दुख जानने की प्रथा भी प्रचलित हो चुकी थी। पक्षियों के माध्यम से गुप्तचरी करके ठीक बातों को पता लगाने का कार्य भी होने लगा था। महाभारत में एक कौए द्वारा गुप्तचरी करने का वृतान्त मिलता है।[4] तोता-मैना आदि पक्षियों के द्वारा भी गुप्तचरी-प्रथा का चलन हो चुका था। पुरा काल में किसी

---

1. म0भा0 शान्तिपर्व : 86/ 19-22, 87/9-12, 120/27-32, 140/39-59; आदिपर्व : 139/62-65
2. म0 भा0 शान्तिपर्व : 86/20; मनु0 7/151 एवं 153
3. अर्थ0 1/11
4. म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 82

राजा की गुप्त मंत्रणा को तोता और मैना द्वारा प्रकट कर दिया गया था। इसलिये कहा गया है कि मंत्रणा स्थान चारों ओर से इस प्रकार बन्द होना चाहिये कि जिससे वहाँ पक्षी तक न झांक सकें।[1] कौटिल्य, मनु, कामन्दक, सोमदेव तथा अन्य राजनीतिक चिन्तकों ने अपने ग्रन्थों में चर तथा गूढ़-पुरूषों के कार्य-कलाप का विस्तृत वर्णन किया है। वृहस्पति तथा विष्णु के स्मृति ग्रन्थ, अग्नि, मत्स्य आदि पुराण तथा राजतरंगिणी एवं कतिपय अभिलेखों से भी इस व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। इनके अतिरिक्त मुद्राराक्षस, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, उत्तररामचरित, मृच्छकटिक, ललित-विग्रह आदि संस्कृत नाटकों तथा कुरड़ और तेलकाप्पियम् प्रभृति तमिल ग्रन्थों में भी चरों की कार्य प्रणाली का उल्लेख किया गया है। प्राचीन भारत में गुप्तचरों को अत्यधिक प्रतिष्ठित उच्च अधिकारी माना गया है। आज तो यह धारणा बन गई है कि जो राज्य गुप्तचरी का जितना व्यापक संगठन तैयार करता है वह उतना ही अपने राज्य को सुदृढ़ और स्थिर बनाता है। आजकल राजनीतिक गुप्तचरी वास्तव में दो-मुखी गुप्तचरी है। उसका प्रयोजन जहाँ अन्य राष्ट्रों के राजनीतिक रहस्यों का पता लगाना होता है, वहाँ उनकी राजनीतिक व्यवस्था को अपने पक्ष में मोड़ देना भी रहता है। गुप्तचर परराज्यों की राज्यसभाओं को ध्वस्त करने और उनमें होने वाले संघर्षो एवं निर्वाचनों में हस्तक्षेप करके अपनी नीति के समर्थक राजनीतिज्ञों को पक्ष में मोड़ने की चेष्टा करते हैं। अमेरिका और रूस द्वारा छोटे-छोटे दुर्बल राज्यों के प्रति व्यवहृत नीति इसका स्पष्ट प्रमाण है।

गुप्तचरों का महत्व—

प्राचीन भारत में राष्ट्रीय हितों के संरक्षण तथा सम्बर्द्धन एवं युद्ध में विजय प्राप्त करने में गुप्तचर महत्वपूर्ण योगदान देते थे। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अथर्ववेद की व्याख्यानुसार गुप्तचरों को राजा के चक्षुओं (नेत्रों) की संज्ञा से विभूषित किया गया है।[2] अग्निपुराण के मत से राजा को चारचक्षु होना चाहिये और चर की कार्यकुशलता पर राज्य की उन्नति ही नहीं, अस्तित्व भी अवलम्बित है।[3] चर व्यवस्था का महत्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वेद में देवताओं के चरों की

---

1. *अर्थ0 1/14*
2. *विष्णुधर्मोत्तर0 2/24*
3. *डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0 301*

भी कल्पना की गयी है, जो सबकी गतिविधि का अवलोकन किया करते थे।[1] महाकाव्यों में भी गुप्तचरों को बहुत महत्व प्रदान किया गया है। सूपर्णखा ने रावण की भर्त्सना करते हुये कहा था कि "जो राजा गुप्तचरों की नियुक्ति नहीं करता, उसके राज्य का स्थायित्व नष्ट हो जाता है।"[2] रावण का कथन है-"यदि गुप्तचरों द्वारा शत्रु की गतिविधि का पता चल जाये तो बुद्धिमान राजा स्वल्प प्रयत्न से ही उसको पराजित कर सकता है।"[3]

महाभारत में भी गुप्तचरों का महत्व व्यक्त किया गया है। भीष्म के अनुसार गुप्तचर ही राज्य के मूल आधार हैं।[4] गुप्तचर राज्य की रक्षा के उत्तम साधन हैं।[5] उन पर ही राज्य की प्रतिष्ठा स्थापित है। महाभारत के उद्योगपर्व में गुप्तचरों को छिपे हुये राजा[6] की संज्ञा प्रदान कर, गुप्तचरों के राष्ट्रीय महत्व को पूर्णरूपेण स्थापित कर दिया है।

कामन्दक का कथन है कि चर-युक्त राजा सोता हुआ भी जागता रहता है और चार-चक्षु हीन राजा ठोकर खाकर गिर पड़ता है।[7] वही व्यक्ति राजा रह सकता है जो गुप्तचर रूपी नेत्रों से युक्त हो।[8] इसीलिये वह राजा को अपने चरों के माध्यम से दूर-दूर की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने का आदेश देते हैं।

मनु ने राजा को आदेश दिया है कि वह गुप्तचरों द्वारा अपनी सेना के उत्साह एवं कार्यो के सम्बन्ध प्रचार कराये तथा उससे शत्रु की सैन्य व्यवस्था और उसकी शक्ति पर पड़ने वाले प्रभाव का ज्ञान प्राप्त करे।[9] राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त राजदूतों तथा गुप्तचरों के महत्व पर विचार

---

1. ऋ0 1/24/13, 4/4/3; अथर्व0 4/16/4, 8/63/3, 9/73/4
   वैदिक माइथोलोजी, पृ0 23—24
2. रामा0, अरण्यकाण्ड : 31/5—10
3. रामा0, युद्धकाण्ड : 29/21
4. म0भा0, शान्तिपर्व : 83/51
5. म0 भा0 शान्तिपर्व : 58/5,12, 86/20
6. म0 भा0 उद्योगपर्व : 34/34
7. काम0 13/29-31
8. काम0 12/28
9. मनु0 9/298

व्यक्त करते हुये कौटिल्य ने लिखा है कि राजदूत राष्ट्रीय हितों के संरक्षण एवं सम्बर्द्धन के लिये सन्यासी की भाँति चिन्तन, मनन और प्रार्थना करता है जब कि गुप्तचर अपने उद्योगों (कर्मो) के द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों के संरक्षण एवं सम्बर्द्धन के लिये परिश्रम करते हैं।[1] न्याय विषयक मामलों में भी कौटिल्य का मत है कि गुप्तचरों की बातों को सत्य मानना चाहिये और उन पर अमल करना सामाजिक न्याय तथा राष्ट्र रक्षा के हित में है। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि यदि साक्षियों के कारण वादी एवं प्रतिवादी दोनों का मुकदमा गड़बड हो जाये तो गुप्तचर द्वारा असत्य सिद्ध हुये पक्ष के विरूद्ध न्यायाधिकारी अपना फैसला दे और अपराधी को दण्डित करे।

कौटिल्य का मत है कि राष्ट्रीय हितों के संरक्षण एवं सम्बर्द्धन के निमित्त राजा का यह कर्तव्य है कि शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राजाओं, उनके मंत्रियों, पुरोहित आदि अट्ठारह तीर्थो[2] पर अपने गुप्तचर नियुक्त करे।[3] कौटिल्य ने यह भी कहा है कि मण्डल राज्यों (अधीनस्थ) के व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये राजा मण्डल में गुप्तचरों को नियुक्त करे तथा उनकी सहायता से शत्रु को नष्ट कर दे।[4]

शुक्र का मत है कि राजा को चाहिये कि वह अधिकारियों के मनोरथ तथा कृत्यों का विवरण गुप्तचरों से प्रतिदिन सुने। शुक्र ने आदेश दिया है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन सोने से पूर्व प्रजा, शत्रु, सेना, सभासद, बन्धु, अन्तःस्त्री आदि के बारे में गुप्तचरों से विवरण प्राप्त करे और उनके विवरण को लिखकर उचित कार्यवाही करे। जो राजा असत्य बोलने वाले गुप्तचर को दण्डित नहीं करता उस राजा को राजा नहीं, अपितु उसे प्रजा के प्राणों तथा धन का अपहरणकर्ता म्लेच्छ समझना चाहिये।[5]

महाभारत में उन महत्वपूर्ण स्थलों के नाम दिये हैं जहाँ-जहाँ गुप्तचर नियुक्त करने चाहिये और इस बात पर भी बल दिया है कि गुप्तचर एक दूसरे को न जान सकें क्योंकि एक से अधिक

---

1. *अर्थ0 1/15*
2. *अर्थ0 अधि0 2*
3. *अर्थ0 1/11*
4. *अर्थ0 7/13*
5. *शुक्र0 1/333—336*

गुप्तचर से यदि एक सूचना प्राप्त होती है तो यह विश्वास कर लेना चाहिये कि वह सूचना पूर्णरूप से सत्य है।[1]

महाभारत में राजा के लिये कार्यसिद्धि के साधनों–साम, दान, दण्ड, भेद, उत्तम बुद्धि, सुरक्षित मंत्रणा पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह, चतुरता आदि में गुप्तचर को भी सम्मिलित किया गया है और राजा को इन नीतियों में से एक या दो के द्वारा या अनेक साधनों का एक साथ प्रयोग करके अपना कार्य सिद्ध करने पर बल दिया है।[2] अन्त में उनके अनुसार राज्य का मूल है गुप्तचर और उसका सार है गुप्तमंत्रणा।[3] मनु ने राजा के गुप्तचरों की पहुँच को वायु की गति के समान माना है, जैसे वायु सभी जीवों के अन्दर विचरण करती है, वैसे ही राजा वायुव्रत के अनुरूप अपने चरों के द्वारा सम्पूर्ण राज्य में भ्रमण करता है।[4] मानवजाति का इतिहास इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करता है कि कोई भी शासन प्रणाली राजतंत्र अथवा गणतंत्र हो, उसे गुप्तचरों की आवश्यकता होती है। यह शासनतंत्र का अभिन्न अंग है। राज्यशासनसंचालन में इसकी अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता।

प्राचीन भारतीय साहित्य ऐसे कृत्यों के विवरण से भरा पड़ा है जिससे गुप्तचरों की महत्ता स्थापित होती है। ऋग्वेद काल में इन्द्र की दूती सरमा ने गायों का हरण करने वाले पणियों का पता लगाया था। रामायण काल में गुप्तचरों के माध्यम से ही लंकापति को ज्ञात हुआ कि राम की सेना सुबेल पर्वत तक पहुँच चुकी है।[5] उसके चर शुक और सारण राम की शक्ति का परिवेक्षण करने के लिये उनके शिविर में गये थे।[6] विभीषण के राम-शिविर में पहुँचने पर सुग्रीव ने चरों द्वारा ही उनकी जानकारी प्राप्त की थी।[7] सुग्रीव और हनुमान ने सीता का पता लगाया और उसकी शुद्धता की पुष्टि

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 140/39—42*
2. *म0 भा0 वनपर्व : 150/41—42*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 83/51*
4. *प्रविश्च सर्वभूतानि यथा चरित मारूत: ।*
   तथा चारै: प्रवैष्टव्यं व्रतमैतद्धि मारूरतम् ।। मनु0 अ0 9, श्लोक 306
5. *रामा0 युद्धकाण्ड : 20/1—2*
6. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 20*
7. *रामा0 युद्धकाण्ड : 17/43—44*

ही नहीं की वरन् रावण की सम्पूर्ण सैन्य शक्ति का विवरण भी राम के समक्ष प्रस्तुत किया।[1] राम ने अपने गुप्तचर 'दुर्मुख' के प्रतिवेदन पर ही अग्नि परीक्षा के पश्चात् भी सीता को वनवास दिया। महाभारत काल में द्रौपदी से अनाचार करने की इच्छा करने वाले कीचक को भीम ने मौत के घाट उतारा तथा युद्ध की योजना बनाने से पूर्व युधिष्ठिर ने एक वनेचर (गुप्तचर) के द्वारा दुर्योधन के शासन तथा सैन्यशक्ति का पूर्णरूपेण ज्ञान प्राप्त किया। गुप्तचर के माध्यम से भीष्म ने यह पता लगाया कि पांचाल राजा जिस शिखण्डी का पुत्रवत् लालन-पालन कर रहा था वह लड़की थी यद्यपि इस बात को राजा द्रुपद तथा उनकी रानी के अतिरिक्त कोई नहीं जानता था। गुप्तचरों के माध्यम से दुर्योधन को यह समाचार मिला कि मत्स्य देश का सेनापति कीचक मर गया है।[2]

कामन्दक तथा कौल्टिय का मत है कि गुप्तचरों के माध्यम से वीरसेन ने अपने भाई राजा भद्रसेन की हत्या की और अपनी माता के पलंग के नीचे से लड़के ने अपने पिता कारूश की हत्या की। काशीराज की रानी ने मधु में विष मिलाकर राजा को पिलाया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। मेखला की मणि से सावीर की और आरसी से जालूथ की तथा जूड़े में छिपे विष बुझे शस्त्र से विदूरथ की हत्या उनकी रानियों ने की।[3]

मुद्राराक्षस में गुप्तचरों का अत्यधिक रोमांचकारी उल्लेख है जिसमें चन्द्रगुप्त के मंत्री चाणक्य और नन्द के मंत्री भूत तथा मलय केतु के मंत्री राक्षस की कूटनीतिक लड़ाई का वर्णन है। राक्षस ने विराटगुप्त को सपेरा बनाकर पाटिलपुत्र भेजा था क्योंकि राक्षस चन्द्रगुप्त तथा उसके अनुयायियों में भेद डालना चाहता था। विराटगुप्त के साथ ही भाट स्तनकलस को भी चन्द्रगुप्त का क्रोध बढ़ाने के लिये भेजा था जो श्लेषपूर्ण छन्दों में गाता था कि चाणक्य तेरी आज्ञा का विरोध करता है और तेरे अधिकार को ठुकराता है परन्तु चाणक्य ने राक्षस का यह प्रयास विफल कर दिया। दूसरी बार राक्षस ने अपने वैद्य अभयदत्त को भेजा जिसने चन्द्रगुप्त को पीने के लिये विष दिया जिसे जब चाणक्य ने सोने के बर्तन में डाला तो उसका रंग बदल गया और चाणक्य ने वह विष चन्द्रगुप्त

---

1. *रामा0 सुन्दरकाण्ड : 28/4–5*
2. *डॉ0 योगेन्द्र कुमार शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनय एवं युद्ध तकनीक, पृ0 89–90*
3. *अर्थ0 अधि0 1, अ0 20, वार्ता0 23–26*

   डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राजशास्त्र, पृ0 304–305

की बजाय अभयदत्त को पिला दिया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। राक्षस के एक अन्य गुप्तचर प्रभोदक का प्रयास भी इसी तरह विफल रहा।[1] इस विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय गुप्तचर व्यवस्था आधुनिक विश्व के किसी भी देश की गुप्तचर व्यवस्था से किसी भी प्रकार हीन नहीं थी। भारतीय कूटनीतिज्ञों ने चर व्यवस्था को प्रोत्साहित करते हुये कभी भी हीनमन्यता का अनुभव नहीं किया, वरन् जनकल्याण की दृष्टि से विद्या की आवश्यकता को उन्मुक्त रूप से स्वीकारा है। वस्तुत: पाश्चात्य चर संस्थाओं की तुलना में भारतीय चर व्यवस्था शासन तंत्र का एक अविच्छिन अंग रही है।

विशाल मौर्य साम्राज्य जो अशोक की मृत्यु के बाद विनाश के कगार पर खड़ा था, वह उस समय छिन्न–भिन्न हो गया जब अन्तिम मौर्य शासक वृहद्‌थ कूटनीतिज्ञ कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सुरक्षा सिद्धान्तों को भूलकर असुरक्षित अवस्था में अपनी सेना का निरीक्षण करने चला गया और तभी महत्वाकांक्षी सेनानी पुष्यमित्र उचित अवसर को पा गया और उसने गुप्त रूप से वध की सभी तैयारियाँ करके राजा को सैनिकों का निरीक्षण करते समय ही पूर्व नियोजित योजना के अनुसार जैसे ही वृहद्‌थ शिविर क्षेत्र में पहुँचा पुष्पमित्र के सैनिक उस पर टूट पड़े और सेना के समक्ष ही उसका वध कर दिया। यदि वृहद्‌थ का कोई चर होता जो कि उसको पूर्व नियोजित योजनाओं की सूचना देता तो वृहद्‌थ मारा नहीं जाता। सुरक्षा,शासन और कूटनीति के सम्यक् परिवहन में चर व्यवस्था का अपना विशिष्ट स्थान था।जिस राज्य में सूचना संकलन व्यवस्था नहीं होती तथा जिसका शासक अपने चरों की नीतियों का अनुशीलन नहीं करता वह राज्य ही नहीं शासक भी पतन की ओर अग्रसर होता है। वर्तमान समय में जिस राज्य व्यवस्था में चर नहीं हों तो वह कभी भी सफल नहीं मानी जा सकती है। चर किसी शासन व्यवस्था की विदेश नीति तथा देश की आन्तरिक व वाह्य स्थिति को मजबूत बनाने वाले अंग होते हैं।

चरों का वर्गीकरण—

प्राचीन राजनीतिक साहित्य में चरों के विभिन्न वर्गो का उल्लेख मिलता है। मुख्यत: इनके दो वर्ग थे — संचार तथा संस्थानवत। संस्थानवत वर्ग के चर किसी नियत स्थान पर स्थायी रूप से रहकर गुप्तचरी का कार्य करते थे, जबकि संचार विभिन्न स्थानों में घूमते रहकर अपना कार्य

---

1. डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राजशास्त्र, पृ0 310—311

सम्पादित करते थे। संचार वर्ग के अन्तर्गत सत्री,तीक्ष्ण, रसद तथा भिक्षुकी प्रकार के चर आते हैं, और संस्थानवत वर्ग में कापाटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक तथा तापस को स्थान दिया गया है। इस प्रकार का वर्गीकरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कामन्दक के नीतिसार दोनों ही में मिलता है। अन्तर केवल कुछ मानों में हैं। कामन्दक के वणिक, कृषीवल, लिंगी एवं भिक्षुक, अर्थशास्त्र के वैदेहक, गृहपतिक, उदास्थित तथा तापस प्रतीत होते हैं। अध्यापक को शंकरार्या अर्थशास्त्र का कापाटिक छात्र मानते हैं। दूसरे वर्ग में तीक्ष्ण, सत्री और रसद दोनों ही ग्रन्थों में पाये जाते हैं। कामन्दक की प्रवजिता को अर्थशास्त्र की भिक्षुकी या पारिव्रजिका मान सकते हैं।[1] इनमें से कापाटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, तीक्ष्ण और रसद नीतिवाक्यामृत में भी उल्लिखित हैं। इनके अतिरिक्त सोमदेव ने कितव, किरात, अक्षशालिक,यमपट्टिक, अहितुण्डिक, शौण्डिक, शौभिक, पाटच्चर, विट, विदूषक,पीठमर्दक, नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक, गणक,शाकुनिक, भिषक,ऐन्द्रजालिक, नैमित्तिक, सूद, आरालिक, संवाहक, क्रूर, जड़, मूक, वधिर एवं अन्य प्रकार के चरों का भी उल्लेख किया है। वास्तव में यह विभिन्न छद्मवेशों के परिचायक हैं, जिनको धारण करके चर अपना कार्य किया करते थे।[2] महाभारत में गुप्तचरों के छद्मवेष धारण करने की विधि के अनुसार विभिन्न प्रकार माने हैं जैसे जड़, अन्य, बधिर, तापस, पाखण्ड, रूपधारी गुप्तचर।[3] आदिपर्व में भी तपस्वी, पाखण्ड, वेषधारी आदि रूप धारण करने वाले गुप्तचरों की नियुक्ति का वर्णन मिलता है।[4]

कौटिल्य का मत है कि राज्य में कर्मचारियों तथा प्रजा की शुद्धता जानने के लिये गुप्तचरों की नियुक्ति की जाये और राजा को चाहिये कि धन और मान द्वारा उन गुप्तचरों को सदैव संतुष्ट रखे क्योंकि आन्तरिक सुप्रशासन पर ही राष्ट्रीय शक्ति, जिसके बल पर युद्ध में विजय प्राप्त की जाती है, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अतः राजा का कर्तव्य हैं कि विदेशों की भाँति ही अपने देश में भी पांच प्रकार के गुप्तचरों [5] को नियुक्त करे। कौटिल्य ने शत्रु वेश में भी कार्य करने के लिये अन्य चार

1. *अर्थ0 1/11—12; काम0 13/36, 38; मनु0 7/154 पर मेघातिथि की टीका।*
2. *नीतिवाक्या0 14/9—41*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 69/8*
4. *म0 भा0 आदिपर्व : 139/63*
5. *अर्थ0 1/10*

प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था की है। उनका मत है कि संस्था अथवा संचार श्रेणी कें गुप्तचरों को सुविधानुसार राजा स्वदेश तथा शत्रु देश में सहयोगिक आधार पर प्रयोग कर सकता है।

चर कला एक लम्बी यात्रा तय करती हुई ''अर्थशास्त्र युग'' तक पहुँची थी और फिर कौटिल्य ने चर व्यवस्था के विभिन्न अंगों का जो वर्णन अर्थशास्त्र में किया वह ज्ञान-गरिमा एवं सुरक्षा की दृष्टि से अभूतपूर्व हैं। उन्होंने गुप्तचरों को संस्थाचर तथा संचारचर दो श्रेणियों में विभक्त किया है।[1]

संस्थाचर—

संस्थाचर पाँच प्रकार के होते थे—

1. कापाटिक—

छात्र (विद्यार्थी) के वेश में रहने वाला प्रगल्भ तथा निडर गुप्तचर जो दूसरे लोगों के मन की बात जानने की क्षमता से सम्पन्न हो। ऐसे गुप्तचर को धन और मान देकर उत्साहित करता हुआ मंत्री इस प्रकार कहे ''तुम राजा को और मुझको प्रमाण समझ कर जिसकी कुछ हानि होते जब देखो उसी समय मुझसे आकर कहो।''

2. उदास्थित—

सन्यासी वेष में रहने वाला बुद्धिमान, सदाचारी, सुपरीक्षित, साधु वेष में कार्य करने वाला उदास्थित गुप्तचर कहलाता था। ये गाँव के बाहर मठ बनाकर रहते थे और किसानों में विचरण कर उनकी स्वामिभक्ति का पता लगाते थे। जो अन्य साधु उनके मठों में आकर रहते थे उन्हें भोजन वस्त्र आदि उदास्थितों के द्वारा दिया जाता था और राजा उदास्थित को सम्पूर्ण व्यय की राशि देता था।

3. गृहपतिक—

इस श्रेणी में गुप्तचर गृहस्थ किसान होते थे जो वृत्तिहीन होने के कारण राजा से गुप्तरूप से जीविका ग्रहण करते थे परन्तु इसके लिये वह आवश्यक था कि सम्बन्धित व्यक्ति मेधावी एवं उत्तम चरित्र वाला हो।

4. वैदेहक—

निर्धन व्यापारी के वेश में रहने वाला पवित्र, बुद्धिमान एवं चतुर गुप्तचर वैदेहक कहलाता था। यह व्यापारिक क्षेत्रों में रहकर उदास्थित गुप्तचर की भाँति कार्य करता था और व्यापारियों को

---

1. *अर्थ0 1/10—11*

राजा के अनुकूल बनाता था। उदास्थित गुप्तचर की भाँति वैदेहक भी शासन की ओर से आवश्यकतानुसार धन प्राप्त कर सकता था।

5. तापस—

मुण्ड अथवा जटाधारी साधु के वेश में अपनी जीविका के लिये राजा का काम करने के उद्देश्य से तपस्या करने का ढ़ोंग रचाने वाला तपस्वी तापस श्रेणी का गुप्तचर कहलाता था।

कापाटिक, उदास्थित, वैदेहक, गृहपतिक तथा तापस गुप्तचरों को संस्थाचर इसलिये कहा जाता है क्योंकि वे एक स्थान पर स्थायी रूप से रहकर अपना कार्य करते थे। कौटिल्य ने संस्थाचरों के सम्बन्ध में कहा है कि उन्हें राजा द्वारा पुरस्कार एवं सम्मान मिलना चाहिये तथा उनके द्वारा राजा को अपने भृत्यों के चरित्र की पवित्रता की जाँच करनी चाहिये । कौटिल्य का कहना है कि उदास्थित नामक गुप्तचर को राजा द्वारा दी गई भूमि पर कृषिकर्म, पशुपालन एवं व्यापार करते रहना चाहिये और उसे राज्य की ओर से पर्याप्त धन एवं चेले आदि दिये जाने चाहिये जिससे कि वह सभी (बनावटी) साधुओं को भोजन , वस्त्र एवं आवास दे सके और उन्हें विशिष्ट अपराधों एवं समाचारों की टोह में भेज सके। तापस नामक गुप्तचर को राजधानी के पास ही रहना चाहिये। उनके पास बहुत से चेले रहने चाहिये । उसे यह प्रसिद्ध कर देना चाहिये कि वह मास में केवल एक बार खाता है या दो एक मुट्ठी साग-भाजी या घास खाता है। उसके चेलों को यह घोषित कर देना चाहिये कि उसके गुरू महोदय की शक्तियाँ अलौकिक हैं और वे लाभ तथा हानि आदि के विषय में भविष्यवाणी कर सकते हैं।

संचार चर—

उपर्युक्त पांच प्रकार के गुप्तचरों के अतिरिक्त कौटिल्य ने चार अन्य प्रकार के गुप्तचरों को भी उपयोगी माना है और उन्हें संचार चर कहा है। संचारचर, विशेषकर सत्रीचर के रूप में केवल उन्हीं व्यक्तियों को भर्ती किया जाता था जो राजपरिवार से सम्बन्धित न होते हुये भी राजा के द्वारा पाले जाते थे और जिन्हें अनाथ बेसहारा होने के कारण भरण-पोषण के लिये राज्य से वृत्ति मिलती थी।

1. सत्री—

एक साथ अध्ययन और प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले वे अनाथ तथा बेसहारा व्यक्ति जो

भरण-पोषण के लिये राज्य से वृत्ति प्राप्त करते थे और जिन्हें लक्षण और अंग विद्या (शारीरांगों में शुभाशुभ चिन्हों का फल बताने वाला शास्त्र), सामुद्रिक विद्या, माया जाल (जादूगरी इन्द्रजाल), जम्भकविद्या (जम्भाई का शुभाशुभा फल बताने वाला शास्त्र), निमित्ति और अन्तर चक्र (शकुन शास्त्र और पक्षियों की बोलियों के शुभाशुभ का शास्त्र), ज्योतिष, व्याकरण, आश्रमधर्म , कामशास्त्र , गायन शास्त्र तथा वादन शास्त्र और नृत्यकला का गहन अध्ययन तथा अभ्यास कराया जाता था। अपनी शिक्षा के कारण उन्हें हर प्रकार के व्यक्ति से साक्षात्कार मात्र से उसके भेदों तथा मनोभावों का ज्ञान प्राप्त हो जाता था। ये लोग ज्योतिषी, नर्तक, गायक, वादक आदि के रूप में कार्य करते थे।

2. तीक्ष्ण–

इस श्रेणी के गुप्तचरों में उन लोगों को भर्ती किया जाता था जो अपने जीवन से अत्यधिक निराश हो चुके होते थे परन्तु जो बहुत बहादुर होते थे तथा कभी धन के लिये तथा कभी अपनी प्रसन्नता के लिये हाथी,शेर जैसे पशुओं से लड़ने भिड़ने में अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करते थे। इन लोगों को कार्यदक्षता के लिये हाथी, शेर,सांप आदि से लड़ने का प्रशिक्षण भी प्रदान किया जाता था। ये लोग, नट, मदारी, जादूगर, नाट्य मण्डली आदि के रूप में कार्य करते थे।

3. रसद–

इस श्रेणी के गुप्तचरों में हदयहीन,क्रूर एवं आलसी व्यक्तियों को भर्ती किया जाता था जिन्हें अपने बन्धु-बान्धवों से भी कोई लगाव नहीं होता था परन्तु जो अधिकाधिक धन की प्राप्ति के लिये बहुरूपिये-सूद (रसोइया), अरालिक (हलवाई), स्नापक (नहलाने वाला), आस्तरक(विछौना बिछाने वाला), कल्पक(नाई), प्रसाधक (कपड़े पहनाने वाले) आदि बनकर काम करते थे।

4. परिव्रजिका अथवा भिक्षुकी–

सन्यासिनी के वेष में गुप्तचरी करने वाली ऐसी चतुर एवं प्रगल्भा स्त्री जिसका अन्त:पुर में मान हो और जो महाभावों एवं मंत्रियों के घरों में प्रवेश पाती रहती हो तथा जो जीविकोपार्जन के लिये उत्सुक हो। यद्यपि कौटिल्य ने परिब्राजिका को भिक्षुकी भी कहा है परन्तु कार्य विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रकार से यह पृथक श्रेणी थी क्योंकि पारिब्रजिका एक समानित ब्राह्मण स्त्री होती थी और अन्त:पुर तथा महाभावों के घरों में प्रवेश पाती थी जबकि भिक्षुकी भिक्षावृत्ति को

अपनाकर बड़े तथा गरीब सभी घरों में जाती थी। मुण्ड बौद्ध भिक्षुकी वह होती थी जिसके सिर पर बाल नहीं होते थे और भिक्षावृत्ति से गुप्तचरी करती थी जबकि वृषली-दासी वृत्ति से (महाभावों तथा मंत्रियों के घर दासी के रूप में कार्य करके) गुप्तचरी करती थी। कौटिल्य ने इन सबको पारिब्राजिका की श्रेणी में ही रखा है।[1]

मनुस्मृति में भी संस्था गुप्तचरों को पाँच प्रकार का बताया गया है। मनुस्मृति में गुप्तचरों का स्पष्ट वर्गीकरण नहीं दिया हुआ है परन्तु मनुस्मृति के टीकाकार मेघातिथ, गोविन्दराज, कुल्लूक और राघव ने इन पाँचों के वे ही नाम बताये हैं जो कौटिल्य ने दिये हैं। अग्नि पुराण में गुप्तचरों को तापस, वणिक, कृषिवल, लिगी और भिक्षुक नाम दिये हैं। डॉ. हेमचन्द राय चौधरी के मतानुसार लिंगी कापटिक छात्र हैं। शुक्र ने गुप्तचरों को वर्णी, तपस्वी और संन्यासी नाम दिये हैं[2] परन्तु ये कौटिल्य के कापटिक, उदास्थित और तापस के नामान्तर मात्र हैं। कामन्दक ने पंचवर्ग गुप्तचरों में वणिक, कृषिवल, लिंगी, भिक्षुक और अध्यापक को सम्मलित किया है। आचार्य सोमदेव ने चरों के संगठन में बताया है कि चर 34 वर्गों में होते हैं[3]—

1— छात्र 2— कापटिक
3— उदास्थित 4— गृहपतिक
5— वैदेहक 6— तापस
7— किराट 8— यमपट्टिक
9— अहितुण्डिक 10— शौण्डिक
11— सौभिक 12— पाटच्चर
13— विट 14— विदूषक
15— पीठमई 16— नर्तक
17— गायक 18— वादक

---

1. *डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0 312—313*

2. *शुक्र0 1/337*

3. *नीतिवाक्या0 14/8/38*

19— वैतालिक
20— गणक
21— शकुनिक
22— तीक्ष्ण
23— ऐन्द्रजालिक
24— भृषण
25— आरालिक
26— संवाहक
27— नैमित्तिक
28—रसद
29— क्रूर
30— जड़
31— मूक
32— वधिक
33— अंध
34— सूद

चरों की योग्यतायें (अपेक्षित गुण)—

प्राचीनकाल से ही चरों का पद बहुत महत्वपूर्ण होने के कारण इस पद पर सर्वथा योग्य और सुपरीक्षित व्यक्ति की नियुक्ति पर बल दिया गया है। ऋग्वेद में वरूण के चरों को सत्यनिष्ठ, बुद्धिमान तथा अस्तब्ध बताया गया है।[1] रामायण में राम के चर हनुमान को सर्वगुणसम्पन्न तथा कुशल राजनीतिज्ञ कहा गया है।[2] रावण के चरों को भी विश्वातपात्र, शूरवीर तथा निर्भीक बताया गया है। महाभारत में कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति को चर नियुक्ति करना चाहिये जो उत्तम कुल में जन्मा हो, सदा श्रेष्ठ कुल से सम्पर्क रखता हो, सहनशील, कार्यदक्ष, मनस्वी, शूर, कृतज्ञ,सत्यभाषण, रूपवान, राजभक्त, कार्यसाधन में तत्पर, बुद्धिमान, कार्यकुशल, राष्ट्रवासी, गुप्तरूप से कार्य करने में चतुर और गुप्त रहने में कुशल हो।[3]

भीष्म के अनुसार जो बुद्धिमान होने पर भी देखने में गूँगें,अन्धे और बहरे से जान पड़ते हों, जो भूख-प्यास और परिश्रम सहने की शक्ति रखतें हों, जिनकी सम्यक् परीक्षा ली जा चुकी हो ऐसी ही व्यक्तियों को गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यो में नियुक्त करना चाहिये। स्वामिनिष्ठा-रहित व्यक्तियों की इस पद पर नियुक्ति कदापि नहीं करनी चाहिये।[4] सभी प्रकार से भलीभाँति जाँच

---

1. *ऋ0 6/67/5, 7/67/3 तथा 8/87/3*
2. *रामा0 युद्धकाण्ड : 113/27—28*
3. *म0 भा0 विराटपर्व : 26/8, 99; आश्रमवासिकपर्व : 5/15*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : 96/8 एवं 70/5*

परखकर अपने शत्रु के राज्य में ऐसे गुप्तचरों को नियुक्ति करना चाहिये जो पाखण्ड-वेषधारी अथवा तपस्वी आदि हों अर्थात जो भेष बदलने में अत्यन्त चतुर हों।[1] अन्यत्र भी कहा गया है कि जिनकी किसी अवसर पर परीक्षा कर ली गयी हो और जो अपने ही राज्य के अन्दर निवास करने वाले हों, ऐसे अनेक जासूसों को भेजकर उनके द्वारा शत्रुओं का गुप्तभेद लेते रहना चाहिये और प्रयत्नपूर्वक ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिससे शत्रु राजा उनका भेद न जान सके।[2]

राजा के लिये कार्यसिद्धि के जो साधन हैं, उनमें एक गुप्तचर भी है। इसीलिये राजा को उचित है कि वह देश और दुर्ग में अपने शत्रु और मित्रों के सैनिकों की स्थिति, वृद्धि और क्षय का गुप्तचरों द्वारा पता लगाता रहे। वह शत्रु की प्रबलता और दुर्बलता को प्रयत्नपूर्वक जानने का प्रयत्न करता रहे।[3] स्त्री,मूर्ख,बालक, लोभी और नीच पुरूषों के साथ तथा जिनमें उन्माद के लक्षण दिखाई दें, उनके साथ राजा न कभी गुप्तमंत्रणा करे और न ही ऐसे व्यक्ति को गुप्तचर ही बनाये। विद्वान पुरूषों के साथ ही गुप्त परामर्श करना चाहिये। जो शक्तिशाली हों उन्हीं से कार्य कराना चाहिये। मूर्खों को तो सभी कार्य से पृथक रखना चाहिये।[4]

शुक्र ने गुप्तचर के शोधन (यह जांच करना कि गुप्तचर वास्तव में कर्तव्यनिष्ठ है) की बात पर विशेष महत्व दिया है और कहा है कि गुप्तचर के शोधन के बिना राजा को वास्तविकता का ज्ञान तथा अभिलाषा की प्राप्ति नहीं होती है और यही कारण है कि शुक्र ने जहाँ यह मत व्यक्त किया है कि जो राजा असत्यवादी गुप्तचर को दण्डित नहीं करता है वह म्लेच्छ है, वहाँ यह भी कहा है कि कर्त्तव्यपरायण गुप्तचर की सभी प्रकार के शासनाधिकारियों से रक्षा करना राजा का उत्तरदायित्व है।[5]

कामन्दक के अनुसार गुप्तचर में इतनी योग्यता होनी चाहिये कि वह लोगों के मन की बात जाने ले, उसकी स्मृति शक्तिशाली हो, मधुरभाषी हो, शीघ्रगामी हो, विपत्तियों को सहने तथा

---

1. *म0 भा0 आदिपर्व : अ0 139, श्लोक 61 एवं 63*
2. *म0 भा0 आश्रिमवासिकपर्व : अ0 5, श्लोक 15*
3. *म0 भा0 वनपर्व : अ0 150, श्लोक 40*
4. *म0 भा0 वनपर्व : अ0 150, श्लोक 41*
5. *शुक्र0 अ0 1, श्लोक 338—339*

कठिन परिश्रम करने की क्षमता हो और प्रत्युत्पन्नमति वाला हो।[1] कौटिल्य ने गुप्तचरों की योग्यताओं का निर्धारण उनकी श्रेणियों के अनुसार किया है और उन्हें कर्त्तव्यपरायण तथा राष्ट्रनिष्ठ रखने के लिये गुप्तचर पर गुप्तचर लगाने की व्यवस्था भी प्रतिपादित की है। इसीलिये महाभारत में राजा को शिक्षा दी गयी कि अविश्वासी पर राजा कभी विश्वास न करे विश्वासपात्र पर भी राजा अधिक विश्वास न करे, क्योंकि अधिक विश्वास से भय उत्पन्न होता है। अत: बिना बूझे किसी पर भी विश्वास नहीं करे।[2]

शुक्र भी गुप्तचर पर गुप्तचर लगाने के पक्ष में थे क्योंकि उनका मत है कि असत्यवादी गुप्तचर को दण्डित करना राजा का कर्तव्य है। जैन साहित्य में सुरक्षा के लिये चरों की व्यवस्था का उल्लेख है तथा कहा गया है कि कभी-कभी चर एक दूसरे की निगरानी भी करते थे।[3]

गुप्तचर संस्था का संगठन—

महाभारत में राजा की उपमा हजार नेत्रों वाले 'इन्द्र' से की गयी है[4] और राजा को उपदेश दिया गया है कि जैसे सूर्य उदित होकर प्रतिदिन अपनी किरणों द्वारा सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार राजा को सदा अपनी दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र का निरीक्षण करना चाहिये।[5] जो लोग शत्रु के शत्रु हों, उन सबका राजा को सेवन करना चाहिये । अपने ऊपर शत्रुओं द्वारा जो गुप्तचर नियुक्त किये हों, उनको भी पहचानकर दण्डित करना चाहिये। अपने तथा शत्रु राज्य में ऐसे गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिये, जिनको कोई जानता-पहचानता न हो और जो भेष बदलकर चतुरतापूर्वक कार्य करने में दक्ष हों।[6]

कामन्दक के अनुसार जो राजा अपने चरों के माध्यम से पर-पक्ष की गतिविधि से अनिभिज्ञ

---

1. *काम0 सर्ग 12, श्लोक 25*
2. *नि विश्वसदेविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वरोत् ।*
   विश्वासाद् परामभ्येति नापरीक्ष्य च विश्वसेद् ।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 43
3. *जे0 सी0 जैन : लाईफ इन ऐन्सियण्ट इण्डिया एज डिपिक्टिड इन द जैन कैनन्ज, पृ0 59*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 91, श्लोक 45*
5. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 120, श्लोक 32*
6. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 140, श्लोक 39-40*

रहता है, वह जागते हुये भी सोता रहता है और ऐसी नींद से वह फिर कभी नहीं जागता है।[1] शत्रु की गतिविधि पर पूर्णरूपेण दृष्टि रखने के उद्देश्य से राजा देश-विदेश में सर्वत्र गुप्तचरों का सुदृढ़ जाल बिछाये रखता था। राजा अपने गुप्तचरों का संगठन इस प्रकार करता था ताकि कोई भी गुप्त भेद उससे छिपा न रह सके। राजा द्वारा नियुक्त गुप्तचरों के अतिरिक्त अधिकारी वर्ग भी अपनी सहायतार्थ और ठीक-ठीक स्थिति से अवगत रहने के लिये नगरों और प्रदेशों में अपने विश्वसनीय गुप्तचरों की नियुक्ति करते थे।[2] इन अधिकारियों से प्राप्त हुई सूचनाओं को राजा अपने निजी गुप्तचरों द्वारा मिली सूचनाओं से मिलाकर इनकी सत्यता की परीक्षा करके उचित कार्यवाही करता था।

कौटिल्य का मत है कि राजा केवल एक गुप्तचर द्वारा दी गयी सूचना पर कभी विश्वास न करे। कम से कम तीन गुप्तचरों द्वारा कथन की पुष्टि होने पर ही वह उस सूचना पर विश्वास करे।[3] महाभारत में भी इस कथन का समर्थन मिलता है जहाँ कहा गया है कि राजा अपनी तथा शत्रुओं की प्रकृतियों की जांच-पड़ताल तीन-तीन गुप्तचरों द्वारा करता रहे।[4] राजा के लिये ऐसा करना इसीलिये आवश्यक है कि राजा को ठीक-ठीक स्थिति का उचित समय पर पता लगता रहे और कभी भी धोखा खाने की सम्भावना न रहे।

गुप्तचरों का इस प्रकार संगठन करने से राजा को गुप्तचरों की ईमानदारी,सच्चाई और कर्त्तव्यपराणयता का पता लग जाता है और वह सत्य सूचनाओं से अवगत होता है। अपने गुप्तचरों का लोभवश शत्रुपक्ष में मिलने और उनके द्वारा राज्य की गोपनीय वार्ता से शत्रुपक्ष को अवगत कराकर राज्य का अहित करने की सम्भावना का ही अन्त हो जाता है।

चरों के कार्य—

यह निर्विवाद है कि गुप्तचर का कार्य अत्यधिक उत्तरदायित्वपूर्ण होता है, जो केवल

---

1. *स्वपक्षे परपक्षे आ यो न वेद चिकीर्षितम् ।*
   जाग्रत्स्वरिषु सुप्तोडसौ न भूयः प्रतिबुध्यते ।। *काम0 सर्ग 13, श्लोक 39*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 87, श्लोक 12—13*
3. *अर्थ0 1/11*
4. *म0 भ0 सभापर्व : अ0 5, श्लोक 38*

कर्त्तव्यपरायण, कार्यकुशल, देशभक्त और विश्वसनीय व्यक्ति अपने प्राणों का मोहत्याग कर ही निभा सकता है। गुप्तचर के तीन मुख्य कार्य माने गये हैं– आन्तरिक गुप्तचरी, बाह्य गुप्तचरी और प्रतिगुप्तचरी। चरों के इन तीन कार्यो के साथ-साथ दो अन्य कार्यो – राजा का यश-अपयश आदि का पता लगाना और युद्ध के समय सेना का पथ-प्रदर्शन करना एवं युद्ध सम्बन्धी गोपनीय बातों का पता लगाना- का भी वर्णन मिलता है।

पर-राष्ट्र में नियुक्त चरों के कार्य विविध प्रकार के थे। वे उस देश की सामरिक शक्ति, आर्थिक साधन, राजनीतिक सम्बन्धों का पता लगाते ही थे, साथ ही शासन के प्रति प्रजा एवं अधिकारी वर्ग की निष्ठा तथा नित्यप्रति होने वाली घटनाओं का भी ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते थे-विशेषत: ऐसी घटनाओं का जिनका प्रभाव उनके अपने राज्य पर पड़ सकता था। इसके अतिरिक्त वे स्वदेश के पक्ष में और स्थानीय शासन के विरूद्ध गूढ़ प्रचार भी करते थे। उनका मुख्य उद्देश्य यह होता था कि उस देश के शासक अपने घरेलू मामलों में इतना उलझे रहें कि वे चरों के देश के प्रति शत्रुतापूर्ण कठोर नीति क्रियान्वित करने में समर्थ न हों।

चर का कार्य न केवल शत्रुपक्ष की गोपनीय बातों की जानकारी प्राप्त करना था वरन् उसके प्रभावशाली मंत्रियों आदि को फोड़कर अपनी ओर मिलाने का प्रयास करके शत्रुपक्ष को दुर्बल बना देना भी था। शत्रु राज्य के अन्तर्गत नियुक्त चर वहाँ की प्रजा में स्थानीय राजा तथा उसके अधिकारियों-शून्यपाल, समाहर्ता, अमात्यादि-के प्रति विद्रोही भावना उत्पन्न कराते थे। साथ ही ज्योतिषी और भविष्यवक्ता के रूप में मिथ्या अफवाहें फैलाकर प्रजा को भयत्रस्त एवं निरूत्साहित करते थे। देव-स्थानों में आग लगाकर तथा ऐसे अन्य अमंगल सूचक दृश्य दिखाकर प्रजा के मनोबल को तोड़ते थे। साधारण प्रजा वर्ग को ही नहीं, राज्य के प्रमुख अधिकारी, राजकुमार एवं शत्रु के बन्धु-बान्धवों को उपजापित कर उसके विरूद्ध करते थे। मिथ्या प्रचार करके वह जनता को राजकीय अधिकारियों के विरूद्ध करते थे। इतना ही नहीं शत्रु राजा के पुत्र बन्धु-बान्धव तथा आटविकों को सीमान्त प्रदेशों पर आक्रमण करने के लिये भी प्रोत्साहित करते थे। चर बड़े ही गोपनीय ढंग से यह कार्य करते थे ताकि शत्रुराज्य इससे सर्वथा अनभिज्ञ ही रहे।

युद्ध छिड़ जाने पर शत्रु राष्ट्र में उनका उत्तरदायत्वि और भी गुरूतर हो जाता था। उस समय वे केवल शत्रु पक्ष के समाचार ही अपने राष्ट्र को नहीं पहुँचाते थे वरन् शत्रु पक्ष को अनेक

प्रकार से निर्बल बनाने की भी चेष्टा करते थे। शत्रु राजा और उसके मित्र राजाओं में भेद उत्पन्न कराना, शत्रु की प्रजा को अन्यमनस्क तथा हतोत्साहित करना तथा प्रजा, मन्त्री, अमात्य, एवं सैनिकों को राजा से विमुख करना भी उनके कार्य थे। राजनीति या कूटनीति के क्षेत्र में वे शत्रु राजा तथा उसके मित्र एवं मध्यम और उदासीन राजाओं में परस्पर भेद उत्पन्न कराने की चेष्टा करते थे। अन्य राजाओं को शत्रु से विमुख करके वे उसके पक्ष को निर्बल बना देते थे और अन्य राजाओं की सहायता से उसे वंचित कर देते थे।

युद्ध आरम्भ हो जाने पर शत्रु राज्य में नियुक्त चर राजनयिक कार्यों के अतिरिक्त उसके शिविर और दुर्ग में प्रविष्ट होकर[1] अनेक विध्वंसक कार्य भी करते थे[2] जिनका अर्थशास्त्र में सविस्तार वर्णन इस प्रकार किया है[3]—

1. विषाक्त, मदिरा, मांस भोज्यपदार्थ तथा जलवितरित कर सैनिकों का एवं घास दाना आदि देकर पशुओं का वध करना। यह कार्य विविध प्रकार के वैदिहक तथा कर्मकर वेशधारी चर सम्पन्न करते थे।

2. रात्रि के समय शिविर में पशुओं के झुन्ड छोड़कर सैनिकों की नींद भंग करना, दुष्ट व हिंसक पशु तथा जहरीले सर्प पहुँचाकर उनको आतंकित और व्याकुल करना, यह कार्य गैणिक, लुब्धक तथा संपेरा बने हुये चर करते थे।

3. अग्निजीवी चरों द्वारा शिविर में अग्नि लगाना।

4. शत्रु के आसार तथा प्रसार को नष्ट करना तथा उसका मार्ग अवरूद्ध करना।

5. रात के समय सोते हुये सैनिकों पर आघात करना।

6. दुर्ग में मार्ग से जाती तथा लौटती शत्रु सेना पर आक्रमण करना।

7. शत्रु सेना को गलत मार्ग पर डाल देना तथा मार्ग में पड़ने वाले नदी तालाब आदि के बाँध तोड़ देना।

8. सुन्दर युवती स्त्रियों को शिविर में पहुँचाकर सैन्य अधिकारियों में काम —वासना तथा

---

1. अर्थ0 12/1/21, 12/4/3; म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 194, श्लोक 2—3

2. अर्थ0 अधि0 12—13

3. अर्थ0 अधि0 12-13

प्रतिद्वंदता उत्पन्न करना।

9. शत्रु के सैनिक अधिकारी तथा अवसर पाकर स्वयं राजा का वध करना। अर्थशास्त्र में उन अवसरों तथा स्थानों की भी समुचित विवेचना की गई है जब राजा का वध आसानी से किया जा सकता है।

10. शत्रु देश में वे अपनी सेना को मार्ग दिखाने का भी कार्य करते थे।

11. शत्रु दुर्ग में स्थित गूढ़ पुरूष विष मिश्रित खाद्य वस्तु वितरित करते थे तथा शस्त्रगार भण्डारगृह में लाग लगाते थे।

12. वे कपट और छल द्वारा शत्रु को दुर्ग से बाहर निकालने का प्रयास करते थे तथा दुर्ग में चर
v U;i kyj] n{kZky rFkk v fjfe= d s fSud kk v f/kd kfj; ksd s i e sd k ; Zd j r sFk s[1]

इसके अतिरिक्त युद्ध में वे अपनी सेना को मार्ग दिखाने का कार्य भी करते थे।[2] शत्रु-दुर्ग स्थित गूढ़रूष विष-मिश्रित खाद्य वस्तु वितरित करते थे तथा शास्त्रागार एंव भण्डारगृह में आग लगाते थे।

प्राचीन आचार्यों ने उन साधनों का भी उल्लेख किया है जिनका प्रयोग चर करते थे। उनमें मुख्य थे—शस्त्र, अग्नि व विष। इनके अतिरिक्त वे योगाग्नि, योगधूम, योगवामन तथा औपाषधिक प्रयोग भी करते थे। गूढ़ लेख इङ्गित-आकार आदि के भी वे ज्ञाता होते थे। कपट-पत्र, मिथ्या आरोप तथा अभियोग ही नहीं, आग लगाने, लूटमार करने तथा निरीह प्राणियों की हत्या करने में उन्हें संकोच नहीं होता था। अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये वे रूपवती स्त्रियों का उपयोग करते थे। जिस प्रकार भी संभव हो अपना कार्य सम्पादित करना ही उनका ध्येय था। वस्तुत: वर्तमान में भी चर अपना कार्य इसी प्रकार करते हैं।

गूढ़ पुरूष जिस राज्य में नियुक्त किये जाते थे वे उसकी राजधानी के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण नगर, ग्राम, तीर्थ, आश्रम तथा सीमास्थल पर भी अपना कार्य-केन्द्र स्थापित कर लेते थे। कौटिल्य, कामन्दक, कुल्लूक, सोमदेव आदि के विवरण से ज्ञात होता है कि वे अनेक प्रकार के छद्मवेष धारण करके अपने कार्य सम्पादित करते थे। साधारणतया वे सन्यासी, व्यापारी और

---

1. *अर्थ0 अधि0 13, अ0 2 एवं 4*

2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 100, श्लोक 13—14*

विभिन्न प्रकार के कर्मकारों के वेष धारण करते थे। उनका कार्य क्षेत्र उनके वेष के अनुरूप ही चुना जाता था। व्यापारी (वैदेहक) बनकर दुर्ग और नगरों में, संन्यासी बनकर वन तथा आश्रमों में, कृषक (गृहपतिक) बनकर ग्रामों में तथा गोरक्षक या तापस वेष धारण कर सीमान्त प्रदेश में निवास करते थे।[1] राजप्रासाद में नियुक्त चर क्षत्र, व्यंजन, घट, जल, ताम्बूल, पुष्प, सुगन्ध आदि के धारण करने वाले परिचारकों के रूप कार्य करते थे। यदा कदा वे कुब्ज, वामन, किरात तथा मूक, वधिर, अन्ध एवं पागलों का रूप भी धारण करते थे।[2] विद्वानों के रूप में पण्डितों की सभा में भी उपस्थित रहते थे। नैमित्तिक और मौहुर्त्तिक बनकर स्वपक्ष के अनुकूल और परपक्ष के प्रतिकूल भविष्यवाणी करते थे। व्यापारी, शिकारी और सपेरा वेषधरी चर शत्रु के शिविर में प्रवेश कर जाते थे।[3] सारांशत: वे ऐसा वेष धारण करते जो उन्हें ऐसे व्यक्तियों के समीप पहुँचा देता था जिन पर उन्हें जासूसी करना होता था।

कामन्दक राजा को विदेशी चरों से सावधान रहने का आदेश देते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार कोई शासक अपने चरों के माध्यम से शत्रु को पीड़ित कर सकता है, उसी प्रकार शत्रु भी अपने चरों द्वारा उसे पीड़ित करा सकता है।[4] अत: सभी आचार्यों ने राजाओं को यह आदेश दिया है कि वे पर-पक्ष के गुप्तचरों का विशेषत: उभयवेतनचरों का बड़ी सतर्कता से पता लगाते रहें।[5]

गुप्तलिपि—

गुप्तचर व्यवस्था की सफलता का मूल आधार थी गोपनीयता।[6] वे स्वयं तो परपक्ष की गतिविधि का ज्ञान प्राप्त करते रहें परन्तु परपक्ष के चर उनकी गतिविधि का ज्ञान न प्राप्त कर सकें।[7]

---

1. अर्थ0 1/12/24—25, 12/4/1; मनु0 7/154 पर भाष्य।
   म0 भा0, शान्तिपर्व : 69/10—12 एवं 140/40—41; विराटपर्व : 26/8—11
2. काम0 13/44—48; म0 भा0 शान्तिपर्व : 69/8—12 तथा 138—40
3. म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 195, श्लोक 19
4. काम0 सर्ग 13, श्लोक 51
5. अर्थ0 1/12/21, 26; म0भा0 शान्तिपर्व : 69/11—12 एवं 140/39
6. म0भा0 वनपर्व : अ0 150, श्लोक 43
7. म0 भा0 आश्रमवासिकपर्व : 5/15; शान्तिपर्व : 57/38

इसी उद्देश्य से प्राचीन राजनीति प्रणेताओं ने चरों की नियुक्ति, उनको निर्देशन तथा उनकी रिपोर्ट आदि सुनना स्वयं राजा के कर्तव्य माने हैं और इस कार्य के लिये उसकी दिनचर्या में रात्रि का समय निर्धारित किया है।[1] गूढ़पुरूष अपना कार्य द्रुतगति से तथा नितान्त गुप्तरीति से स्वयं अलक्षित रहकर सम्पन्न करते थे।[2]

गुप्त बातों का रहस्य न खुलने पाये, इसलिये चर-विभाग में संकेतिक लिपि का प्रयोग किया जाता था। चर-विभाग के अन्तर्गत जो समाचार एक चर दूसरे पर अथवा चर संस्था के अधिकारियों के पास लिख कर भेजते थे, उसके लिये एक विशेष प्रकार की लिपि का आश्रय लेते थे। इस लिपि को चर विभाग के अतिरिक्त अन्य लोग समझ नहीं सकते थे।[3] अपनी वास्तविकता प्रमाणित करने के लिये वे कोड वर्ड (संज्ञार्थ वचन) का भी प्रयोग करते थे।[4] इस सिद्धान्त की पुष्टि कौटिल्य के इन शब्दों द्वारा हो जाती है–"संस्था के (अन्तेवासी रूप में चर) कर्मचारी अपनी सांकेतिक लिपि में लिख कर चर अथवा संचार नाम के चरों के पास पहुँचा दिया करें।"[5]

चरों के साथ व्यवहार–

पकड़े जाने की सम्भावना से बचने के लिये गुप्तचर अपने सभी कार्य गुप्तरूप से छिपकर, भेष बदलकर अर्थात् छद्मवेष धारण करके पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार शत्रु के गुप्तचर भी छद्मरूप से चुपके-चुपके छिपकर अन्य देशों में अपना कार्य करते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुये प्राचीन आचार्यों ने राजा को आदेश दिया है कि वह गुप्तचरों के छिपने के सभी स्थानों में ऐसी युक्ति से अपने गुप्तचर नियुक्त करे, जिससे वे आपस में भी एक-दूसरे को न जान सकें।[6]

शासक को जो सूचना अपने चरों से मिलती थी उसकी सत्यता की जांच करके उसी के

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 86, श्लोक 20*
2. *काम0 सर्ग 13, श्लोक 29–30*
3. *काम0 13/49, 38; अर्थ0 1/12/13–14; म0 भा0 शान्तिपर्व : 69/10*
4. *म0 भा0 आदिपर्व : 148/6*
5. *अर्थ0 अधि0 1 अ0 12 वार्ता 13*
6. *अर्थ0 1/12/15–16, मत्स्य पुराण : 25/97*

अनुरूप कार्य किया जाता था। कामन्दक का स्पष्ट आदेश है कि राजा को चरों से प्राप्त सूचना पर उसी प्रकार ध्यान देना चाहिये जैसे यज्ञ में ऋत्विज सूत्रों पर।[1] कौटिल्य ने भी चरों की रिपोर्ट की सत्यता की परख करने पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार तीन गूढ़पुरूष, जो एक-दूसरे को न जानते हों, एक ही प्रकार की रिपोर्ट प्रस्तुत करें, तभी उसे यथार्थ मानना चाहिये। बारम्बार परस्पर विरोधी रिपोर्ट देने पर उनको उपांशु दण्ड दिया जाना चाहिये।[2] वैसे तो चर बड़ी सावधानी से अपना कार्य करते थे, परन्तु यदा-कदा वे प्रकाश में भी आ जाते थे। तब उन्हें बन्दी बना लिया जाता था और उनके साथ युद्धबन्दियों जैसा व्यवहार किया जाता था। साधारण अपराध के लिये शारीरिक दण्ड और गुरूतर अपराध के लिये वध दण्ड का विधान था। इसके विपरीत यदि वह सफलतापूर्वक अपना कार्य करके स्वदेश वापस आ जाता था तब उसे पुरस्कृत किया जाता था।

स्पष्ट है कि दूत एवं चर व्यवस्था प्रत्येक काल में विद्यमान रही है। विश्व में स्थायी शान्ति कभी भी सम्भव नहीं हो सकती है। भिन्न-भिन्न समय में होने वाले शासक अपनी राज्य व्यवस्था को बनाये रखने के लिये दूत एवं चरों की नियुक्ति करते आ रहे हैं। प्राचीन भारतीय राजशस्त्र-व्यवस्था में दूत तथा चर एक ठोस एवं महत्वपूर्ण संस्था थी। इसका संगठन तथा गुप्त रहस्य और संकेत-प्रणाली अत्यन्त जटिल होते हुये भी इतनी प्रभावशाली एवं व्यवस्थित थी कि आज भी वह आश्वर्यजनक है।

भारत के प्राचीन साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र दोनों ही में जासूसों का जाल सा बिछा रहता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चर व्यवस्था का जैसा साङ्गोपाङ्ग विवरण मिलता है वह आज की जासूसी व्यवस्था से किसी प्रकार हीन नहीं है। विदेशों से सूचना एकत्र करना एवं राज्य के विरोधियों को गुप्त तन्त्र से त्रस्त करना तो चरों का कार्य है ही, परन्तु कौटिल्य ने उन आधुनिक विधाओं का भी सफलता से प्रयोग किया जो आज विद्यमान हैं।

चर व्यवस्था का गहन चिन्तन भारतीय विद्वानों के लिये आकर्षण का विषय रहा है। इसका सर्वाधिक विकास वैदिक काल के उपरान्त हुआ। मौर्यकाल में आये हुये यूनानी लेखकों के

---

1. *चरेण चरेण प्रचरेत् प्राज्ञः सूत्रेणर्त्विगिवाध्वरे ।*

   दूत सन्धानमायत्तं चरे चर्या प्रतिष्ठिता ।।   काम0 सर्ग 13, श्लोक 34

2. *अर्थ0 1/12/17–18; रामा0 अयोध्याकाण्ड : 100/36; म0 भा0 सभापर्व : 5/38*

विवरण से ज्ञात होता है कि उस युग में जासूसों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। मैगस्थनीज ने तत्कालीन भारतीय समाज के जिन सात वर्गों का उल्लेख किया है उनमें से एक को वह 'ओवरसियर' या 'इन्सपेक्टर' कहता है। इनका साम्य अर्थशास्त्र के गूढ़पुरूषों से किया जाता है। चरों के एक सामाजिक वर्ग मानने से स्पष्ट होता है कि उनकी संख्या बहुत अधिक थी। एरियन के अनुसार उनकी रिपोर्ट सदैव सत्य होती थी। एक अन्य लेखक स्टैवो के वृत्तान्त से इस बात की पुष्टि होती है कि मौर्यकाल में स्त्रियाँ (गणिका) भी चर कार्य करती थीं।[1] मौर्य साम्राज्य के पतनोपरांत भारत में केन्द्रीय सत्ता का अभाव हो गया था। ऐसी स्थिति में भारत को कई बार विदेशी आक्रमणकारियों का शिकार बनना पड़ा था। यद्यपि मौर्य के पतन के बाद पुष्पमित्र, शुंग, खरदेल तथा सात वाहनों ने अपने-अपने सम्राज्य स्थापित किये, किन्तु इनकी दूत एवं चर प्रक्रिया अव्यवस्थित होने के कारण इनका अधिपत्य सम्पूर्ण भारत पर नहीं हो पाया। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय शासको ने चर व्यवस्था पर समुचित ध्यान देना छोड़ दिया था। इसी कारण से जब विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण देश पर प्रारम्भ हुये तब भारतीय शासकों को उनकी गतिविधि का तभी पता चलता था जब शत्रु उनके द्वार पर पहुँच जाता था।

आज विश्व का प्रत्येक देश अपने राज्य की शाासन व्यवस्था को सुदृढ़ एवं प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करता है। वह शासन के सभी संसाधनों की पूर्ति हेतु विभिन्न देशों में अपने दूत एवं चरों को नियुक्त करता है। चर क्रिया एक ऐसी कला का बुद्धि-कौशल और चातुर्यपूर्ण अनवरत युद्ध है, जिसमें विश्व के सभी देश भाग लेते हैं। सभी देश एक दूसरे के विरूद्ध दूत एवं चरों का प्रयोग करते हैं। इनमें भेद केवल इतना है कि इनके क्रिया-कलापों की शैली पृथक्-पृथक् है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से वैज्ञानिक, तकनीकी एवं इलेक्ट्रोनिक उपकरणों के अविरल विकास ने इनको एक नूतन गति दी है। मानव सभयता के निरन्तर उत्कर्ष के बावजूद भी दूत एवं चर संस्था की मूल विचारधारा और भूमिका सभी कालों में समान ही रही है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में संचार के विभिन्न साधन उपलब्ध हैं परन्तु प्राचीन काल से आज तक दूत एवं चरों का संचार व्यवस्था के लिये जो महत्व रहा है वह आज भी अग्रणी है।

---

1. *एल. स्टर्न बैक : जुरिडिकल स्टडीज इन ऐन्सियण्ट इण्डियन लॉ0, पृ0 259–262*

   वी0 ए0 स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ0 134

अध्याय–षष्ट्म

।। राज्य की प्रतिरक्षा एवं युद्ध ।।

अध्याय–षष्ट्म

।। राज्य की प्रतिरक्षा एवं युद्ध ।।

सेना की आवश्यकता–

ऋग्वैदिक भारतवर्ष में ही वीरता, नये देश की विजय की आकांक्षा, दासों एवं आर्यों तथा आर्यों के पारस्परिक युद्धों ने राज्यरक्षा और साम्राज्यवादी लिप्सा को शान्त करने के लिये सुसंगठित सैन्य–व्यवस्था का महत्व सिद्ध कर दिया था।[1] उत्तर वैदिक युग में भी यह ऋग्वैदिक परम्परा मान्य रही। इन ऋग्वैदिक परम्पराओं ने राजनीतिक चिन्तन के विकास के फलस्वरूप धीरे–धीरे सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया।

सेना राज्य के बाह्य शत्रुओं से उसकी रक्षा करती है। आवश्यकता पड़ने पर वह राज्य में विद्रोहियों का दमन कर आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना भी करती है। आदि काल से वर्तमान युग तक सेना की आवश्यकता लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने स्वीकार की है। राज्य के अस्तित्व के लिये सेना अनिवार्य है, इस तथ्य को प्राचीन भारत में मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया गया है। प्राचीन भारत में राज्य का सप्तांग स्वरूप माना गया है। राज्य के सात अंगों में सेना अथवा सैन्य बल को महत्वपूर्ण स्थान देकर एक प्रधान अंग स्वीकार किया गया है। इस विचारधारा के अनुसार सेना अथवा सैन्य बल रहित राज्य अंगहीन पुरुष के समान आत्मरक्षा में असमर्थ बतलाया गया है। इस प्रकार सेना अथवा सैन्य बल का राज्य की सुरक्षा एवं संचालन में प्रमुख स्थान है। शुक्रनीति में 6 प्रकार के बल बताये गये हैं–

1. शारीरिक, 2. आत्मिक, 3. सैन्यबल, 4. अस्त्रबल, 5. बुद्धिबल, 6. आयबल।[2]

---

1. डॉ0 पी. एल. भार्गव : इण्डिया इन दि वैदिक ऐज, पृ0 242–246

2. अंशकितक्षणोयेन कार्यकर्तु बलहि तत् । शुक्र0 अ0 1, श्लोक–32

शीरीरहि बर्ल शर्यिबले सैन्यबलं तथा। चतुर्थ मस्तिक बलं पंचम धवलं स्मृतम्।। शुक्र0 4/868

घष्टमायुबलं। शुक्र0 अ0 4 श्लोक 869

इन छः बलों से युक्त राजा साक्षात् विष्णु के समान पराक्रमी माना गया है।[1] कौटिल्य ने बल को शक्ति नाम से सम्बोधित किया है। वे शक्ति के तीन प्रकार मानते हैं– 1–मंत्र शक्ति, 2–प्रभुशक्ति 3–उत्साह शक्ति। ज्ञान के बल को मंत्र शक्ति, कोष, दण्ड और सैन्य बल को प्रभु शक्ति और विक्रय बल को उत्साह शक्ति माना है। इन तीनों प्रकार की शक्तियों से युक्त राजा श्रेष्ठ माना गया है।[2]

राज्य की प्रतिरक्षा में सैनिक बल का विशेष महत्व है। शुक्रनीति के अनुसार राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना सैनिक शक्ति के आधार पर ही संभव है। राज्य में आन्तिरिक विद्रोहियों एवं विप्लकारियों के दमन हेतु सैनिक शक्ति की नितान्त आवश्यकता है। आचार्य शुक्र का कथन है कि जिस राजा के पास नीति और सैन्य बल होता है, उसके पास लक्ष्मी चारों ओर से दोड़कर आती है। कौटिल्य ने सप्तांग राजा की सेना को एक महत्वपूर्ण अंग माना है[3] उनके दण्ड से तात्पर्य सैन्य बल से ही है। सैन्यबल के द्वारा ही मित्र एवं शत्रु का निग्रह होता है। इससे ही दूसरे की सेना को अपनी ओर मिलाया जा सकता है और अपनी सेना की वृद्धि भी इसी के द्वारा की जाती है। कोष न भी हो तो भूमि अथवा शत्रु की भूमि को ग्रहण कर लेने से सेना का संग्रह किया जा सकता है। वे मित्र बल और सैन्यबल की तुलना करते हुये कहते हैं कि सैन्यबल, मित्रबल से अधिक उपयोगी होता है। सैन्यबल युक्त राजा के मित्र तो उसके मित्र बने ही रहते हैं परन्तु उसके शत्रु भी मित्र बन जाते हैं।[4] इस प्रकार कौटिल्य ने सैन्य बल को अधिक महत्व दिया है।

शुक्र के अनुसार यदि सैन्यबल न हो कोष का नाश अवश्य होगा। उनकी दृष्टि से राजा की आय का प्रधान अंश सैन्य बल के संचय एवं उसके विधिवत पालन करने में व्यय करना

---

1. *एतैरूपेतोविष्णुरेवस: ।।* *शुक्र0 अ0 4 श्लोक 869*
2. *बलं शक्ति: ।।* *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 49*
   शक्तिस्त्रिविधा।। *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 42*
   ज्ञानबले मंत्रशक्ति ।। *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 43*
   कोषदण्डबलं प्रभु शक्ति।। *अर्थ0 अधि0 6 अ0 2 वार्ता 44*
3. *स्वाम्यमारयजनपद दुर्गकोश दण्डमित्राणि प्रकृर्त्य:।। अर्थ0 अधि0 6 अ0 1 वार्ता 1*
4. *दण्डाभावे व ध्रवकोष विनाश:।।* *अर्थ0 अधि0 8 अ0 1 वार्ता 42*
   कोष भावे च शक्य: कुप्पेन भूम्या परभूमि स्वयं ग्रहेण वा दण्डपिण्डपितुम्।
   अर्थ0 अधि0 8 अ0 1 वार्ता 43
   दण्डवता च कोश: ।। *अर्थ0 अधि0 8 अ0 1 वार्ता 44*

चाहिये। वे आय का 1/3 भाग सेना के लिये व्यय करने का आदेश देते हैं।[1]

वर्तमान युग में भी लगभग प्रत्येक राज्य में राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा अंश सेना पर व्यय किया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य की रक्षा के निमित्त सेना अनिवार्य समझी गयी है। आधुनिक युग में भी राज्य की रक्षा का भार प्रधानतः सेना पर ही निर्भर किया गया है। इस समय विश्व में एक भी ऐसा राज्य नहीं है जिसमें सेना को महत्वपूर्ण स्थान न दिया गया हो।

सेना के प्रकार—

प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं ने सेना के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। महाभारत में दण्ड के गुप्त और प्रकाश—दो रूप माने गये हैं। मनु के अनुसार बल 6 प्रकार का होता है।[2] परन्तु इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है कि वह छः बल कौन-कौन से हैं। शुक्र ने सेना के मुख्य दो भाग बताये हैं—[3] (1) स्वगमः, (2) अन्यगमः । पैदल सेना स्वगमः और रथ, अश्व, हाथी आदि वाहनों पर चलने वाली सेना अन्यगमः कहलाती है।[4] फिर उसमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद माने गये हैं—1—दैवी, 2—आसुरी, 3—मानवी। इनमें मानवी से आसुरी, आसुरी से दैवी सेना बलवती मानी गई है।[5]

भीष्म ने दण्ड(सेना) के प्रकाश रूप से आठ प्रकार बताये हैं— रथ सेना, हस्थि सेना, अश्चारोही, नाविक, पैदल सेना, चर, विष्ट (भार वाहक) और उपदेशक।[6]

कौटिल्य ने छः प्रकार का बल बताया है और उसे मूल, भृतक, श्रेणी, मित्र, शत्रु एवं अटविबल के नाम से सम्बोधित किया है।[7]

---

1. *त्रिभिरशैबर्ल धार्य।।* *शुक्र0 अ0 1, श्लोक 314*
2. *षड्विधं च बल स्वकम्।।* *मनु0 अ0 7, श्लोक 185*
3. *स्वागमान्यगमाचेति द्विधा।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 864*
4. *स्वगमाया रचयंगत्रीयान्यगा न्यगमास्मृता।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 865*
   पादात स्वगम वान्यद्रमाश्वगजगंत्रिधा।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 866*
5. *दैव्यासुरीमानवीय पूर्वे बलाधिका।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 865*
6. *रथानागाहयाश्चैव पदाताश्चैव पाण्डव विष्टिर्नाश्चराश्र्चदा देशिकादति चाष्टमम्।।*
   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 59, श्लोक 41
7. *मौलभृतकश्रेणी मिश्राटवीवलाना रामुद्दानकाला:।।* *अर्थ0 अधि0 9, अ0 2, वार्ता 1*

कालिदास ने 'रघुवंश महाकाव्य' में षष्टांग सैन्यबल का वर्णन किया है।[1] दिग्विजय की इच्छा से प्रस्थान करने वाले महाराज रघु के पास छः प्रकार की सेना थी यथा-पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, नौ सेना एवं यातायात के मार्गों को साफ करने वाले तथा पथ प्रदर्शक थे।

मनु ने सेना का जो वर्गीकरण 6 प्रकार का किया है, वह कौटिल्य अथवा भीष्म में से किसके अनुसार है स्पष्ट कहा नहीं जा सकता। किस प्रकार की भूमि पर किस प्रकार की सेना को युद्ध करना चाहिये, इसकी ओर संकेत करते हुये सेना के पांच प्रकार बताये हैं—रथ, अश्व, हस्ति, नाविक और पैदल। सम भूमि में रथ और अश्वों से, पानी के स्थानों में नौकाओं और हाथी द्वारा, वृक्ष—लताओं से घिरी पृथ्वी पर धनुषों से और कंटकादि रहित पृथ्वी पर खड़ग चर्मादि, आयुधों (पैदल सेना) द्वारा युद्ध होना चाहिये।[2]

सेनांग—

कौटिल्य ने सेना के मुख्य चार अंग माने हैं तथा सेना को चतुरंगबल के नाम से सम्बोधित किया है। यह चार अंग—हस्तिबल, अश्वबल, रयबल और पत्यबल (पैदल सेना) हैं।[3] कौटिल्य ने इस चतुरंगणी सेना में हस्ति सेना को विशेष महत्व दिया हैं। उनकी दृष्टि में राजाओं की विजय हाथियों की सेना के आश्रित मानी जाती है।[4] शत्रु सेना, व्यूह, दुर्ग, छावनी (स्कन्धावर) के मर्दन करने में हस्ति सेना कुशल होती है।

हस्ति सेना—

हाथी युद्धस्थल में मनुष्यों के प्राण तुरन्त नष्ट करने में सबल होते हैं।[5] कौटिल्य हाथियों

---

1. *रघुवंश : 4/26*
2. *स्पन्दनाश्वैः समेयुध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा। वृक्षगुल्भावृत्ते चारथैरासेचर्मायुधैः सथले।।*
   मनु0 अ0 7, श्लोक 192
3. *वीर्मणो वा हस्तिनोउश्वा वावर्मिणः कविचनो रथा अवरणिनः पत्तयश्चतुरंग बलस्य प्रतिबलम्।*
   अर्थ0 अधि0 9, अ0 2, वार्ता 52
4. *हस्तिप्रधानो हि विजयो राज्ञाम्।।* *अर्थ0 अधि0 2, अ0 2, वार्ता 14*
5. *परानीकव्यूहदुर्गस्कन्धावर प्रर्मदनाहूयति प्रमाण शरीराः।*
   प्राणहरकर्माणोहस्तिन इति ।। *अर्थ0 अधि0 9, अ0 2, वार्ता 15*

की अधिक सेना रखने के पक्षधर हैं। उनकी दृष्टि में हाथियों की अधिक संख्या देखकर शंत्रु भयभीत हो जाते हैं और वह आक्रमण करने में असफल हो जाते हैं। सिकन्दर ने स्वयं समझा था कि उसके घोड़े पोरस के हाथियों को देखकर विचक जायेगें इसीलिये उसे प्रवंचना का सहारा लेना पड़ा और चोरी से रास्ता बनाना पड़ा था।[1]

अशिक्षित हाथियों को भी सिखाकर शूरवीर बनाया जा सकता है।[2] आचार्यों की दृष्टि में शूर हाथियों से ही युद्ध हो सकता है।[3] थोड़े शक्तिशाली हाथी बहुत से अशक्तिशाली हाथियों को भगा देते हैं। कभी-कभी भागते हुये हाथियों द्वारा अपनी ही सेना का नाश कर दिया जाता है।[4] सर्वविदित है कि पोरस-सिकन्दर युद्ध में पोरस की सेना के बिगड़ कर पीछे भागने वाले हाथियों ने पोरस की सेना को अत्यधिक क्षति पहुँचाई थी।

अश्व सेना—

फ्रैडिक महान् ने कहा था कि संग्राम में विजय प्राप्त करना अश्वारोही सेना की श्रेष्ठता पर निर्भर करता है। प्राचीन भारतीय अश्वसेना के महत्व को समझते थे और इसीलिये उन्होंने सेना में अश्वारोही सेना का विशेष स्थान है।[5] अश्व की समता बाज पक्षी और हिरण से की गयी है। ऋग्वेद के एक सूक्त में इस प्रकार वर्णन उपलब्ध है—हे द्रुतगतिशील अश्व ! तू श्येन पक्षी के पर और हिरण पशु की टांगों को धारण कर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ है। यम ने तुझे लोक के निमित्त दिया था। अश्व को मन की गति के समान गतिमान बताया है। ऋग्वेद के एक स्थल पर अश्व को युद्ध रूपी रोग की औषधि कहा गया है।[6] घुड़सवारों के पास दो भाले रहते थे। धनी अपने घोड़े की लगाम में

---

1. *के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री : नन्दमौर्ययुगीन भारत, पृ0 53*
2. *बहुषुहि कुष्ठेषु विनयकर्मणा शक्यं शौर्यमाधातुम्।।*

   अर्थ0 अधि0 7, अ0 12, वार्ता 15
3. *अर्थ0 अधि07, अ0 12, वार्ता 10*
4. *अत्था : शूरा बहूनशूरान्र्भजन्ति ते भग्ना : स्वसैन्यावधातिनो भवन्तीत्याचार्या:।*

   अर्थ0 अधि0 7, अ0 7, वार्ता 11
5. *अर्थ0 10/4*
6. *ऋ0 1/163/1 एवं 15/96/9*

हाथी दांत के बने कांटों का प्रयोग करते थे।

ऋग्वेद के आधार पर डॉ. पी. सी. चक्रवर्ती का मत है कि अश्वसेना गति का प्रतिनिधित्व करती है, जिस राजा के पास सबल अश्वसेना होती है उसके लिये युद्ध एक खेल मात्र होता है। भाग्य उसका साथ देता है और दूरस्थ शत्रु भी सरलता से उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। अश्वसेना कीर्ति प्राप्त करने की कुंजी है। जिस राजा के पास अश्वबल प्रबल होता है उसकी सीमा पर शत्रु झाँकता भी नहीं है।[1]

पदाति—

सेना में पैदल सैनिक का विशेष महत्व है। वैदिक युग में भी पैदल सैनिकों का विशेष महत्व था। ऋग्वेद में आया है कि पदाति सेना (प्रतना) के बल पर ही इन्द्र ने शत्रुओं को पराजित किया था।[2] शुक्र ने लिखा है कि राज्य की आदर्श सेना में सवारों की संख्या से स्वगमा पैदल सेना की संख्या चार गुनी होनी चाहिये।[3] अग्निपरीक्षा के अनुसार बहुसंख्यक पैदल सेना ही विजय का आधार है।[4] पैदल सैनिकों के पास धनुष होता था जिसकी लम्बाई उस सैनिक की लम्बाई के बराबर ही होती थी। सर संधान के समय वे इसे भूमि पर टेक देते थे। कुछ के पास भाले रहते थे।[5]

पाँचवी शती ई. पू. के उत्तरार्ध में भारतीय पदाति इतनी महत्वपूर्ण हो चुकी थी कि पारसीक शासक क्षयार्ष के पक्ष में भारतीय सेनाएँ ग्रीस में लड़ी थीं। पदाति का वर्णन करते हुए हेरोडोटस का कथन है कि भारतीय सूती वस्त्र पहने बेंत के धनुष एवं बाणों से युक्त थे। बाणों के अग्रभाग में लोहे का फल लगा होता था। गंधार के सैनिक धनुष एवं छोटे भाले लिये हुये थे जो पास के युद्ध के लिये उपयोगी थे जबकि भारतीय दूर से निशाने लगाते थे।[6]

---

1. *डॉ0 पी. सी. चक्रवर्ती : दि आर्ट ऑफ वार इन एन्सिऐण्ट एण्डिया, पृ0 36*
2. *ऋ0 7/20/3*
3. *शुक्र0 4/883*
4. *अग्नि0 124*
5. *एरियन : इंडिका, पृ0 220; स्ट्रावो, पृ0 72-73*
6. *दि ऐज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 42*

रथ सेना—

रथ का सेना में विशेष महत्व है। वेदों में भी इसका वर्णन किया गया है। साधारणतया रथ में बैठकर एक वीर योद्धा युद्ध करता था जिसे रथी कहते थे। रथ के अग्रभाव में चालक का आसन होता था। कुछ विशेष रथ भी होते थे। जिसमें दो से अधिक आसनों का प्रयोजन रहता था। अश्वनीकुमारों के रूप में तीन पुरूषों के आसनों का आयोजन था। मौर्यकाल में रथों में चार घोड़े जुतते थे और रथ में 6 सैनिक होते थे।[1]

कौटिल्य ने रथ सेना का वर्णन करते हुये लिखा है कि रथ सेना अपनी सेना की रक्षा करती थी, शत्रु सेना को आगे बढ़ने से रोकती थी, शत्रु सैनिकों को बन्दी बनाती थी, शत्रु से अपने वीर सैनिकों को मुक्त कराती थी, अपनी बिखरी सेना को एकत्र करती थी और शत्रु सेना को छिन्न-भिन्न करने के साथ-साथ शत्रु सेना में भय उत्पन्न करती थी।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकाल में रथ सेना वे सभी कार्य करती थी जो आधुनिक युग में कवचितसेनाओं (टैंकों) के द्वारा किये जाते हैं।

विष्ट—

आधुनिक युग में प्रबन्धात्मक सेनाओं का सांग्रामिक सेनाओं के समान ही महत्व है क्योंकि प्रशासन क्षमता और व्यवस्था पर ही सांग्रामिक सेनागों की शक्ति एवं क्षमता निर्भर करती है। प्राचीन भारत में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया था और इसी आशय से विष्टिबल को अष्टांग सैन्य व्यवस्था के एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया था। उद्योगपर्व में वर्णन है कि पाण्डव सेना के साथ आवागमन के लिये प्रयोग में आने वाले वाहनों, कोष, शस्त्र भण्डार, यंत्र, चिकित्सक व चिकित्सा सामग्री थी।[3] आगे बताया गया है कि पाण्डव सेना के साथ जल, भोजन, पशुओं की खाद्य सामग्री तथा अपरमित रसद भण्डार था।[4] महाभारत में कौरव सेना के भण्डारों तथा

---

1. *कर्टियस : इन्वेज़्न, पृ0 207*
2. *अर्थ0 10/4*
3. *म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 151*
4. *म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 152*

उसके विष्टिबल का भी विस्तृत वर्णन है। कौटिल्य के अनुसार अस्त्रशस्त्र रहित सैन्य सेवा का कार्य करने वाले कर्मचारी विष्टिबल के अन्तर्गत आते थे। इनका कार्य सैनिक मार्ग, पुल, बांध, कुऐं घाट तथा शिविर बनाना था। ये लोग युद्धोपयोगी सामग्री, मशीनें, अस्त्र-शस्त्र, कवच, रसद, घास आदि ढोकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते थे और आवश्यकतानुसार उनकी रक्षा तथा उनका अपनी सेना में वितरण भी करते थे। विष्टि कर्मचारी ही युद्ध भूमि से हथियार, कवच तथा घायल सैनिकों को उठाकर ले जाते थे और वे ही घायल सैनिकों का उपचार भी करते थे।[1] कौटिल्य के अनुसार इस दल में स्त्रियाँ भी होती थीं जो अन्य कार्यों को सम्पादित करने के साथ-साथ सैनिकों को प्रसन्न भी रखती थी।

प्राचीन भारत में विशिष्टबल वे सभी कार्य करता था जो आज सेना के प्रशासकीय विभाग जैसे ए.एस.सी., ए.एम.सी., ए.ओ.सी., एन.सी.ई., पायोनियर कोर आदि करते हैं। यही कारण है कि कौटिल्य ने इस विभाग को महत्वपूर्ण माना है।

नारी सेना—

ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे यह प्रमाणित होते हैं कि ऋग्वेद काल में स्त्रियों की सेना थी और देवता तथा राक्षस दोनों ही इस सेना का युद्ध में प्रयोग करते थे।[2]

इन्द्र नमुचि युद्ध के समय नमुचि की ओर से स्त्रियों ने युद्ध में भाग लिया था इसका ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है। 'नमुचि' नामक असुर राजा ने स्त्रियों को आयुधों अर्थात् शास्त्रास्त्रों से युक्त कर एक सेना गठित की थी। यह देखकर इन्द्र ने कहा कि अबलाओं की यह सेना मेरा क्या करेगी और इस सेना की दो स्त्रियों को बन्दी बनाकर इन्द्र 'नमुचि' पर प्रहार करने के लिये दौड़ा।[3]

वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि नारद ने रावण को श्वेत द्वीप (जहाँ पर नारियां ही शासक, सेनापति तथा सेविकायें थीं) पर आक्रमण करने के लिये उकसाया और रावण ने काम लिप्सा के कारण बिना सोचे समझे ही श्वेतद्वीप पर सबल आक्रमण किया, जिसमें उसे मुंह की खानी पड़ी। उसकी सेना रूपसी सेविकायों के वाणों से कटे पेड़ो के समान धराशायी हुई और रावण को

---

1. *अर्थ0 10/4*

2. *सातवलेकर : वेद परिचय, भाग-2, पृ0 161-163*

3. *ऋ0 5/30/9*

बन्दी बनाकर उन्होंने मल-विसर्जन कक्ष में डाल दिया, फलतः रावण को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। रानी कैकेयी युद्ध विद्या में प्रवीण थी और राजा दशरथ के साथ युद्ध में जाती थी। एक बार राजा दशरथ के रथ का एक पहिया क्षतिग्रस्त हो गया तो कैकेयी ने अपना हाथ घुरी में डाल दिया फलतः प्राणरक्षा के उपहार में राजा दशरथ ने कैकेयी को दो वचन दिये, जिसके परिणामस्वरूप वह राम को बनवास दिला सकीं।

कौटिल्य काल में स्कन्धावार के पीछे अन्तःपुर की रक्षिकायें नारी सेविकायें ही होती थीं जो अन्तःपुर के पीछे रहती थी और आवश्यक होने पर अपना पराक्रम प्रदर्शित करती थी, इसके अनेकानेक उदाहरण हैं। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि प्रायः शैय्या त्याग करने पर धनुर्धारिणी वीरांगनायें ही पहले राजा का अभिनन्दन करती थीं।[1] शोभायात्रा तथा शिकार पर जब राजा जाता था तो अंग रक्षिकायें राजा के साथ जाती थीं और राजा के चारों ओर सीमा निषेध कर देती थीं। यदि कोई संदिग्ध व्यक्ति उस सीमा का उल्लंघन करता तो अंगरक्षिकायें बिना हिचक उसे मार डालती थीं। स्ट्रेवो तथा मैगस्थनीज का कथन है कि ये वीरांगनायें शस्त्र विद्या तथा अश्व, रथ, हाथियों आदि के संचालन में दक्ष होती थीं। भारत आक्रमण के समय सिकन्दर को अनेकों बार नारी सेना का मुकाबला करना पड़ा। मैकृण्डल ने लिखा है कि सिकन्दर भारतीय नारियों की सामरिक प्रवीणता को देखकर चकित रह गया था। जब अश्वक राजा सिकन्दर के साथ संग्राम करते समय घायल होकर स्वर्ग सिधार गया और उसकी सेना बिखर गयी तो राजा की माता ने अपनी स्त्री सेना के बूते पर दुर्ग की रक्षा का प्रशंसनीय प्रयास किया।[2] लुई रेणु ने लिखा है कि सिकन्दर के विरूद्ध कठ जाति की वैरांगनाओं ने व्यूहरचना कर भयंकर संघर्ष किया।[3] डॉ. अल्तेकर ने लिखा है कि शिलालेखों से ज्ञात होता है कि राज्य की ओर से संग्रामिक सफलता के उपलक्ष में ग्रामीण वीरांगनाओं को आभूषण आदि उपहार स्वरुप दिये जाते थे, क्योंकि वे शत्रु आक्रमण के समय ग्रामीण रक्षा में भाग लेती थीं।[4]

---

1. *अर्थ0 1/20*
2. *मैकृण्डल : इनवेजन ऑफ इण्डिया बाई एलेक्जेंडर, पृ0 194 तथा 260*
3. *लुई रेणु : दि सिविलिजेशन ऑफ एनशिऐण्ट इण्डिया, पृ0 71*
4. *डॉ. ए. एस. अल्तेकर : एजूकेशन इन एनशिऐण्ट इण्डिया पृ0 221-223*

नव सेना—

प्राचीन काल में नव सेना की भी व्यवस्था थी। बड़े-बड़े जलपोत और नावें इस कार्य के लिये प्रयोग की जाती थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य की नव सेना का प्रबन्ध एक समिति द्वारा होता था। इसका प्रधान अधिकारी नवसेनाध्यक्ष कहलाता था। मनु ने भी इस ओर संकेत किया है।[1] कौटिल्य ने जो 18 अध्यक्षों का वर्णन किया है। उनमें एक नवेसनाअध्यक्ष (नवाध्यक्ष) भी था। मौर्यकाल एवं गुप्तकाल में जलयानों का प्रचलन था। कौटिल्य ने जिस नावध्यक्ष नामक अधिकारी का उल्लेख किया है संभवतः वह व्यापार एवं युद्ध में काम आने वाले दोनों प्रकार के पोत दलों का अधीक्षक रहा होगा।[2]

सेना के साथ चिकित्सक और सेविकायें—

सेना के साथ सेवा कार्य के लिये, घायल सैनिकों की रक्षा के लिये, पशुओं के चिकित्सा के लिये चिकित्सक रखे जाते थे। चिकित्सकों को आयुर्वेदशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें, उपयोग में आने वाले यंत्र, औषधि, घी, तेल और वस्त्र आदि से युक्त रखा जाता था। कुछ स्त्रियों की भी व्यवस्था रहती थी जो अन्न, पान आदि की रक्षिका और सैनिकों को प्रसन्न रखने का कार्य करती थीं। आधुनिक काल की नर्सेज की भाँति संभवतः ये सेना की सेवा के लिये ही रहती थीं। इन वैद्य और स्त्रियों को सेना के पृष्ठ भाग में रखने का कौटिल्य ने आदेश दिया है।[3]

सेना का संगठन—

सैनिकों को वेदों में योद्धि की संज्ञा दी गई है। सैनिकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। रणस्थल से मुख न मोड़ने वाले वीर योद्धा को शूर की उपाधि से विभूषित किया जाता था। कायर सैनिकों को भीरू और रणक्षेत्र से भाग जाने वाले को धावक कहा जाता था। कुछ योद्धाओं

---

1. *स्पन्दनार्श्व : समे युदयेदनूये नौद्विपैस्तथा।*
   वृक्षगुल्भावृतेचार्परसिचर्मायुधेः स्यने।। *मनु0 अ0 7*
2. *के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री : नन्दमौर्ययुगीन भारत, पृ0 212*
3. *चिकित्सिकाः शस्त्रंयनागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रिश्चान्नपानरक्षिण्यः पुसकवामुद्रर्पगीय पृष्ठतास्तिष्ठेपु।।*
   अर्थ0 अधि0 10, अ0 3, वार्ता 62

की टोली को गण कहा जाता था। गण के मुखिया को गणपति कहते थे। महाभारत के आदिपर्व में सेना के संगठन का वर्णन करते हुये गण और पत्ति के लक्षण स्पष्ट किये गये हैं। एक रथ, एक हाथी, तीन अश्वारोही और पांच पैदल सैनिकों की संयुक्त टुकड़ी को पत्ति की संज्ञा दी गई है। सेना में विभिन्न वर्गों की संख्या का क्रम शुक्र की दृष्टि से इस प्रकार होना चाहिए—पैदल सेना की संख्या अश्वारोही सेना से चार गुनी। अश्वारोहियों के आठवें भाग के बराबर खच्चर, 1/4 गज और ऊँट गज का 1/2 रथ होना चाहिये। सेना वर्गों की संख्या के अनुसार अलग-अलग बनायी जानी चाहये। 80 अवश्वारोहियों, एक रथ, 2 वृह्लनाल, 10 ऊँट, दोहाथी, 16 बैलगाड़ियां, 6 लेखक तथा 3 मंत्री की टुकड़ी एक अलग बनाई जानी चाहिये। तीन पत्तियों का एक सेना-मुख, तीन सेनामुखों का एक गुल्म और तीन गुल्मों का एक गण बताया गया है। महाभारत में वाहिनी, पृत्रना, चमू, अनीकिनी आदि सेना के प्रमुख संगठन थे। पैदल सेना में छः सैनिक पर एक अधिपति होता था। जिस पत्तिपाल कहते थे। तीस पैदल सैनिकों के अधिपति को गैल्मिक कहते थे। सौ पैदल सैनिकों के अधिपति को शतानित और इससे अधिक सैनिकों के अधिपति को अनुसैनिक कहते थे। सहस्र और दस सहस्र सैनिकों के अध्यक्ष को अयुतिक कहते थे।[1]

सेना के अधिकारी—

समान श्रेणी के कुछ सैनिकों को गण और उसके मुखिया को गणपति की उपाधि दी गई थी। सेनापति को सैनानी की संज्ञा दी गयी है। कतिपय अन्य अधिकारियों की ओर वेदों में संकेत किया गया है जो आशापाल, शतीनीक, सहस्त्रिन, सूत, गणक आदि हैं। मनु ने सेना के दो अधिकारियों की ओर संकेत किया है। ये पदाधिकारी सेनापति एवं बलाध्यक्ष हैं। राज्य की समस्त सेना जिसके अधीन रहती थी मनु ने उसको सेनापति सम्बोधित किया है। यह राजा के मन्त्री परिषद् का सदस्य भी होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वही अमात्य नाम से सम्बोधित होता था क्योंकि मनु की दृष्टि से सेना अमात्य के अधीन रहनी चाहिये।[2] सेनापति के अधीन जो छः प्रकार की सेना होती थी, उसमें प्रत्येक प्रकार की सेना का एक अध्यक्ष होता था, जिसे बलाध्यक्ष कहते थे। प्रत्येक प्रकार की

---

1. *साहस्त्रिकस्तु संयोज्यस्तथा चायुतिकोमहान्।।* *शुक्र0 अ0 2, श्लोक 141*
2. *अमात्ये दण्ड आयतो।।* *मनु0 अ0 7, श्लोक 65*

सेना में अध्यक्षों के अधीन अनेक टोलियाँ होती थीं, जिसे गुल्म कहते थे। इसी प्रकार वाहिनी प्रमुख और अनीकिनी प्रमुख आदि अधिकारी होते थे।

शस्त्रास्त्र—

प्राचीन काल में अनेक प्रकार के शास्त्रास्त्रों का प्रयोग किया जाता था। जिनमें से प्रमुख अग्रलिखित हैं—

1. धनुष—

यह महत्वपूर्ण आयुध था जिसका प्रयोग वैदिक काल से ही होता चला आया है। आत्मरक्षा एवं शत्रु के पराजय के निमित्त धनुष-बाण का प्रयोग किया जाता था। रूद्ध के धनुष को पिनाक नाम से सम्बोधित किया गया है। सीता के विवाह के लिये राजा जनक के यहाँ रखे हुये भगवान् शंकर जी के धनुष तोड़ने का यज्ञ रचा गया था। कौटिल्य ने धनुष की लम्बाई पांच हाथ मानी है।[1] धनुष की डोरी को ज्या या प्रत्यंचा कहा गया है। गुप्तकालीन मुद्राओं में एक हिरण के पीछे धनुष वाण लेकर दौड़ते हुये राजा का चित्र अंकित है जिससे स्पष्ट है कि आखेट में धनुषबाण का प्रयोग होता था।

2. तूगीर—

योद्धाओं को बाण रखने की सुविधा के लिये एक विशेष प्रकार की खोल बनाई जाती थी। जिसे तूगीर कहते थे। इसे पीठ पर लटकाया जाता था जिसमें वाण रखे जाते थे जो आवश्यकता पड़ने पर सुविधापूर्वक निकाले जा सकते थे।

3. बज्र—

यह भी एक विशेष प्रकार का अस्त्र था, जिससे शत्रु पर प्रहार किया जाता था। कहते हैं इन्द्र को वृत्तासुर के वध के लिये दधिचि ने अपनी अस्थि दान की थीं जिससे निर्मित बज्र से वृत्तासुर मारा गया था। वैदिक युग के बाद आयुध लुप्त हो गया।

4. पाश—

शत्रु को पकड़ने के लिये पाश का विशेष प्रयोग किया जाता था। जो रस्सी में एक विशेष प्रकार का फन्दा लगाकर बनाया जाता था। इसके कई प्रकार होते हैं।जिनको साम्य, व्यादम,

---

1. *अर्थ0 6/5/10*

संदेश्य, विदेश्य, देव और मानुष पाश के नाम से सम्बोधित किया गया है। वैदिक युग के बाद पाश भी अनुपयोगी समझा जाने लगा और धीरे-धीरे इसका लोप हो गया। कहते हैं कि लंका में हनुमान को इसी पाश से बांधा गया था।[1]

5. असि—

वेदों में असि नाम से शस्त्र का उल्लेख है वैदिक आर्य अपने युद्धों में इसका प्रयोग करते थे। आधुनिक तलवार का पूर्व रूप असि ही रहा होगा। कौटिल्य ने असि को खड्ग का एक भेद माना है। मौर्यकाल और गुप्तकाल में खड्ग एक महत्वपूर्ण अस्त्र था। जिसका प्रयोग प्रत्येक योद्धा करता था। उस काल में खड्ग मूठ गैड़ा अथवा भैंसा की संग, हाथी दांत, दृढ़काष्ठ, वांस के मूल आदि से बनते थे।[2]

6. **परसु—**

वैदिक साहित्य में परसु का उल्लेख आया है। मौर्यकाल और गुप्तकालीन भारत में इस शस्त्र का विशेष महत्व रहा। इस तथ्य की पुष्टि उस काल की मुद्रायें तथा मूर्तियां करती हैं। परशुराम का यह सर्वप्रिय आयुध बताया गया है।[3]

7. शूल—

लोहे का नुकीला टुकड़ा शूल कहलाता था। इसका अग्रभाग पतला, नुकीला और तीक्ष्ण होता था। कौटिल्य ने शूल को शस्त्र की संज्ञा दी है और इसकी गणना प्रसिद्ध शास्त्रों में थी।[4]

8. दण्ड—

आधुनिक लाठी के स्थान पर दण्ड का प्रयोग होता रहा होगा। आचार्य कौटिल्य इसे भी शस्त्रों में महत्वपूर्ण स्थान देते हैं।[5]

---

1. *ऋ0 13/24/2*
2. *ऋ0 118/26/10*

   के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री : नन्दमौर्ययुगीन भारत, पृ0 116
3. *के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री : नन्दमौर्ययुगीन भारत, पृ0 116*
4. *अर्थ0 41/3/2*
5. *अर्थ0 41/3/2*

9. अश्मा—

वेदों में अश्मा को भी आयुध स्वीकार किया गया है। शत्रु के नाश के लिये अश्मा का प्रयोग किया जाता था। उस युग के आयुधों में इसका भी महत्वपूर्ण स्थान था।[1]

10. विल्मि—

सिर की रक्षा हेतु इसका उपयोग होता था। इस शिरस्त्राण को विल्मि की संज्ञा दी गई है। आचार्य कौटिल्य ने भी विल्म को शिरस्त्राण माना है।[2]

11. कवच—

शरीर की रक्षा के लिये कवच धारण किया जाता था। महाभारत में छल करके कर्ण से उसके कवच और कुण्डल माँगे गये थे। गुप्तकाल और मौर्यकाल के युद्धों में भी इसका प्रयोग होता था। आधुनिक काल के वुलेट प्रूफ जैकेट की तुलना कवच से की जा सकती है।[3]

12. शिद्रा—

यह एक विशेष प्रकार का शिरस्त्राण था जो संभवत: आधुनिक युग के झेलम टोप का पूर्व रूप था।[4]

13. नालिक अस्त्र—

मंत्र एवं यंत्र तथा अग्नि के द्वारा जो फेंका जाता है, उसे अस्त्र कहते हैं। अस्त्र दो प्रकार के होते हैं— (1) नालिका (2) यांत्रिक। यांत्रिक अस्त्र के अभाव में नालिक अस्त्र का प्रयोग करने का शुक्र ने आदेश दिया है। जहाँ पर यांत्रिक अस्त्र न हो वहाँ नालिक अस्त्र रखे जायें। नालिक अस्त्र के दो प्रकार हैं—(1) लघुनालिका (बन्दूक आदि) (2) अस्त्र वृहद् (तोप)।[5]

14. लघुनालिका—

जिसमें नाल ऐसी हो, जिसमें मूल की तरफ से तिरछा ऊपर की ओर तक छिद्र हो तथा

---

1. अथर्व0 1/26/1

2. डॉ. श्यामसुन्दरलाल पाण्डेय : वेदकालीन राजव्यवस्था, पृ0 196

3. ऋ0 6/27/6

4. डॉ. श्यामलाल पाण्डेय : वेदकालीन राजव्यवस्था, पृ0 196

5. शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1024-1027

पांच वालिस्त लम्बी हो। इसके मूल और अग्र भाग में तिल विन्दु सदा लगे हों, जिसमें ग्राव-चूर्ण (बारूद) मूल के कर्ण भाग में भरा हो। नाल का छिद्र एक अंगुल चौड़ा हो, अग्निपूर्ण भरने के लिये सलाका भी इसके साथ लगी हो। इसे लघु नालिका या बन्दूक कहते हैं। प्राय: यह पैदल एवं घुड़सवार सैनिक रखते थे।[1]

15. वृहन्नालिक (तोप)—

इसके मूल भाग में एक कील होती है। जिसे घुमाने से गोला फेंका जाता है। इसे बैलगाड़ी आदि से ढ़ोया जाता है। यह फौलाद, उत्तम लोहा अथवा अष्टधातु से बनायी जाती थी।[2]

शुक्रनीतिसार में गोली, बन्दूक एवं तोप आदि अस्त्रों के वर्णन से विदित होता है कि उस समय इस युद्ध सामग्री का प्रचार हो चुका था। परन्तु आग्नेयास्त्र और वज्र आस्त्रों का उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलने से ज्ञात होता है कि कम से कम 2300 वर्ष पूर्व से ही यह प्रयोग में आने लगे थे। यद्यपि सिकन्दर के आक्रमण के समय इन आग्नेयशास्त्र की चर्चा प्राय: नहीं मिलती, किन्तु अर्थशास्त्र में अग्निधारण और अग्नियोग के दिये विवरण से स्पष्ट होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय इनका प्रचार हो चुका था।[3]

दुर्ग—

भारत में दुर्गों के निर्माण की प्रथा प्राचीन है। इस सम्बन्ध में श्री जी. एन. पन्त ने लिखा है कि सर्वप्रथम मनुष्य ने कांटेदार झाड़ियों को साधारण दुर्ग (प्रतिरक्षा आधार) के रूप में अपनाया होगा और तदुपरान्त उसके साथ-साथ मिट्टी की लघु दीवार बनायी होगी, जिसे कालान्तर में पेड़ों की लकड़ी की पंक्ति बनाकर विकसित किया होगा और फिर सभ्यता के विकास के साथ-साथ दीवार बनायी गई होगी, तदुपरान्त कुछ फासले पर दो समानान्तर दीवारें बनाकर बीच की खाई को

---

1. *डॉ. श्याम लाल पाण्डेय : शुक्र की राजनीति, पृ0 214*
2. *नाबीग्नि चूर्ण संयोगाल्लक्षे निपातनम्। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1160*
   नालिकार-भेगतवुर्द्ध।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1161
3. *गुस्ताव ओपर्ट : ऑन दि वीपन्स, आर्मी आरगेनाइजेशन एण्ड पॉलिटीकल मैक्जिम ऑफ दि एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 69*

डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्शास्त्र, पृ0 293

मिट्टी से भर दिया होगा, परन्तु बाहरी दीवार को पिछली दीवार से कुछ ऊँचा रखा होगा जिससे कि शत्रु के प्रहारक प्रक्षेपास्त्रों तथा तीरों से बचाव हो सके। कालान्तर में दीवारों में कुछ-कुछ दूरी पर बुर्जों का निर्माण किया जाने लगा।[1]

दुर्ग राज्य के सात अंगों में से एक प्रमुख अंग हैं। कामन्दक के मतानुसार दुर्गहीन राजा पवन से प्रेरित मेघों के समान (शत्रु के आक्रमण से) छिन्न-भिन्न हो जाता है। अत: राजा को अपने राज्य में दृढ़ दुर्ग का निर्माण करना चाहिये।[2]

नीलकण्ठ भट्ट ने दुर्ग को साप्तात्मक राज्य की एक प्रकृति अथवा उसका एक अंग माना है।[3]

चण्डेश्वर का मत है कि राजा के स्वजन, सोने, चांदी, मणि, मुक्ता, प्रवाल, बहुमूल्य रत्न, क्षोमवस्त्र कोष तथा स्वामी की आत्मरक्षा का स्थान दुर्ग कहलाता है।[4]

सोमदेव सूरि का कहना है कि जिससे सामने से शत्रु दुख प्राप्त करते हैं अथवा जहाँ दुर्जन के उद्योग अथवा अपने दोष से आयी हुयी आपदा दूर होती है, वह दुर्ग हैं।[5]

मनु ने युद्ध में दुर्गो का विशेष महत्व स्वीकार किया है। राजधानी में दुर्गों की महत्ता बताते हुये वह अपना इस प्रकार प्रकट करते हैं, जैसे-मरूभूमि में मृग, महि में मूषक आदि, पार्थिव जन्तु, जल में जल जन्तु, वृक्षों में वानर, मनुष्यों के बीच मनुष्य और पर्वतों में देवगण अपने शत्रुओं से सुरक्षित रहते हैं इसी प्रकार राजा भी इन छ: प्रकार के दुर्गों में किसी एक प्रकार (देशकाल के अनुसार) दुर्ग का आश्रय ग्रहण कर सुरक्षित रहता है।[6] दुर्ग में स्थित एक धनुर्धर सौ धनुर्धर के

---

1. *जी. एन. पंत : स्टडीज इन इण्डियन वीपन्स एण्ड वारफेयर, पृ0 211*
2. *काम0 सर्ग 4, श्लोक 57-58*
3. *नीतिमयूख : पृ0 42*
4. *राजनीतिरत्नाकर, सम्यनिरूपण तरंग*
5. *नीतिवाक्या0 दुर्गसमुद्देश, श्लोक 1*
6. *श्रीण्याधान्याश्रितोस्त्वेषां मृगगर्ताश्रया प्सरा:।*

   त्रीष्पुक्तराणि क्रमश: प्लवंगमनरामरा:।। मनु0 अ0 7, श्लोक 72

विरूद्ध युद्ध कर सकता है। सौ धनुर्धारी दल सहस्र धनुधारियों से युद्ध करने में समर्थ हो सकता है।[1]

दुर्ग के प्रकार—

शुक्र ने दुर्ग के प्रकारों का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

1. ऐरिण दुर्ग—

खाई (गड्ढ़े) कांटों तथा पत्थरों से जिसके मार्ग दुर्ग में बने हों, उसे ऐरिण दुर्ग कहते हैं।

2. पारिध दुर्ग—

जिसके चारों ओर बहुत बड़ी खाई हो और ईट, पत्थर तथा मिट्टी से बनी बड़ी-बड़ी दीवारों का परकोटा हो उसे पारिध दुर्ग कहते हैं।

3. धन्व दुर्ग—

जिसके चारों तरफ बहुत दूर तक मरूभूमि फैली हो उसे धन्व दुर्ग कहते हैं।

4. वन दुर्ग—

जो बड़े-बड़े कांटेदार वृक्ष समूहों से घिरा हो उसे वन दुर्ग कहते हैं। इसके अतिरिक्त मनु ने महि दुर्ग, मनुष्य दुर्ग तथा वृक्ष दुर्ग का भी संकेत किया है।[2]

5. जल दुर्ग—

जिसके चारों तरफ बहुत दूर तक फैली हुई जल राशि हो उसे ज्ञाता लोग जल दुर्ग कहते हैं।

6. गिरि दुर्ग—

जो एकान्त में किसी पहाड़ी के ऊपर बना हो एवं उसके ऊपर जलाशय का भी प्रबन्ध हो तो उसे गिरि दुर्ग कहते हैं।

सिकन्दर के अभियान में आर्नों पर स्थित उसके नाई लोगों को विजित करना एक समस्या थी। इस स्थान की पहिचान इतिहासकारों ने पर्वत मालाओं के मध्य में स्थित "पीरसार" तथा

---

1. *सर्वेण तु प्रत्यत्नेन गिरिदुर्ग समाश्रयेत्।*
   एषा हि बाहुगुण्येन गिरि दुर्ग विशिष्यते। मनु0 अ0 7, श्लोक 71
2. *पन्वदुर्ग महीदुर्गमब्दुर्गे वार्क्षमेव वा।*
   मृदुर्गे गिरि दुर्गे वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥ मनु0 अ0 7, श्लोक 70

"उनसार" से की है। एरियन के वृतान्तों से ज्ञात होता है कि यह स्थान 6,600 फीट ऊँची चट्टान पर स्थित था। इस स्थान पर पहुँचने का मार्ग भी दुर्गम था। इस स्थान को अधिगृहीत करने में "हरक्युलिस" को भी निराश होना पड़ा था। स्वयं सिकन्दर भी इस स्थान की वर्गीकरण व्यवस्था को देखकर किकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। अपनी सैनिक योजना और तात्कालिक दुर्गीकरण की योजना के सन्दर्भ में आर्नों सिकन्दर के द्वारा विजित किया गया और यहाँ तक सिकन्दर महान् द्वारा ग्रीक देवताओं की पूजा करने के उपरान्त एक गिरि दुर्ग का निर्माण करवाया गया।[1]

7. सैन्य दुर्ग—

व्यूह रचना में चतुर वीरों से व्याप्त होने से जो अभेघ (आक्रमण द्वारा) हो उसे "सैन्य दुर्ग" कहते हैं।

8. सहाय दुर्ग—

जिसमें शूर और सदा अनुकूल रहने वाले बान्धव लोग रहते हों, उसे सहाय दुर्ग कहते हैं।[2]

याज्ञवल्यस्मृति, मत्स्यपुराण, औशनस्य, धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र में भी दुर्गों का वर्णन किया गया है।

परिखा दुर्ग से श्रेष्ठ एरिण दुर्ग, उससे श्रेष्ठ "परिध दुर्ग" और उससे भी श्रेष्ठ बन दुर्ग, उससे भी श्रेष्ठ "धन्व दुर्ग", उससे भी श्रेष्ठ "जल दुर्ग", उससे भी श्रेष्ठ "गिरि-दुर्ग" माना गया है।

सैन्य दुर्गों की सघनता का निर्देश वस्तुतः सब दुर्गो से श्रेष्ठ सेना (सैन्य) दुर्ग को मानना है और अन्य सारे दुर्ग तो उसके साधन मात्र हैं। अतः राजा सदा सैन्य दुर्ग की रक्षा करे। जिस राजा के पास सैन्य दुर्ग है, उस राजा के आधीन यह सारी पृथ्वी है। आपत्तिकाल में ही अन्य दुर्गों का

---

1. *के. ए. नीलकंठ शास्त्री : नन्दमौर्ययुगीन भारत, पृ0 216*

2. *सहाय दुर्ग तज्जेयं शूरानुकूलक बान्धवम्।।*

   शुक्र0 अ0 4, श्लोक 5

आश्रय लेना उत्तम माना गया है। सैन्य दुर्ग को छोड़कर अन्य दुर्ग केवल बन्धन मात्र हैं।[1]

वस्तुत: प्राचीन आचार्यों ने राजधानी की सुरक्षा करना आवश्यक माना था। राजधानी का महत्व राजनीतिक, कूटनीतिक एवं सामरिक आवश्यकताओं के कारण होता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कभी भी दुर्ग शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थों में सामान्य किले के लिये न करके, राजकीय सुरक्षित नगर के अर्थ में किया गया है। इस शब्द का प्रयोग सामान्य दुर्गो के लिये हुआ है जिनकी दृढ़ता, स्थिति, संगृहीत यंत्रों, कोश एवं जनशक्ति पर ही युद्धों में राज्य की जय-पराजय निर्भर करती थी।

छावनी—

प्राचीन भारत में सेना की छावनी को स्कन्धावार के नाम से संबोधित किया गया है। स्कन्धावार कहाँ और किस प्रकार होना चाहिये, कौटिल्य अपना मत प्रकट करते हुये कहते हैं कि भवन निर्माण कला के अनुसार जो भूभाग उत्तम समझा जाये उसमें नायक, कारीगर और ज्योतिषी को गोल अथवा चौकोर भूमि को स्कन्धावार के निमित्त अपनाना चाहिये। भूमि की सुविधानुसार इस छावनी में चार द्वार, छ: मार्ग और नौ भाग होने चाहिये।[2] इसकी रक्षा के निमित्त खाई परकोटा द्वार, अट्टालिकायें एवं संकट के समय रक्षा के स्थान होने चाहिये।[3] स्कधावार के नौ भागों में एक

---

1. *पारिखदैरिणंश्रष्ठपारिघंतुतावेनम्।*
   ततोधन्वजलंतत्माद्रिरिरिदुर्गतत:स्मृतम्।। — *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 854-855*
   सहायसैन्यदुर्गेतुसर्वदुर्गप्रसाधिके।
   ताभ्यांविनान्यदुर्गाणिनिष्फलानिमहीभुजाम्।
   तत्साधकानिचान्यानितद्रक्षेन्नृपति:सदा।। — *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 855-856*
   विनातुसैन्यदुर्गेणदुर्गमन्यत्तुबंधनम्।
   आपत्कालेन्यदुर्गाणामाश्रयश्रवोत्तमोमता:।। — *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 858*
   अभेद्यंव्यूहविद्वीरव्याप्तंतत्सैन्यदुर्गमम्।
   सहायदुर्गतज्ज्ञेयंशूरानुकूलबांधवम्।। — *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 853-854*
2. *वास्तुकप्रस्तेवास्तुनि नायक वर्धकिम मौहूर्तिका : स्कन्धावार वृत्तं दीर्घ चतुरश्रेवा भूमिवेशन चतुदरिं षट्पंथ नवसंस्थान मापयेयु:।।* — *अर्थ0 अधि0 10 अ0 1, वार्ता 1*
3. *रवातवप्रसाल दाराट्टालक सम्पन्न भये स्थाने च।। अर्थ0 अधि0 10, अ0 1, वार्ता 2*

भाग में राजभवन का निर्माण होना चाहिये। राजभवन के सम्मुख पूजागृह, दाहिनी ओर कोष और शासन सम्बन्धी अन्य विभाग होने चाहिये। बायें ओर राजा के हाथी, घोड़े और रथों के शालाओं का निर्माण कराना चाहिये। उसके बाहर मन्त्री, पुरोहित, भण्डार, भोजनालय एवं आयुध्र आगारों की रचना करनी चाहिये। पश्चिमी भाग में रनिवास की रचना और अन्त में अन्तःपुर की रक्षा हेतु सेना के रहने का स्थान होना चाहिये।[1] दूसरी परिधि में मौल, मृत्य का स्थान, अश्व और रथशालायें तथा सेनापति का भवन, तीसरी परिधि में हाथी, श्रेणी बल, और प्रशास्ता (कष्टकशोधनाध्यक्ष) का भवन होना चाहिये। चौथी परिधि में विष्टि नायक, मित्रबल, अटवीबल, उनके सेना नायकों सहित निवास होना चाहिये। शिकारी कुत्तों को रखने वाले अग्नि और तुरही के संकेत से शत्रु के आने की सूचना देने वाले एवं गूढ़ पुरूषों के निवास स्थान इसके बाहर होना चाहिये। स्कन्धावार में प्रवेश और बाह्य गमन के लिये राजकीय मुद्रा के प्रयोग के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिये।[2]

कौटिल्य एवं शुक्र के सेना सम्बन्धी विचार—

कौटिल्य ने सैनिक बल को राज्य की प्रकृतियों में स्थान दिया है। वे सेना के छः प्रकारों का वर्णन करते हैं। मौल सेना-ये राजधानी की रक्षा करती थी; भृत्य सेना-यह वेतन भोगी सैनिकों से पूर्ण थी; श्रेणी सेना विभिन्न प्रदेशों में रखी जाती थी; मित्र बल-अर्थात् मित्र राजा की सेना शत्रुबल अर्थात् शत्रु राजा की सेना; अटवी बल अर्थात् बुर्जो की सुरक्षा के लिये नियुक्त सेना; सेना में वर्णव्यवस्था को कौटिल्य ने महत्व दिया है। कुशल विनयशील क्षत्रीय सेना सबसे अच्छी होती है। वीर योद्धाओं वाली वैश्यों एवं शूद्रों की सेनाओं को भी उतना ही श्रेष्ठ माना गया है। कौटिल्य ब्राह्मण वर्ग की सेना को उत्तम नहीं मानते। उनकी राय में अधिक दयालु होने के कारण शत्रु आसानी से उस सेना को परास्त कर देगा। शत्रु की स्थिति का पता लगाकर ही उसके अनुरूप सेना का संगठन करना चाहिये। हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल चार प्रकार की सेना के संगठन का कौटिल्य ने वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में शक्तिशाली सेना ही राजा की मुख्य सम्पत्ति होती है। उन्होंने व्यूह,

---

1. *मध्यमस्योत्तरे नवभागे राजवास्तुकं धनुः शतायाममर्धविस्तारं।*

   पश्चिमाधें तस्यान्हः पुरमर्त्तवशिक सन्यं चान्ते निविशेंत।। अर्थ0 अधि0 10, अ0 1, वार्ता 3

2. *बाहनतो लुब्धकश्वगणिन : सत्र्याग्रय.....गूढ़ाश्चारक्षा :।।* अर्थ0 अधि0 10, अ0 1, वार्ता 12

दुर्ग, एवं छावनी (स्कन्धावार) की रचना का भी उल्लेख किया है तथा यह भी बताया है कि अमुक व्यूह के विरूद्ध अमुक व्यूह की रचना लाभदायक होगी। सेना में गुप्तचरों, विष कन्याओं विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र एवं मंत्रों के प्रयोग का वर्णन किया है। शत्रु राजा और उसकी सेना की अत्मिक शक्ति को कमजोर करने के लिये ज्योतिष द्वारा भविष्यवाणी का भी महत्व स्वीकार किया है। इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने पूर्ण रूप से सेना के संगठन और उसके प्रयोग की प्रत्येक विधि का वर्णन करते हुये विजिगीषु राजा के लिये उच्च कोटि की व्यवस्था का विधान किया है।[1]

आचार्य शुक्र ने अस्त्र-शस्त्र से संयुक्त मनुष्य आदि (पैदल, सेना, हाथी, घोड़ा) के समूह को सेना की संज्ञा दी है। उन्होंने स्वगमः और अन्यगमः दो प्रकार की सेनाओं का वर्णन किया है। इन दोनों को भी देवी, आसुरी और मानवीय पृथक्-पृथक् तीन भेद किये हैं। उनकी दृष्टि में सैन्य के बिना राज्य धर्म और पराक्रम कोई भी स्थिर नहीं रह सकता।[2] सभी लोग बलवान पुरूष के

---

1. *(क) बलंशक्ति :।* *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 40*

   (ख) ज्ञानंबलं मंत्र शक्ति।। *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 43*

   (ग) मौलभूतक्षेणिमित्रामित्रा व्वीबलानां सार फल्गुतां विद्यात्।

   अर्थ0 अधि0 2, अ0 33, वार्ता 9

   (घ) यत्र तु दण्ड : प्रतिहृतस्तंवा चा धर्मन्याश्च साधयति यत्र मौलभूत श्रेणी मित्रा मित्रा टवीबलानायतमुमलब्ध देशकालं दण्डं दधात्। *अर्थ0 अधि0 7, अ0 8, वार्ता 30*

   (ड) ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्य शूद्र सैन्यानों तेजः प्राधान्यात्पूर्व श्रेयः संनाहपितुभित्याचार्या।

   अर्थ0 अधि0 9, अ0 2, वार्ता 43

   (च) नेति कौटिल्य।। *अर्थ0 अधि0 9, अ0 2, वार्ता 44*

   (छ) प्रणिपातेन ब्रह्मणबलं परो भिटारयेत्। *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 45*

   (ज) प्रहरण विधाविनीतं तु क्षत्रियबले श्रेयः। *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 46*

   (झ) बहुलसारं वा वैश्यशुद्रबलमिति।। *अर्थ0 अधि0 6, अ0 2, वार्ता 47*

2. *शारीरं हि बलं शैर्यबलं सैन्यबल तथा। चतुर्थमास्त्रिकवलं पंचम धीवत स्मृतम्।।*

   षष्टभार्धुर्वलं त्वैं तैरूपेतो विष्णुरेव सः। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 868-869*

वशीभूत रहते हैं। थोड़े सेना रखने वाले राजा के लोग शत्रु हो जाते हैं। मनुष्य का बल ही शत्रु को पराजित करने में सफल होता है। इसलिये राजा दुघर्ष बल को धारण करे। बल के वे छ: प्रकार बताते हैं– शरीर का बल, शूरता का बल, सेना का बल, अस्त्र का बल, बुद्धि का बल, आयु का बल।[1] सेना के भी दो बलों का संकेत किया है– अपनी सेना का तथा मित्र की सेना का। भली भाँति युद्ध करने वाली सेना को "सार" इसके विपरीत को "आसार", व्यूह रचना में कुशल सेना को "शिक्षित" और इसके विपरीत को "अशिक्षित" कहा है। सेना के शारीरिक बल बढ़ाने के लिये बाहु युद्ध, कुश्ती, व्यायाम, गुरूजनों को प्रमाण, पौष्टिक भोजन, व्याघ्रों को शिकार, शस्त्र तथा अस्त्रों का अभ्यास एवं शूरवीरों की संगति करने का निर्देश दिया है। सेना में घुड़सवार सैनिकों से चौगुनी पैदल सेना, 1/5 बैल, 1/2 ऊंट, ऊंटों का 1/4 हाथी, हाथी का 1/2 रथ और रथ का चूना वृहद् नालिक (तोप) इन सबों का राजा अपनी सेना में रखें। उन्होंने विभिन्न प्रकार से सैनिकों के वेतन एवं उनके अस्त्र-शस्त्रों का भी उल्लेख किया है। एक लाख मुद्रा का सालभर में निम्नरीति से व्यय करे। 1500 स्वयं, 100 लेखकों के लिये, 300 मंत्रियों के लिये, 300 स्त्री पुत्र के लिये, 200 विद्वानों के लिये, घुड़सवार तथा पैदल सिपाहियों के लिये 4000, ऊंट बैल और बन्दूक चलाने वाले के लिये 400 मुद्रा प्रमिमास व्यय करे और 1500 मुद्रा प्रतिवर्ष वर्दी बनवाने के लिये सैनिकों को दे, शेष धन को कोश में सुरक्षित रखे। सेना में प्रयुक्त गजों और अश्वों के लक्षणों का भी वर्णन किया है। अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र एवं वाद्यों, दुर्गों की चर्चा की है। घोड़ों के चलने की गति का उल्लेख किया है– 1. धारा, 2. आसकन्दित, 3. रेचित, 4. प्लूत, 5. धैरीतल, 6. वल्लगित।

पशुओं को ताड़न द्वारा बस में करने का और सैनिकों को विशेष रूप से ताड़न करने का दण्ड देना चाहिये किन्तु उन्हें धनदण्ड से दण्डित नहीं करना चाहिये। शत्रु द्वारा त्यागी गई सेना को

---

1. *सुयुद्रकामुकं सारमसांरविपरीतकम्।*

शिक्षितं व्यूहकुशलं विपरीतमशिखितम्।

शुक्र0 अ0 4, श्लोक 874-875

चतर्गुणंहि पादातर्भचतो धारयेत् सदा।

पंचमांशांस्तु वृषभानष्टा शाश्चक्रमेलान्।

शुक्र0 अ0 4, श्लोक 883-884

पृथक् रखना चाहिये और युद्ध के समय अपनी सेना के अनुभाग पर नियुक्त करना चाहिये।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आचार्य कौटिल्य एवं शुक्र ने सेना के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुरूप ही सैनिक व्यवस्था करके प्राचीन भारतीय शासकों ने अपनी सेना का संगठन किया था। जहाँ उनके सेना सम्बन्धी विचार उस युग के लिये अनिवार्य थे, वही आज के वर्तमान युग में उन विचारों की अनिवार्यता कम नहीं है और प्राय: कुछ हेर-फेर के साथ आज भी भारतीय सेन्य व्यवस्था उन्हीं आचार्यों के निर्देशन के आधार पर ही की जा रही है।

युद्ध—

प्रसिद्ध उपन्यासकर गुरूदत्त के विचार से युद्ध एक अनिवार्य दोष है।[2] किन्तु समाज की सुव्यवस्था के लिये आवश्यक भी है। यद्यपि भारतीय संस्कृति मूलत: शान्ति और अहिंसा पर आध ारित है तथापि इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे देश में विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के बीच निरन्तर युद्ध होते रहे हैं। वैदिक साहित्य में देवासुर संग्राम की कथा प्रसिद्ध है। आर्य-अनार्य तथा स्वयं आर्य जनों के पारस्परिक युद्धों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। महाकाव्य काल को यदि हम

---

1. *सम्भारदानभोगार्थधनं सार्धसहस्रकम्।*
   लेखकार्येशतंमासिमंत्रयर्थेतुशतत्रयम्।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 889-890*
   त्रिशतंदारपुत्रार्थेविद्वदर्थेशतद्वयम्।
   साद्यश्चपदगार्थहिराजाचतु:सहस्रकम।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 890-891*
   गजोष्ट्रवृषनालार्थव्ययीकुर्याच्चतु:शतम्।
   शेषं कोशेधनंस्थाप्यंव्ययीकुर्यान्निचान्यथा।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 891-892
   प्रतिवर्ष स्वंवशार्थ सैनिकेभ्यो धनं हरेत्।
   शंखचक्रगदापद्मवेदिस्वस्तिकसन्निभ:।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 915
   प्रासादतोरणधनु:सुपूर्णकलशाकृति:।
   स्वस्तिकस्त्रग मीन खड्ग श्रीवत्साम: शुभ्रो भ्रम:।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 915-916
   गतय:षड्विधाधारास्कन्दितरेचितंप्लुतम्।
   धौरीतकंवल्गितंचतासांलक्ष्मपृथक्पृथक्।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 981-982*
2. *गुरूदत्त: इतिहास में भारतीय परम्परायें, पृ0 134*

युद्ध काल कह दें तो अनुचित न होगा क्योंकि राम-रावण युद्ध, कौरव-पाण्डव युद्ध आदि अनेक युद्ध प्रकरण मिलते हैं। अत: राजनीतिक-चिन्तकों को युद्ध की अनिवार्यता स्वीकार करनी पड़ी। वैसे तो वे यथासंभव युद्ध से बचने का ही आदेश देते हैं[1] परन्तु वे यह भी स्वीकार करते है कि कभी-कभी युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है। अत: वे राजा को सदैव युद्ध के लिये तत्पर रहने का आदेश देते हैं।[2] महान शान्तिप्रिय सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध की विभीषिका देखकर युद्ध नीति का परित्याग कर दिया था, परन्तु उसके पश्चात् ही उसे अपने सामन्त और आटविकों को सावधान करना पड़ा था कि वे उसे पुन: कठोर नीति अपनाने को बाध्य न करें।[3] जैन और बौद्ध धर्माबलम्बी शासक खारवेल, कनिष्क और हर्ष भी युद्ध का सर्वथा परित्याग न कर सके। आधुनिक युग में शान्तिदूत एवं पंचशील के प्रणेता हमारे प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू, श्री लाल बहादुर शास्त्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी तथा श्री अटल बिहारी बाजपेयी भी युद्ध को न रोक पाये और युद्ध करना ही पड़ा।

प्राचीन भारतीय राजनीति में साम, दाम, भेद और राजनयिक उपायों से पारस्परिक विवाद का उचित निर्णय न होने पर युद्ध को लक्ष्य प्राप्ति का यथेष्ट साधन माना गया है। युद्ध की अनिवार्यता के कारण ही प्राचीन विचारकों ने चतुरूपाय में 'दण्ड' और षाडगुण्य में 'विग्रह' को स्थान प्रदान करके इसके महत्व को मान्यता दी है। युद्ध एक अनिवार्य अभिशाप है तथा संसार में सदा से ही इसका घोर विरोध होने पर भी युद्ध होते रहे हैं, क्योंकि संघर्ष अर्थात् युद्ध की प्रवृत्ति मानव स्वभाव में विद्यमान है और इसी भावना से प्रेरित हो राष्ट्र लड़ते आये हैं। कहीं साम्राज्य स्थापित करने के लिये, कहीं स्त्री के लिये, कहीं धन-सम्पत्ति के लिये, कहीं धर्म के लिये, कहीं मान-प्रतिष्ठा के लिये, आदि। राम-रावण का संग्राम, कौरव-पाण्डव का संग्राम, देवताओं-असुरों का संग्राम, आर्य-अनार्यों का संग्राम आदि सभी धर्मयुद्ध ही थे, क्योंकि ये युद्ध पापियों, दुष्टों और अत्याचारियों का नाश करने और धर्म की स्थापना के लिये लड़े गये थे। भारतवर्ष के इन युद्धों की यह विचित्रता है। इसके विपरीत संसार के अन्य देशों में प्राय: सभी युद्ध अपने राज्य का विस्तार

---

1. *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 102, श्लोक 16 एवं 22*

2. *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 89, श्लोक 11*

3. *अशोक का 13 वाँ शिलालेख।*

करने, दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने, धन-धान्य लूटने और अपने धर्म-संस्कृति को दूसरों पर थोपने हेतु ही किये गये हैं।

युद्ध को हमारे आचार्यों ने घृणित, पापयुक्त और निन्दनीय माना है और धर्मयुद्ध को छोड़ सदैव युद्ध से बचने पर बल दिया है। इस पर भी यह हमारा दुर्भाग्य ही रहा है कि हमारे पूर्वजों द्वारा बाह्य देशों पर कभी आक्रमण न करने पर भी हमारी भारत-भूमि पर धन, यश एवं विशाल साम्राज्य की स्थापना हेतु प्राचीनकाल से ही सशक्त आक्रमण करके विदेशी लोग हमारा धर्म नष्ट करते रहे, अपार धन, स्वर्ण आदि लूटते रहे और नरसंहार करते रहे। भारत पर आक्रमण करने वालों की प्राचीन संस्कृति का तो ह्रास हो गया, पर हमारी संस्कृति, सभ्यता आदि अपार कष्ट लेकर आज भी भली प्रकार फल-फूल रही है। इसका श्रेय हमारे पूर्वजों को ही जाता है, जिन्होंने अपनी संस्कृति को बचाने के लिये सभी प्रकार का बलिदान देने में संकोच नहीं किया।

मानव ने जहाँ अन्य क्षेत्रों में उन्नति की है, वहाँ युद्ध के साधनों में भी बहुत उन्नति की है। शक्तिशाली देशों (अमेरीका, रूस, चीन आदि) ने तो अपने समस्त साधनों को नये-नये अस्त्र-शस्त्र बनाने में ही लगा रखा है और एक-दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में लगे हैं। इसका परिणाम यह है कि आज मानव ने ऐसे विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों (एटमबम, हाइड्रोजन बम आदि) का निर्माण कर लिया है जो क्षण भर में सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व का समूल नाश करने में समर्थ हैं। अत: आज प्रत्येक राष्ट्र प्रतिक्षण भविष्य में होने वाले युद्ध से आशंकित हैं। इस भाव ने आज विश्व के सभी राष्ट्रों को एक मंच पर ला खड़ा कर दिया है और भविष्य में होने वाले भयंकर युद्ध की सम्भावना को समाप्त करने के उपाय सोचने के लिये बाध्य कर दिया है।

युद्ध का औचित्य—

ऋग्वेद काल से प्रारम्भ होने वाले युद्धों का क्रम प्राचीन भारत में निरन्तर चलता रहा परन्तु युद्ध के औचित्य पर भारतवर्ष में सदैव मतभिन्नता रही है। युद्ध को विनाशकारी बताते हुये युधिष्ठर इसकी भर्त्सना करते हुये कहते हैं कि क्षात्रधर्म से बढ़कर अन्य कोई पाप पूर्ण धर्म नहीं है, क्योंकि युद्ध के द्वारा महान जनसंहार होता है। युधिष्ठिर की इस शंका का समाधान भीष्म ने यह कह कर दिया था कि जो राजा संग्राम में प्राणियों को कष्ट पहुँचाता है, वही राजा युद्ध के बाद विजितराज्य में "प्रजा का समुचित पालन करके पाप से मुक्त हो जाता है, उसका यही प्रायश्चित

है।"[1] लोकरक्षा[2] और शरणागत परित्राण[3] हेतु किये गये युद्ध को वे उचित मानते थे। शिष्ट और निरपराध लोगों की रक्षा के लिये परराष्ट्रमर्दन करने वाले राजा को वह वानप्रस्थ की भाँति मोक्ष का अधिकारी घोषित करते हैं।[4] इस प्रकार जो युद्ध केवल राज्यवृद्धि की लिप्सा अथवा ऐसे ही किसी अन्य घृणित स्वार्थ की पूर्ति के लिये किया जाता, इसे भारतीय आचार्यों ने अनुचित माना है।[5] किन्तु लोकरक्षा, शरणागतपरित्राण तथा साधुजन रक्षा हेतु किये गये युद्ध का औचित्य उन्होंने स्वीकार किया है।

शत्रु द्वारा आक्रमण की स्थिति में प्रत्येक राज्य की प्रजा के जीवन और सम्पत्ति के लिये असुरक्षा उत्पन्न हो जाती थी। अत:युद्ध का एक औचित्य प्रजा की रक्षा भी था। इसलिये आश्चर्य नहीं होता कि प्राचीन भारत के सभी चिन्तकों ने प्रजा की रक्षा का प्रधान कर्त्तव्य बताया है।[6] इतना ही नहीं, प्राचीन भारतीय विचारकों ने आत्मरक्षा के लिये लड़े जाने वाले युद्ध के औचित्य को मान्यता दी है। मनु का कथन है कि राजा को प्रजा की रक्षा हेतु युद्ध के अवसर पर युद्ध क्षेत्र से नहीं भागना चाहिये। इस प्रकार के युद्ध में मृत राजा स्वर्ग की प्राप्ति करता है।[7]

रामायण काल में विश्वामित्र ने तो प्रजा की रक्षा हेतु राजा के क्रूर और दोषपूर्ण कार्यों को भी औचित्यपूर्ण माना था।[8]

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 97, श्लोक 1-7*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 89, श्लोक 10-12*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 66, श्लोक 21*
4. *मर्दन परराष्टाणा शिष्टार्थ सत्यविक्रम।*
   कुर्वत: पुरूषव्याध वन्याश्रमपद भवेत्।। *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 66, श्लोक 12*
5. *वर्जनीय सदा युद्ध राज्यकामे न धीमता।* *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 69, श्लोक 232*
6. *ऋ0 3/43/5; रामा0 अयोध्याकाण्ड : 20/21; रामा0 उत्तरकाण्ड : 45/13 ;*
   म0 भा0 शान्तिपर्व : 68/1-4; मनु0 7/44; आपस्तम्ब धर्मसूत्र : 2/10/26/2-3
7. *मनु0 अ0 7, श्लोक 87-89*
8. *रामा0 बालकाण्ड : अ0 25, श्लोक 18*

प्राचीन भारत में प्रजा की रक्षा अर्थात् आत्मरक्षा के लिये लड़े जाने वाले युद्ध के अतिरिक्त अनेक अन्य युद्धों के औचित्य को भी स्वीकारा गया है। रामायण में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा हेतु राम और लक्ष्मण के आसुरिक शक्तियों के विरूद्ध युद्ध का उल्लेख है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मणों की रक्षा और शत्रुओं के विनाश से सम्बन्धित युद्ध को उचित बताया गया है।[2]

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने शरणागत की रक्षा हेतु लड़े जाने वाले युद्ध को भी न्याय संगत माना है।[3]

प्राचीन भारत में राज्य विस्तार अर्थात् साम्राज्य निर्माण हेतु लड़े जाने वाले युद्धों को भी औचित्यपूर्ण मानने की अवधारणा विद्यमान थी। वैदिक काल और महाकाव्य काल में राजा के लिये प्रयुक्त होने वाली विभिन्न उपाधियाँ इस कथन का ज्वलंत प्रमाण है। उदाहरण के लिये ऐतरेय ब्राह्मण में राजाओं के सामने सागर तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना एक छत्र आधिपत्य करने का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।[4] पुरोहितों और अन्य ब्राह्मणों द्वारा बाजपेय, राजसूय और अश्वमेघ जैसे यज्ञों का सम्पादन भी यह प्रमाण है कि प्राचीन भारत में साम्राज्यवादी युद्धों को भी औचित्यपूर्ण माना जाता था।

प्राचीन भारत में अवधारणा भी विद्यमान थी कि युद्ध क्षत्रियोचित कर्म है। महाभारत काल में कृष्ण ने युद्ध को क्षत्रियों का सनातन धर्म बताया था।[5] रामायण तथा महाभारत में युद्ध की तुलना यज्ञ से की गयी है, और युद्ध को यज्ञ के समान ही फलदायक बताया गया है।[6] रामायण और महाभारत की इस विचारधारा का समर्थन कौटिल्य ने भी किया है।[7]

यद्यपि प्रत्यक्षतः युद्ध एक हिंसात्मक एवं विध्वंसात्मक क्रिया है, किन्तु आचार्यों द्वारा

---

1. *रामा0 बालकाण्ड : 22/3*
2. *ऐतरेय ब्राह्मण : 8/17*
3. *रामा0 युद्धकाण्ड : 28/18-20; म0 भा0 शान्तिपर्व : 66/21*
4. *ऐतरेय ब्राह्मण : 8/20*
5. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 70/71*
6. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : 23/27; म0 भा0 शान्तिपर्व : 99/13*
7. *अर्थ0 10/3/32-35*

स्वीकृत साध्य उसे औचित्यपूर्ण आधार प्रदान करते हैं। परन्तु उल्लेखनीय है कि युद्ध के औचित्य को स्वीकार करने के साथ-साथ लगभग सभी प्राचीन आचार्यों ने यथासम्भव युद्ध को अन्तिम विकल्प माना है।

एस.आर. स्टेनमेंटस ने युद्ध को एक दैवी तराजू माना है जिसमें ईश्वर राष्ट्रों को तोलता है और आत्मरक्षा में हीन राष्ट्र से वह जीने का अधिकार छीन लेता है। परोपजीवी राष्ट्र पराधीन बनकर ही जी सकता है। उसे स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकार नहीं है। यह सच है, शान्ति विश्व के स्पष्ट दृष्टाओं की चिर अधूरी अभिलाषा है जबकि युद्ध राष्ट्र का इतिहास है।[1]

प्राचीन आचार्यों ने जिन साध्यों की प्राप्ति हेतु युद्ध के औचित्य को स्वीकारा है, वे अपने युग के अनुरूप हैं और उनमें से अधिकांश युद्ध-साध्य ऐसे हैं, जिनकी प्राप्ति हेतु आधुनिक युग में युद्ध के औचित्य का समर्थन नहीं किया जा सकता है। किन्तु आचार्यों द्वारा स्वीकृत दो युद्ध साध्य ऐसे भी हैं, जिनके संदर्भ में आधुनिक युग में भी युद्ध के औचित्य को स्पष्टत: स्वीकारा जाता है। अपने पड़ौसी राज्य की शत्रु से रक्षा करने से सम्बन्धित जो युद्ध-साध्य स्वीकारा है, उसका महत्व आज भी है। यूरोप में नाटो एवं वारसा सैन्य संधियों का प्रमुख आधार ऐसी ही सैनिक भावना (युद्ध-साध्य) है। इसके अतिरिक्त आत्म-रक्षार्थ युद्ध के औचित्य को समस्त आधुनिक राष्ट्र मान्यता देते हैं।

युद्ध की धार्मिकता—

अतिप्राचीन काल से ही "युद्ध" को "धर्म" का रूप माना जाता रहा है। ऋग्वेद में युद्ध की तुलना यज्ञ से की गयी है। उसके अनुसार सहस्र दक्षिणायुक्त यज्ञ करने पर यजमान को जिस फल की प्राप्ति होती है, वही महानफल युद्धभूमि में वीरगति को प्राप्त हुये योद्धा को मिलता है।[2]

अर्थात "हे देव! जो शूरवीर युद्ध करते हैं और युद्धों में शरीर त्याग करते हैं जो सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं उन सभी को उत्तमलोक में भेजो।"

---

1. *डॉ. गायत्री नाथ पन्त शर्मा : अस्त्रशास्त्र, नेशनलस्टोर्स, नई दिल्ली*

2. *ये युध्यन्ते प्रधनेषु, शूरासो ये तनूत्यज्ञः।*

   ये वा सहस्रदक्षिणास्तोश्विदेवापि मच्छतात्॥ ऋ0 10/154/3 तथा अर्थ0 18/2/17

रामायण में युद्ध को "संग्राम यज्ञ" कहा गया है।[1] महाभारत के अनुसार इस संग्राम यज्ञ में हाथी ऋत्विज, घोड़े, ऊध्वर्यु, शत्रु सैनिकों का मांस हविष्य और उनका रक्त आदि घी है। विविध प्रकार के शास्त्रात्र यज्ञेय उपकरण है। सैनिकों का कोलाहल, सामगान और वषट्कार, मृतकों के कबन्ध यूप, तथा दुन्दुभि घोष उद्‌गाता है। संग्राम के अन्यान्य अंगों को भी यज्ञ के विभिन्न अंगों के समान बताया गया है।[2]

कौटिल्य का भी कहना है कि अनेक यज्ञों को सम्पन्न करके, तप करके तथा यज्ञिय पात्रों का चयन करके ब्राह्मण जिन उच्च लोगों को प्राप्त करता है उनसे भी अधिक उच्च लोकों को वीर क्षत्रिय कर्म-युद्धों में प्राणोत्सर्ग कर क्षणमात्र में प्राप्त कर लेता है।[3]

मनु,[4] याज्ञवज्व,[5] पराशर[6], विष्णु[7] आदि स्मृतिकारों ने भी युद्ध से परांगमुखी न होना क्षत्रिय का धर्म बताया है तथा कहा है कि युद्ध में वीर गति पाने वाले योद्धा को स्वर्गलोक मिलता तथा अश्वमेघ यज्ञ का फल प्राप्त होता है, स्वर्ग में देवकन्यायें उसका वरण करती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी आचार्यों ने युद्ध को क्षत्रिय का धर्म घोषित किया है। किन्तु ध्यान रहे कि युद्ध का कारण शिष्टजनसम्मत हो और धर्मानुकूल भी हो तभी उसे उचित कहा जा सकता है।

---

1. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : 23/27*
2. *म0 भा0 उद्योगपर्व : 141/29-49; शान्तिपर्व : 98/12-26*
3. *यानू यज्ञसंधेस्तपसा व विप्रा:।*

   स्वर्गैषिण: पात्रवयैश्च यन्ति।।

   क्षणेन ताम प्यातियान्ति शूरा:।

   प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्त:।। अर्थ0 10/30
4. *मनु0 अ0 7, श्लोक 87-89*
5. *याज्ञ0 1/324-25*
6. *पराशर0 3/37*
7. *विष्णुस्मृति : 3/44-46*

युद्ध अन्तिम विकल्प—

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने युद्ध को प्रोत्साहन राष्ट्र की रक्षा के निमित्त ही दिया था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह कि प्रायः सभी आचार्यों ने यथासम्भव युद्ध से बचने का आदेश दिया है और इसे विवशता का साधन माना है।

मनु के अनुसार यदि राजा को साम, दाम और भेद इस उपायों में से किसी एक अथवा तीनों से शत्रु पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये, युद्ध से कभी नहीं।[1]

शुक्र ने लिखा है कि यदि शक्तिशाली राजा के आक्रमण से राज्य की रक्षा के निमित्त आक्रान्ता को इतना संकट न प्रतीत हो कि उसका सर्वस्व अपहरण हो जायेगा अथवा उसके प्राणों का संकट ही उपस्थित न हो जाये उस समय तक सामादि उपायों द्वारा युद्ध को टालने का प्रयत्न करना चाहिये।[2]

सोमदेव भी शत्रु के आक्रमण होने पर सर्वप्रथम साम, दाम आदि उपायों द्वारा आक्रमणकारी राजा को वश में करने के लिये प्रयास करने का परामर्श देते हैं। उन्होंने इसी कारण उन मंत्री एवं मित्रों को निन्दनीय माना है जो शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर सन्धि आदि उपाय न बताकर सर्वप्रथम युद्ध करने अथवा देश का परित्याग करने का परामर्श देते हैं।[3]

प्राचीन आचार्यों द्वारा युद्ध से बचने के दिये आदेश का कारण यह है कि युद्ध का परिणाम निश्चित नहीं होता है, परन्तु युद्धरत राष्ट्रों की धन–जन की हानि होना सुनिश्चित होती है।[4] इसलिये उनका स्पष्ट आदेश है कि जब सभी उपाय असफल हो जाँय तब ही युद्ध का मार्ग अपनाना चाहिये।[5]

---

1. *मनु0 अ0 7, श्लोक 198*
2. *शुक्र0 4/31*
3. *नीतिवाक्यामृत युद्ध समुद्देश, श्लोक 1*
4. *युद्धे विनाशो नियतः कदाचिदुभयोरपि।* — *काम0 सर्ग 9, श्लोक 62*
   अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः।
   पराजयश्च सग्रामे तस्माद्युद्ध विवर्जयेत्।। — *मनु0 अ0 7, श्लोक 199*
5. *अयुद्धेनैव विजयं अर्धयेद् वसुधाधिपः।*
   जघन्यमाहुविजयं युद्धेन च नराधिप।। — *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 94, श्लोक 1*
   साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा प्रथक्
   विजेतृ प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।। — *मनु0 अ0 7, श्लोक 198*

युद्ध की परिभाषा एवं लक्षण—

विद्वान् अम्बिका प्रसाद बाजपेयी के शब्दों में स्वार्थसिद्ध के लिये अस्त्रशस्त्रादि से जो व्यापार होता है अथवा अस्त्रशस्त्रादि से शत्रु का जो दमन किया जाता है, वह युद्ध कहलाता है।[1]

शुक्र युद्ध को परिभाषित करते हुय कहा है, "जब परस्पर शत्रुता की भावना को प्राप्त दो व्यक्ति (पक्ष) अपने हितों की सिद्धि हेतु एक-दूसरे के विरूद्ध स्थिर चित होकर शास्त्रालय का प्रयोग करते हैं, तब इसे युद्ध कहते हैं।"[2]

शुक्र ने युद्ध के सामान्य लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

1. युद्ध दो राजाओं या राज्यों का परस्पर संघर्ष था जिसमें सभी प्रकार के बलों का प्रयोग होता था।
2. दो राजाओं या राज्यों का पारस्परिक शत्रुतापूर्ण व्यवहार तथा एक दूसरे को क्षति पहुँचाने की भावना-इसके आवश्यक अंग थे।
3. वह विशेष नियमों या नीतियों द्वारा नियन्त्रित होना चाहिये।
4. परपक्ष को जीतकर उसे अपने आधिपत्य में लाने की इच्छा इसकी प्रेरक शक्ति थी।

उल्लेखनीय है कि भारतीय आचार्यों द्वारा प्रस्तुत युद्ध की परिभाषाओं के मूलतत्व प्राय: वे ही हैं जिन्हें पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। ओपेनहाइम "परपक्ष को पराजित कर उस पर शान्ति स्थापित करने की मनचाही शर्ते थोपने के उद्देश्य से राज्यों के सशस्त्र संघर्ष को युद्ध कहते हैं।"[3] हाल ने इस सन्दर्भ में "हिंसा के प्रयोग को नियन्त्रित" स्वीकार किया है।[4] लारेन्स ने विवाद और इरादा युद्ध के लिये अनिवार्य माने हैं।[5]

युद्ध के प्रकार—

अधिकांश प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में शान्ति का गुणगान है और प्राचीन भारतीय युद्ध की

---

1. *डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0 280*
2. *शत्रु भावसमापन्नोसमयो : संयताकत्मनो।। शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1052*
3. *ओपेनहाइम : इण्टरनेशनल लॉ, भाग-2, पृ0 202*
4. *हाल : ए ट्रिटीज ऑन इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 81*
5. *लॉरेन्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 309*

अपेक्षा नीति के माध्यम से राष्ट्रीय हितों के संरक्षण एवं संवर्द्धन करने में विश्वास रखतें थे। वे युद्ध को राष्ट्रहित में राष्ट्र द्वारा सम्पादित किये जाने वाला आवश्यक बुरा काम मानते थे, क्योंकि कभी-कभी युद्ध से ही राष्ट्र की प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। वैदिक युग में युद्ध और नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था क्योंकि आक्रमणकारी आर्यों ने अपने साम्राज्य की स्थापना के लिये प्रत्येक प्रकार की नीति का अनुसरण स्वहित में किया परन्तु कालान्तर में युद्ध में भी नैतिकता के परिपालन को आवश्यक समझा गया और कुछ व्यवस्थायें स्थापित की गई क्योंकि प्राचीन भारतीय युद्ध को मानवीय तथा राष्ट्रीय हितों के संरक्षण का एक साधन मात्र मानते थे न कि शत्रु के विनाश का माध्यम। इस सम्बन्ध में मनु का मत है कि राष्ट्रीयनीति का उद्देश्य शत्रु को असमर्थ बनाना है न कि उसका विनाश करना। अत: विनाश को कम करने के उद्देश्य से कालान्तर में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कूटयुद्ध की उपयोगिता को स्वीकार कर लिया और कहा कि अन्य किसी विकल्प की अनुपस्थिति में ही युद्ध करना चाहिये।[1]

धर्मशास्त्रों एवं महाकाव्यों में साधारणत: युद्ध के दो प्रकार बताये गये हैं– (1) धर्मयुद्ध और (2) अधर्मयुद्ध अथवा कूट युद्ध।

धर्मयुद्ध–

नैतिक उपयों का आचरण करते हुये शत्रु के प्रति उदार भावों से युद्ध करना धर्मयुद्ध कहलाता हैं यह युद्ध मर्यादित नियमों का भली-भाँति पालन करते हुये प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है, नैतिकता की अवहेलना नहीं होती, छल, कपट का आश्रय नहीं लिया जाता और शत्रु को युद्ध करने के पूर्व तैयार होने के लिये उचित अवसर प्रदान किया जाता है।

इसके अन्तर्गत गजारोही को गजारोही से, अश्वारोही को अश्वारोही से युद्ध करना चाहिये। रथी की टक्कर रथी से और पैदल से पैदल का, शस्त्रधारी का शस्त्रधारी से, अस्त्रधारी का अस्त्रधारी से युद्ध होना चाहिये। जो योद्धा वाहन नष्ट हो जाने पर भूमि पर गिर पड़ा हो, जो नपुंसक हो, हाथ जोड़ रहा हो और जो यह कहता हो कि "मैं तो तुम्हारा दास हूँ," उसका वध नहीं करना चाहिये।[2] अत्यन्त थके हुये कवचहीन शस्त्ररहित, युद्ध से उदासीन, दर्शक, अन्य के साथ युद्ध कर

1. *मनु0 अ0 7, श्लोक 195, 196 एवं 199*

2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 3*

रहे हों उन्हें नहीं मारना चाहिये। जो कुछ खा रहा हो, पी रहा हो, अन्य कार्य में आसक्त हो, भयातुर हो, वृद्ध और बालक को नहीं मारना चाहिये।[1] स्त्री और अकेले राजा पर आक्रमण नहीं करना चाहिये।[2]

प्राचीन भारत के अन्य आचार्यों ने भी धर्म युद्ध के नियमों का लगभग इसी प्रकार वर्णन किया है। रामायण के युद्ध काण्ड में रामचन्द्र के मुख से युद्ध के कतिपय नियमों की ओर संकेत किया गया है, जो युद्ध नहीं करता, जो छिपा हो, जो हाथ जोड़कर शरण में आया हो, जो भाग रहा हो, इन सबको नहीं मारना चाहिये।[3] महाभारत में भी युद्ध के नियमों का उल्लेख मिलता है। भीष्म पर्व में स्पष्ट कहा गया है कि जब निर्धारित नियम के अनुसार युद्ध रोक दिया जाये तो परस्पर प्रीति पूर्ववत् हो जानी चाहिये। दो तुल्य योद्धाओं का ही युद्ध होना चाहिये। जब वाणी का युद्ध हो तो उसका उत्तर वाणी से ही देना चाहिये। जब युद्ध भूमि से सेना हट गई हो तो उस पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं किया जाय। कभी विश्वास से बैठे हुये पर धोखे से शस्त्र का प्रहार नहीं करना चाहिये।[4] याज्ञवलक्य स्मृति में इन्हीं नियमों का उल्लेख मिलता है। "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कहता हुआ, क्लीव, हथियार रहित, दूसरे से युद्ध में संलग्न, युद्ध भूमि से भागे हुये एवं दर्शकों का वध नहीं करना चाहिये।[5] कौटिल्य ने भी रणभूमि में गिरे हुये, रण से विमुख, शरणागत, बिखरे बालों वाले, शस्त्र त्यागी और युद्ध न करने वाले शत्रु को अभयदान देने का समर्थ किया है।[6]

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 13-14, अ0 100, श्लोक 26-28*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 98, श्लोक 48-49*
3. *अयुध्यमानं प्रच्छनं प्रांजलि शरणागतम्।*
   घलायमान मत्वं न हन्तु त्वमिहार्हसि।। *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 80, श्लोक 39*
4. *वाचा युद्ध प्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।*
   निष्कांता : पूतनामध्यान्न हन्तव्या: कदाचन।। *म0 भा0 भीष्मपर्व : अ0 1, श्लोक 28*
5. *याज्ञवलक्यस्मृति : अ0 1, श्लोक 326*
6. *पतित परामुखभिपन्नमुक्तकेशस्त्रभय विस्मेभयश्चाभयमयुध्योनभवश्चदयु:।*
   अर्थ0 अधि0 16, अ0 4, वार्ता 68

अधर्म युद्ध—

अधर्म युद्ध नैतिकता—अनैतिकता का ध्यान न रखकर विजय प्राप्त करने के एकमात्र उद्देश्य से किया जाता है। इसमें छल, कपट, प्रपंच, माया, वंचना जैसे निन्दित अनुचित और अनैतिक तरीके स्वीकृत थे। रामायण एवं महाभारत काल में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। बलशाली बालि को राम ने छिपकर बाण मारा। जटायु पर रावण ने अस्त्र प्रहार किया। रावण के दरबार में राम के दूत हनुमान के साथ अभद्र व्यवहार किया गया। महाभारत में अभिमन्यु की हत्या अधर्म युद्ध का उत्कृष्ट प्रमाण है। मौर्यकाल व गुप्तकाल में भी अधर्म युद्ध के उदाहरण मिलते हैं। मलयकेतु की हत्या विषकन्या द्वारा करायी गयी। महापद्म नन्द की हत्या उस समय की गई जब वह नशे में उन्मत्त अपने शयनागार में था। स्वयं आचार्य चाणक्य ने महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनैकित साधनों के प्रयोग को प्रश्रय दिया था।

कणिक ने जिस कूट युद्ध का वर्णन किया था उसका तात्पर्य अधर्म युद्ध से ही है। नियमबद्ध न होने के कारण उसका एकमात्र उद्देश्य होता था, विजय लाभ करना। इसमें चाहे किसी भी उपाय का सहारा क्यों न लेना पड़े। शत्रु की कमजोरी देखकर उसी समय उस पर चढ़ाई करने का आदेश कणिक ने दिया है। उसकी राय में आपत्ति ग्रस्त शत्रु को मारने में संकोच नहीं करना चाहिये। राजा को अन्धा या बहरा बनाना, शिकारी का सा आचरण करना, मृगचर्मधारण करके विश्वास उत्पन्न करना और अवसर पाकर भेड़िये के समान झपट पड़ना चाहिये। इसमें शरणागत को मारना उचित माना गया है। माया और छल के अतिरिक्त अधर्म युद्ध में साम, दाम, भेद और दण्ड के प्रयोग को भी स्वीकार किया गया है। मंत्रों का प्रयोग अधर्म युद्ध का एक प्रकार माना जा सकता है। तूष्णीय युद्ध को अधर्म युद्ध ही कहा जायेगा। कामन्दक ने भी अधर्म युद्ध की चालों की चर्चा की है। इतना ही नहीं थके और सोये हुये विपक्षियों पर प्रहार करना उचित बताया है। उनके अनुसार ऐसे शत्रु भी बध्य हैं, जिनकी आंखें सूर्य की तेज रोशनी अथवा हवा के कारण बन्द हो गयी हों।[1]

कामन्दक ने युद्ध के दो प्रकार बतलाये हैं—(1) प्रकाश युद्ध, (2) कूट युद्ध। उनका मत है कि—"जब देश काल अपने अनुकूल हो और शत्रु की प्रकृतियों (अमात्य, कोष

---

1. *मनोरमा जौहरी : प्राचीन भारत में राज्य और शासन व्यवस्थायें, पृ0 139*

दण्डादि) में भेद अथवा भिन्न मत हों, ऐसी परिस्थिति में प्रकाश युद्ध का आश्रय लेना उचित होगा। इसके विरूद्ध परिस्थिति होने पर कूट युद्ध का आश्रय लेना चाहिये। कामन्दक के विचारानुसार विशेष ज्ञान से सम्पन्न सत्वगुण और दैव की अनुकूलता लिये हुये उद्योग और सत्य तथा असत्य का विचार कर शत्रु पर उपाय प्रयोग करें। चतुरंगिणी सेना को छोड़कर जहाँ कोष और मंत्र से ही युद्ध होता है वही श्रेष्ठ मंत्र है, जिसमें कोष और मंत्र से ही शत्रु जीता जाता है।[1] किन्तु यदि युद्ध अनिवार्य हो जाये तो जब देशकाल अपने अनुकूल हो और शत्रु की प्रजा उससे विपरीत हो जाये तब बलवान् को प्रकाश युद्ध करना चाहिये इसके विपरीत कूट युद्ध करे।[2]

शुक्रनीति में कई प्रकार के युद्धों विवरण प्राप्त होता है। एक स्थान पर युद्ध प्रक्रिया के आधार पर धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध का उल्लेख किया है।[3] अन्यत्र युद्ध में प्रयुक्त शस्त्रास्त्रों के आधार पर युद्ध के तीन प्रकार स्वीकारें हैं— (1) दैविक युद्ध (मंत्र युद्ध), (2) आसुर युद्ध (यंत्र-युद्ध) तथा (3) मानव युद्ध (शस्त्र व बाहु युद्ध)।[4]

1. दैविक युद्ध—

मंत्रों से प्रेरित करके महाशक्तिशाली बाण आदि के द्वारा जो युद्ध किया जाता था, जिसके द्वारा शत्रु का विनाश किया जाता था, वह दैविक अथवा मांत्रिक युद्ध कहलाता था।[5] युद्ध का यह

---

1. *महाप्रज्ञानसम्पन्नः सत्त्वदैवोपबृहितः।*
   उद्योगाध्यवसायाभ्यामुपायान्निक्षिपेत्परे।।
   चतुरगबलं मुक्त्वा कोषो मन्त्रश्च युध्यते।
   तस्साधुगन्त्रो गन्त्रेण कोषेण च जयेदरीन्।। *काम0 सर्ग 17, श्लोक 1 एवं 2*
2. *विशिष्टो देशाकालाभ्यां भिन्नारिप्रकृतिर्बली।*
   कुर्यात्प्रकाशयुद्धश्च कूटयुद्ध विपर्यये।। *काम0 सर्ग0 18, श्लोक 54*
3. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1171*
4. *मंत्रास्त्रैर्दैविकं युद्ध नालाद्यस्तैस्तथा सुरम्।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1053*
   शत्रुबाहु समुत्त्रं तु मानवं युद्धमीरितम्।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1054*
5. *मंत्रेरितमहाशक्ति वाणधेः शत्रुनाशनम्।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1059*
   मात्रिकास्त्रेण तद्युर्द सर्वयुद्धोत्तम स्मृतम्।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1160*

प्रकार सर्वोपरि माना जाता था।

2. आसुर युद्ध—

नालिक अस्त्रों से होने वाले युद्ध को आसुर युद्ध कहते हैं। आसुर युद्ध में नालिक अस्त्र में अग्निपूर्ण (बारूद) भरकर लक्ष्य पर गोली या गोला भरा जाता था। इस युद्ध को नालिकशास्त्र युद्ध भी कहते हैं। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु का बहुत बड़ा विध्वंस होता था। इसे मध्यम श्रेणी का युद्ध कहा गया है।[1]

3. मानव युद्ध—

मानव युद्ध दो प्रकार का होता है— (क) शस्त्र युद्ध तथा (ख) बाहुयद्ध

(क) शस्त्र युद्ध—

सैनिकों की भुजाओं से शस्त्र चलाकर जो युद्ध किया जाता है उसे शस्त्र युद्ध कहते हैं। इस प्रकार के युद्ध में कुन्ति आदि शस्त्रों से शत्रु का विनाश किया जाता है।[2] इसे कनिष्ठ श्रेणी का युद्ध मानते हैं।[3]

(ख) बाहु युद्ध—

उलट–पलट कर शत्रु को खींचतान कर उसी संधियों को चोट पहुँचा कर जो युद्ध किया जाता है उसे बाहु युद्ध कहते हैं। इसे अधम युद्ध माना गया है।[4]

आचार्य कौटिल्य ने युद्ध के तीन प्रमुख प्रकार बताये हैं—

(1) प्रकाश युद्ध अथवा धर्मयुद्ध, (2) कूट युद्ध और (3) तूष्णी युद्ध।[5]

यद्यपि अर्थशास्त्र में इस विषय का उल्लेख नहीं किया है कि प्रकाश युद्ध एवं धर्म युद्ध दोनों के ही एक प्रकार से दो विभिन्न नाम हैं परन्तु उन्होंने धर्म युद्ध की परिभाषा वही है जो प्रकाश

---

1. *नालिकास्त्रेण तद्युदं महाह्यनाशकरं रिपोः।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1161*

   नालिकास्त्रेण मध्यम्।। *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1158*

2. *कुन्तीदिशस्त्रं संघाते रिपुणांनाशनं चयत।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1161*

3. *शस्त्रैः कनिष्ठयुद्धंतु।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1059*

4. *बाहू युद्धं ततो धमम्।।* *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1059*

5. *विक्रमत्य प्रकाश युद्ध कूट युद्ध तूर्ष्णीयुद्धाति संधि विक्रमो।। अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 21*

युद्ध की। देश एवं काल का निश्चय कर और उसको प्रकाशित करके जो युद्ध कियां जाये उसको प्रकाश युद्ध के नाम से सम्बोधित किया है। छल, कपट द्वारा भय प्रकट करना, दुर्गों को ढहाना, लूट-मार करना, अग्निदाह करना, प्रमाद और व्यसन ग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध को रोक कर दूसरे स्थान पर छल से मार-काट मचाना, यह कूट युद्ध के लक्षण बताये हैं। विष और औषधि प्रयोग, गुप्त पुरूषों द्वारा वध कराना अथवा भेद लेना तूष्णी युद्ध के लक्षण बताये हैं।[1]

कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें अलग-अलग आश्रय लेकर युद्ध किया जाता है। प्रकाश युद्धा की परिस्थिति का उल्लेख इस प्रकार है—जब विजयाभिलाषी राजा उत्तम सेना से युक्त हो, षड्यन्त्रों में सफल हो चुका हो, आयत् निवारण हेतु उपाय कर चुका हो, युद्ध के अनुकूल स्थान प्राप्त कर चुका हो, तब प्रकाश युद्ध करना चाहिये,[2] अन्यथा कूट युद्ध का ही आश्रय लेना उचित होगा।[3]

अशोक के शिलालेखों में भी युद्ध के प्रकारों की चर्चा मिलती है। मानवधर्मशास्त्र में स्थल युद्ध, गिरियुद्ध, बन युद्ध तथा जल युद्ध का उल्लेख है।[4] महाभारत में तो रात्रि युद्ध का भी उल्लेख मिलता है। रात में युद्ध वर्जित होने के कारण रात्रि युद्ध अधर्म युद्ध का एक प्रकार माना गया है। रामायण और महाभारत में माया को युद्ध का एक प्रकार माना गया है। इन्द्रजीत ने युद्ध भूमि में माया द्वारा निर्मित प्रतिमूर्ति का शिरोच्छेदन करके बानरों को भयभीत कर दिया था।[5] रावण और

---

1. *प्रकाश युद्ध निर्दिष्टो देशेकाले च विक्रम:।*
   विभिष्णमवस्कन्द: प्रमादव्यसनार्दनम्।। *अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 46*
   एकत्रत्यागधार्ता च कूटयुद्धस्यमातृका।
   योंग गूढ़ोपजापायें तुष्णीयुद्धत्य लक्षणम्।। *अर्थ0 अधि0 7, अ0 6, वार्ता 47*
2. *बलविशिष्ट : कृतोपजाप: प्रतिविहित कुर्तु: स्वभूम्यां प्रकाशयुद्धमुपेयात्।।*
   अर्थ0 अधि0 10, अ0 3, वार्ता 1
3. *विपर्यथे कूटयुद्धम्।।* *अर्थ0 अधि0 10, अ0 3, वार्ता 2*
4. *मनु0 अ0 7, श्लोक 192*
   वी. आर. आर. दीक्षितार : वार इन एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ0 59
5. *रामा0 युद्धकाण्ड : अ0 81, श्लोक 26-31*

मेघनाद आकाश के आवरण में युद्ध करते और उसी में अपने को अदृष्ट कर लेते थे।[1] कौटिल्य ने माया युद्ध को अधिक प्रधानता दी है।

माया युद्ध के साधन थे[2]— चर व्यवस्था, विष प्रयोग, शत्रु सेना में भ्रम डाल देना, अफवाह फैलाना, शत्रु सेना अथवा उसके प्रदेश में छिप कर प्रवेश करना, शत्रु पक्ष को उपजापित करना तथा अपयुक्त अवसर पाकर उस पर गुप्त रूप से प्रहार करना।

माया प्रयोग वर्तमान काल में भी प्रधानता प्राप्त कर चुका है परन्तु इसका प्रयोग बहुत कम होता है।[3]

कुछ चिन्तकों ने दो प्रकार के युद्धों का प्रयोग किया है—व्यायाम युद्ध और मंत्र युद्ध। रण भूमि में अस्त्र-शस्त्र आदि का प्रयोग करके नष्ट करना व्यायाम युद्ध है। रसद और तीक्ष्णगूढ़ पुरूषों के माध्यम से अभिचार योग, वामन द्वारा शत्रु का विनाश करना मंत्र युद्ध है। मंत्र युद्ध को विशेष प्रधानता प्रदान की गयी है क्योंकि धनुर्धारी के धनुष से छोड़े गये बाणों से सम्भव है एक भी व्यक्ति की मृत्यु न हो जाये, परन्तु प्राज्ञ पुरूष अपने बुद्धिबल से गर्भ स्थिति प्राणियों तक को नष्ट कर देता है।[4]

आचार्य कौटिल्य ने युद्ध के विषय में तीन प्रकार की भूमि का उल्लेख किया है—सम, विषम और मिश्रित।[5]

मनु ने भी सम, विषम और जलीय, तीन प्रकार की भूमि का वर्णन किया है।[6] कामन्दक

---

1. *रामा० युद्धकाण्ड : अ० 73, श्लोक 88*
2. *म० भा० द्रोणपर्व : अ० 15, श्लोक 41-47; म० भा० शान्तिपर्व : अ० 103*
3. *हेग कन्वेन्शन, नियम 23*
4. *एकं हन्यात्र वा हन्यादिषु: क्षिप्तो धनुष्मता।*

   प्राज्ञेन तु मति: शिप्ता हन्याद्भर्गगातानपि।। *अर्थ० 10/6/55*

   प्रायो मन्त्रेण योद्धव्यमल्पायासेनक चैव हि।

   अल्प: कालस्तु देशो वाप्रभूतो च क्षयव्ययों।। *काम० सर्ग 19, श्लोक 16*
5. *अर्थ० 10/4*
6. *मनु० अ० 7, श्लोक 192*

भी सम, विषम और मिश्र भूमि का उल्लेख करते हैं।[1] भीष्म के अनुसार जिस ओर वायु, शुक्र और सूर्य हो उसी ओर पीठ करनी चाहिये।[2] युद्ध स्थल पर शंख भेरी दुंदभी आदि वाद्यों का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत में अनेक वीरों ने विभिन्न प्रकार के शंख बाद्यों का प्रयोग किया था। कृष्ण के शंख का नाम पांचजन्य, अर्जुन के शंख का नाम देवदत्त तथा महाबली भीमसेन के शंख का नाम पौण्ड्र था।

विजयी राजाओं के प्रकार—

कौटिल्य तथा सोमदेव सूरि ने विजयी राजाओं को उनके गुणों के आधार पर तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—(1) धर्मविजयी, (2) लोभविजयी तथा (3) असुरविजयी।[3]

1. धर्मविजयी—

जो राजा पराजित शत्रु एवं उसकी प्रजा के प्राण, धन और मान की रक्षा करता हुआ उनके प्रति अन्याय नहीं करता तथा नियत कर से ही संतुष्ट रहता है अर्थात् शत्रु राजा के प्राण एवं धनादि को नष्ट नहीं करता एवं प्रजा को भी किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाता उसे धर्मविजयी कहते हैं।[4] धर्मविजयी राजा प्रतिपक्षी के आत्मसर्मण से ही सन्तुष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में, धर्मविजय में पराजित शत्रु को केवल विजिगीषु की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। इसके परिणामस्वरूप युद्ध की विभीषिका तो बच ही जाती है, साथ ही विजयी राजा पराजित राजा को उसके अन्य शत्रुओं से रक्षा करने के लिये भी आश्वस्त करता है।[5]

2. लोभविजयी—

जो राजा पराजित शत्रु एवं उसकी प्रजा के प्राण और मान की तो रक्षा करता है किन्तु

---

1. *काम0 सर्ग 20/10–14*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 100/19–20*
3. *अर्थ0 12/1/11*
4. *स धर्मविजयी राजा यै विधेयमात्रेणेव सन्तुष्टः।*
   प्रणार्थमानेषु न व्यभिचरति।। *नीतिवाक्या0 युद्ध समुद्देश, श्लोक 70*
5. *तेषाभ्यवपत्त्या धर्मविजयी तुष्यति।*
   तमभ्य वपद्येत परेषामपि भयात्।। *अर्थ0 12/1/12–13*

उनसे बलपूर्वक भूमि तथा धन ग्रहण करता है, उसे लोभविजयी कहते हैं।[1] उसे भूमि और धन देकर सन्तुष्ट किया जा सकता है[2] और इस प्रकार भी युद्ध की विभीषिका बचायी जा सकती है।

3. असुरविजयी—

जो राजा पराजित शत्रु का वध करके उसके राज्य पर अधिकार कर लेता है एवं प्रजा के भी प्राण, धन और सम्मान का नाश कर देता है, उसे असुरविजयी कहते हैं।[3]

असुर विजयी केवल भूमि और द्रव्य पाकर ही सन्तुष्ट नहीं होता है, वह पराजित शत्रु का पुत्र, स्त्री और प्राण तक का अपहरण करता है। वह अपने शत्रु को पूर्णतः विनष्ट करके ही सन्तुष्ट होता है— उसके राज्य को तो आत्मसात कर ही लेता है, साथ ही उसे परिवार का भी समूलोच्छेदन कर देता है। कौटिल्य का आदेश है कि असुर विजयी राजा को उसकी इच्छानुसार भूमि और धन देकर सन्तुष्ट करने का प्रयास करना चाहिये अथवा मन्त्र युद्ध या कूट युद्ध द्वारा उसका प्रतिरोध करना चाहिये।[4]

युद्ध के कारण—

भारतीय का प्राचीन इतिहास साक्षी है कि उस समय देश में बहुधा युद्ध हुआ करते थे। यह युद्ध दो वर्गों में विभजित किये जा सकते हैं—(1) बाह्य आक्रान्ताओं के साथ युद्ध और (2) भारतीय शासकों के पारस्परिक युद्ध। प्राचीन काल में भारत को अनेक विदेशी आक्रान्ताओं से युद्ध करना पड़ा था—ईरानी, यवन, शक, पहलव, कुषाण, हूण तथा अरब और तर्क। इन सबके साथ युद्ध का एक ही कारण था-देश और धर्म की रक्षा करना। यह सभी युद्ध रक्षात्मक थे। भारतीय शासकों द्वारा बाह्य राज्यों पर आक्रमण के उदाहरण नगण्य है। केवल दक्षिण भारत के कतिपय

---

1. *स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतः।*
   प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरित।। *नीतिवाक्या0 युद्ध समुद्देश, श्लोक 71*
2. *भूमिद्रव्यहरणेन लोभविजयी तुष्यति।*
   तमर्थेनाभ्यवपद्येत। *अर्थ0 12/1/14-15*
3. *सो सुरविजयी च : प्राणार्थमानोपद्यातेन महीमभिलषति। नीतिवाक्या0 युद्ध समुद्देश, श्लोक 72*
4. *भूमिद्रव्यदारहरणेनामुरविजयो, तं भूमिद्रव्या भ्यामुपगहयाग्राहयः प्रतिकुर्वीत।*
   तेषामुतिष्ठमानं संधिना मन्त्रयुद्धेन वा प्रतिव्यूहेत।। अर्थ0 12/1/16-17

राजाओं ने साम्राज्य-लिप्सा से प्रेरित होकर श्रीलंका तथा हिन्द महासागर के कतिपय द्वीपों पर आक्रमण किये थे।

भारतीय राज्यों के पारस्परिक युद्धों के कारण ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। रामायण में युद्ध के तीन मूल कारण माने गये हैं—(1) भूमि, (2) हिरण्य तथा (3) रूप।[1] शुक्र के अनुसार भी भूमि, धन तथा स्त्रियों के कारण युद्ध हुआ करते थे।[2]

प्राचीन समय में राजनीतिविशारदों ने राज्यों में परस्पर शत्रुता के अनेक कारण बताये थे, जिनसे परस्पर युद्ध हो सकते थे। वे कारण इस प्रकार हैं—

1. सामाजिक ढ़ांचा एवं सांग्रामिक मनोवृत्ति—

प्राचीन आचार्यों ने समाज के एक वर्ग-क्षत्रिय वर्ण-का कर्त्तव्य राज्य की रक्षा और उसके निमित्त युद्ध करना निर्धारित कर दिया था। वे शत्रु को पराजित करना अथवा संग्राम में वीरगति प्राप्त करना ही क्षात्र-धर्म मानते थे। इस भावना के फलस्वरूप देश में युद्ध की प्रवृत्ति अत्याधिक बढ़ गयी जिसके परिणामत: साधारण घटनायें भी युद्ध का रूप धारण कर लेती थी। युद्ध के प्रसंग न होने पर उनको बेचैनी होने लगती थी और वे युद्ध के लिये अवसर खोजते थे। युद्धेच्छाजन्य खुजली मिटाने के लिये बालि अपने पास वीर योद्धाओं को रखता था। युद्ध करना क्षत्रियों के लिये महोत्सवों के रूप में था। एक बार कलिंग के राजा ने मन्त्रियों से कहा—"मेरी युद्ध करने की इचछा है, परन्तु कोई क्षत्रिय दिखायी नहीं देता।" मन्त्रियों ने कहा कि "आप अपनी कन्याओं को ग्रामों और नगरों में घुमाइये। जो राजा इनको घर से ले जाना चाहे, उससे युद्ध कीजिये।"[3]

2. चक्रवर्ती पद की प्राप्ति एवं साम्राज्यलिप्सा—

दिग्विजय करके चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना करना राजा अपना धर्म समझते थे।[4] शासन को अधिगत करने तथा राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के अनन्तर राजा का कर्त्तव्य था कि वह दिग्विजय के लिये प्रस्थान करे। वैदिक युग से ही भारतीय राजाओं के सम्मुख एकराट् अथवा सार्वभौम

---

1. *भूमिहिरण्य रूप्यं च निग्रहेकारणानि व।* *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 17, श्लोक 27*
2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1084*
3. *डॉ. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थायें, पृ0 367*
4. *डॉ. एच. सी. राय चौधरी : पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 445*

सम्राट बनने का आदर्श रखा गया था। राजसूय, अश्वमेघ आदि यज्ञों का यही उद्देश्य था। आर्यों ने साम्राज्य के विस्तार को राजनीति और धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार कर लिया था।[1]

प्राचीन समय में भारत की राजनीतिक एकता की सुन्दर कल्पना की गयी थी। राजाओं की दिग्विजय यात्राओं के प्रसंग में कवियों ने इनका वर्णन किया है। भरतखण्ड की सीमायें समुद्रों पर्यन्त विस्तृत मानी गयी थीं। चक्रवर्ती पराक्रमी सम्राट इस एकता को अक्षुण्ण रखने हेतु सदैव सचेष्ट रहते थे। महाकाव्यों तथा पुराणों में इस विचार को उद्भावित किया गया है। कालिदास ने रघु की दिग्विजय के द्वारा भारत की सीमाओं का विस्तृत विशद विचार प्रस्तुत किया था। विशाखदत्त ने कामना की थी कि उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक शासन में बंधा होना चाहिये।[2] राजा का आदेश चारों समुद्रों पर्यन्त अप्रतिहत होना चाहिये।[3] ऐतिहासिक अभिलेखों से भी अनेक दिग्विजयी राजा और उनके युद्धों का विवरण प्राप्त होता है। मौर्य एवं गुप्त सम्राटों ने इसी उद्देश्य से युद्ध किये थे। मध्ययुगीन छोटे-बड़े सभी राजा अपनी प्रशस्तियों में हिमालय से लेकर सेतु बन्ध तक और पूर्वी समुद्र से पश्चिमी पयोधि तक साम्राज्य स्थापित करने का दावा करते हैं।[4] राजशेखर का मत था कि राजाओं के राज्य का विस्तार उत्तर में गंगा के उद्गम से लेकर दक्षिण में ताम्रपर्णी नदी तक होना चाहिये।[5]

3. यश की प्राप्ति–

प्राचीन समय में वीर योद्धा यश की प्राप्ति हेतु भी युद्ध के लिये प्रेरित होते थे। युद्ध में विजयी होने से यश प्राप्त होता है। जब कोई राज्य अधिक शक्तिशाली हो जाता था, तो अधिक यशस्वी होने के लिये वह दिग्विजयी होने का स्वप्न देखने लगता था।[6] युद्ध में विजयी राजाओं की कीर्ति द्वारा दिग्दिगन्तों के शुभ होने की कल्पना अनेक ग्रन्थों में की गयी हैं।[7]

---

1. *ऐतरेय ब्राह्मण : 39/1/15*
2. *मुद्राराक्षस : 3/19*
3. *मुद्राराक्षस : 3/24*
4. *चन्देलाज ऑफ जेजाक भुक्ति, पृ0 41-43*
5. *बिद्धसालभञ्जिका – भरतवाक्यं*
6. *टी. बी. मुखर्जी : इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 51*
7. *रघुवंश : 4/26; जानकीहरण : 16/25*

4. मित्र की सहायता—

मित्र की सहायता के लिये भी युद्ध किये जाते थे। राम ने सुग्रीव की सहायता के लिये बाली का वध किया तथा सुग्रीव ने राम की सहायता के लिये रावण से युद्ध किया। कंस के मारे जाने पर उसके मित्र जरासन्ध ने मथुरा पर आक्रमण किया था। महाभारत के युद्ध में कौरवों तथा पाण्डवों के मित्र राजाओं ने अपने-अपने मित्र पक्ष की ओर से युद्ध किया था।

5. गोग्रह—

प्राचीन भारत में गोग्रह भी युद्ध का कारण बन जाता था। उस युग में गोधन का अत्याधिक महत्व था। अत: शक्तिशाली राजा प्रतिपक्ष की गायों का अपहरण किया करते थे। कौरवों ने गोधन को लूटने के लिये विराट् पर आक्रमण किया था।[1]

6. स्त्रियों के सम्मान की रक्षा तथा स्त्री प्राप्ति की अभिलाषा—

भारतीय समाज में स्त्रियों के सम्मान की रक्षा करना परम कर्त्तव्य समझा गया है। राम ने सीता को अपमानित करने वाले रावण का विनाश किया।[2] द्रौपदी को अपमानित करने के कारण महाभारत युद्ध हुआ था।[3]

स्त्रियों को प्राप्त करने की इच्छा के कारण भी अनेक युद्धों का प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णन है। स्त्री का अपहरण करने पर युद्ध हो सकता था। भीष्म द्वारा काशीराज की पुत्रियों के अपहरण करने के कारण भीष्म का उन राजाओं से युद्ध प्रारम्भ हो गया जो स्वयंवर में काशीराज की पुत्रियों से विवाह करना चाहते थे।[4] कृष्ण द्वारा रूक्मिणी का अपहरण कर विवाह करने के कारण, कृष्ण के अन्य राजाओं के साथ संघर्ष उत्पन्न हो गये थे जिनमें एक शिशुपाल था।[5] अर्जुन द्वारा सुभद्रा के अपहरण करने के फलस्वरूप अर्जुन को भोजों और औधकों के साथ संघर्ष प्रारम्भ हो गया था।[6] पृथ्वीराजविजय तथा पृथ्वीराज रासो से विदित होता है कि पृथ्वीराज (तृतीय) चाहमान के

---

1. *म० भा० विराटपर्व के अन्तर्गत गोहरणपर्व।*
2. *रामा० युद्धकाण्ड : अ० 108, श्लोक 16-19*
3. *म० भा० सभापर्व : 67/27, 71/1-3, 10/12; शान्तिपर्व : 18/21*
4. *म० भा० आदिपर्व : अ० 102, श्लोक 25*
5. *शिशुपाल वध : 20/6*
6. *म० भा० आदिपर्व : अ० 219, श्लोक 12*

अनेक युद्ध स्त्री प्राप्त करने की इच्छा से हुये थे। पृथ्वीराज ने संयोगिता का अपहरण किया था। इस कारण उसके पिता गाहड़वाल नरेश जयचन्द्र के साथ जो परस्पर वैमनस्य हुआ, उसी के कारण भारतवर्ष में मुहम्मद गौरी की विजय का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिसके फलस्वरूप भारतीयों को हजारों वर्ष तक गुलामी का अभिशाप भोगना पड़ा।

पुराणों तथा महाभारत में अनेकश: स्वयंवरों में विभिन्न राजाओं के मध्य प्रतिस्पर्धा-जनित युद्धों के उदाहरण मिलते हैं। स्वयंवर में किसी राजा या राजकुमार के वर के रूप में चयनित होने पर अन्य राजा युद्ध करने के लिये तैयार हो जाते थे। इन्दुमती स्वयंवर में इन्दुमती द्वारा अज का वरण कर लेने पर अन्य राजाओं ने उसको घेर कर मारने का उद्योग किया था। द्रौपदी स्वयंवर में ब्राह्मणवेशध ारी अर्जुन ने मत्स्यवेध की शर्त पूरी कर जब द्रौपदी को पाया तो अन्य राजाओं के पाण्डवों एवं द्रुपद के साथ संघर्ष प्रारम्भ हो गये।[1]

7. पारस्परिक ईर्ष्या एवं प्रतिस्पर्धा—

राजाओं की पारस्परिक ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा के कारण भी प्राय: युद्ध हुआ करते थे। उदाहरणार्थ गुजरात के चालुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज का चारणों से यह सुनना कि महोबा का चन्देल राजा मदनवर्मन भी उसके समान ही वैभवशाली है, चन्देल राज्य पर उसके आक्रमण का कारण बन गया।[2]

8. धन तथा अन्य वस्तुओं की प्राप्ति—

धन को प्राप्त करने के लिये भी अनेक बार युद्ध किये जाते थे। कौत्स को गुरू दक्षिणा के निमित्त धन देने के लिये रघु ने कुबेर पर चढ़ाई करने का आदेश दिया था। एक ही वस्तु को जब दो पक्ष एक साथ प्राप्त करना चाहते हों तो उनमें युद्ध की स्थिति अनिवार्य हो जाती है।

9. प्रतिशोध की भावना—

प्रतिशोध की भावना से भी युद्ध किये जाते थे। शूर्पणखा के अपमान का बदला लेने के लिये खर और दूषण ने राम पर आक्रमण किया और रावण ने सीता का अपहरण कर भयानक युद्ध का बीजारोपण किया। अपमान का बदला लेने के लिये सुग्रीव ने बाली का वध कराया। कृष्ण ने

---

1. *म0 भा0 आदिपर्व : 118/12,1 4, 18 ; अग्नि0 7/11 एवं 17*
2. *कुमारपाल प्रबन्ध : पृ0 7-8*

शिशुपाल का वध भी बदला लेने के लिये किया था।

10. अत्याचार से रक्षा—

धार्मिक वीर राजा अत्याचारों से प्रजाजनों की रक्षा करने और अत्याचारियों का समाप्त करने के लिये युद्ध करते थे। कंस और जरासन्ध के अत्याचारों का कृष्ण ने युद्ध द्वारा निराकरण किया था। एकचक्रा नगरी के नागरिकों की बक राक्षस के अत्याचारों से रक्षा करने के लिये भीम ने उसका युद्ध में वध कर दिया था। राम ने दण्डकारण्य में ऋषियों की रक्षा राक्षसों के अत्याचारों से की थी।

व्यूह—

युद्ध भूमि में सेना और उसके विभिन्न अंगों को विभिन्न प्रकार से संयोजित करने की प्रक्रिया को व्यूह कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अपनी समस्त सेना को युद्ध-भूमि में इस प्रकार संयोजित किया जाये कि अपनी कम से कम हानि उठाकर शत्रु-सेना का अधिक से अधिक विनाश कम से कम समय में कर दिया जाये अस्त्र-शस्त्र डालने के लिये बाध्य कर दिया जाये।

युद्धकला की दृष्टि से प्राचीन भारतीय लगभग वैसी ही कूटयोजनात्मक तथा समरतान्त्रिक संरचनाओं को अपनाते थे जैसी कि आज अपनायी जाती है। आज की युद्धकला में हैमर एवं एनबिल थ्योरी, डबल इनवेलपमेंट पेनिट्रेशन, टर्निंग मूवमेंट, स्ट्रैटेजिक फ्लैंक मूवमेंट, स्ट्रेटेजी आफ इनडाइरेक्ट एप्रोच को अपनाया जाता है और फायर एण्ड मूवमेंट के सिद्धान्त के आधार पर सैन्य दल अपनी सांग्रमिक क्रियायें सम्पादित करते हैं।[1] आधुनिक संग्रामिक संरचनाओं और मौर्चे बन्दी के अनुरूप ही प्राचीन भारतीयों ने विभिन्न प्रकार की व्यूह रचनाओं की व्याख्या की है।

व्यूहों के दो प्रकार बतायें गये हैं, यथा-युद्ध व्यूह एवं मिश्र व्यूह। युद्ध व्यूह एक ही बल का होता है और मिश्र व्यूह दो या अधिक बलों का। युद्ध व्यूह जब पदातियों का बनाया जाता था तब कवच पहने सैनिक उरस्य में धर्नुधर (तीरन्दाज) पर्ष्णि तथा कक्षों में और बिना कवच के योद्धा पक्षों में रखे जाते थे। अश्व व्यूहों में वर्म (कवच) पहने घोड़े उरस्य में तथा वर्म रहित अश्व कक्षों और पक्षों में खड़े किये जाते थे। गज व्यूह में उरस्य में वे हाथी रखे जाते थे जो युद्ध के लिये प्रशिक्षित किये जाते थे, कक्षों में सवारी वाले हाथी थे और पक्षों में बदमाश हाथी खड़े किये जाते थे,

1. *डी.के. पालित : ऐशेन्सियल्स ऑफ मिलिट्री नॉलेज, अ0 1 एवं 2*

कक्षों में सवारी वाले हाथी थे और पक्षों में बदमाश हाथी खड़े किये जाते थे। मिश्र व्यूहों में दो बलों की मुख्यता रहती थी। किसी में पैदलों और घोड़ों की और किसी में हाथियों और रथों की। उरस्य में रथ, पक्षों और कक्षों में हाथी रखने से अच्छा व्यूह बना था।[1]

आचार्य कौटिल्य ने व्यूहों के चार प्रकार बताये हैं, यथा-दण्ड व्यूह, भोग व्यूह, मण्डल तथा असंहत व्यूह। कौटिल्य का मत है कि समतल भूमि पर दण्ड व्यूह तथा मण्डल व्यूह और ऊबड़ खाबड़ भूमि पर भोग व्यूह एवं असंहत व्यूह की रचना की जानी चाहिये।[2]

अग्नि पुराण की व्याख्या है कि यदि सामने से भय हो तो मकर या सूची व्यूह, पीछे से भय हो तो शकट व्यूह और पार्श्व भय हो तो बज्रव्यूह और अगर चारों तरफ से भय हो तो चक्रव्यूह का निर्माण किया जाये।[3] कौटिल्य के दण्ड व्यूह को मकर व्यूह और भोग व्यूह को सूची और सकट व्यूह, असंहत व्यूह को बज्रव्यूह तथा मण्डल व्यूह को चक्रव्यूह का नाम अग्नि पुराण में दिया गया है। आचार्य शुक्र ने विभिन्न प्रकार के व्यूहों की व्याख्या इस प्रकार की है, यथा-क्रोंच व्यूह, सेना व्यूह, मकर व्यूह सूची व्यूह, चक्र व्यूह, सर्वतोभद्र व्यूह, शकट व्यूह एवं ब्याल व्यूह।[4] आचार्य मनु ने व्यूहों के नामों की व्याख्या इस प्रकार की है, यथा-दण्ड व्यूह, शकर व्यूह, वाराह व्यूह, मकर व्यूह, सूची व्यूह, गरूण व्यूह एवं पदम् व्यूह।[5]

मनु, शुक्र तथा कौटिल्य ने जिन व्यूहों की व्याख्या की है लगभग उन सभी व्यूहों का वर्णन रामायण तथा महाभारत में उपलब्ध है।[6] इससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक सैन्य विचारकों के अनुरूप ही प्राचीन भारतीय विभिन्न प्रकार की सांग्रमिक संरचनाओं को अपनाते थे और वे व्यूह रचना चातुर्य में अत्याधिक प्रवीण थे क्योंकि व्यूहों में सैन्य शक्ति को इस प्रकार संयोजित किया जाता था कि बहुसंख्यक सेना अल्पसंख्यक तथा अल्पसंख्यक सेना बहुसंख्यक, शत्रु को दिखायी

1. *डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0 291*
2. *अर्थ0 10/6*
3. *अग्नि0 242/35*
4. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1111-1115*
5. *मनु0 अ0 7, श्लोक 188 -189*
6. *रामा0 किष्किंधाकाण्ड एवं युद्धकाण्ड; म0 भा0 भीष्मपर्व, द्रोणपर्व एवं कर्णपर्व*

पड़ती थी।

कौटिल्य की व्याख्या है कि व्यूह का निर्माण शरीरांगों के अनुरूप करना चाहिये यथा– दो पक्ष, दो कक्ष एवं एक उत्स्य। कौटिल्य ने सैन्य संख्या की सम्यकता एवं विभिन्नता के आधार पर व्यूहों को सम तथा विषम दो श्रेणियों में विभक्त किया है।[1] सम, विषय तथा व्यामिश्र युद्धभूमि के आधार पर कौटिल्य ने कहा है कि समभूमि में दण्ड तथा मण्डल व्यूह की और विषम भूमि में भोजव्यूह तथा असंहत व्यूह की रचना की जाये।[2] अग्निपुराण में सप्तांगी व्यूह यथा-पुर, दो कक्ष, दो पक्ष, मध्य, पृष्ठ एवं कोटि, का वर्णन है।[3] सेनांगों के अनुप्रयोग के आधार पर व्यूहों के दो प्रकार बताये गये हैं, यथा-शुद्ध व्यूह एवं मिश्र व्यूह। शुद्ध व्यूह एक ही बल का होता है और मिश्र व्यूह दो या अधिक बलों का। शुद्ध व्यूह जब पदातियों का बनाया जाता था तब कवच पहने सैनिक उरस्य में धर्नुधर (तीरन्दाज) पार्ष्णि तथा कक्षों में और बिना कवच के योद्धा पक्षों में रखे जाते थे। अश्व व्यूहों में वर्म (कवच) पहने घोड़े उरस्य में तथा वर्म रहित अश्व कक्षों और पक्षों में खड़े किये जाते थे। गज व्यूह में उरस्य में वे हाथी रखे जाते थे जो युद्ध के लिये प्रशिक्षित किये जाते थे, कक्षों में सवारी वाले हाथी होते थे और पक्षों में बदमाश हाथी खड़े किये जाते थे। मिश्र व्यूहों में दो बलों की मुख्यता रहती थी। किसी में पैदलों और घोड़ों की और किसी मे हाथियों और रथों की। उरस्य में रथ, पक्षों में घोड़े और कक्षों में हाथी रखने से अच्छा व्यूह बनता था।[4]

उपर्युक्त वर्णन का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि प्राचीन आचार्यो ने अनेकानेक व्यूहों की व्यवस्था प्रतिपादित की है और यह उनकी सामरिक सैन्य प्रतिभा की श्रेष्ठता का प्रतीक है। प्राचीन भारत में प्रयुक्त व्यूहों के नाम, उपर्युक्त वर्णनुसार, इस प्रकार हैं:—दण्ड व्यूह, भोग व्यूह, सेना व्यूह, असंहत व्यूह, मकर व्यूह, सूची व्यूह, शकर व्यूह, बज्र व्यूह, चक्र व्यूह, मण्डल सेना व्यूह, सर्वतोभद्र व्यूह,कोंच व्यूह व्याल व्यूह, वराह व्यूह, गरूण व्यूह एवं पद्म व्यूह जिन्हें प्रयुक्त सेना के आधार पर शुद्ध व्यूह, मिश्रित व्यूह, सम व्यूह एवं विषम व्यूह का नाम भी दिया गया है। इन

---

1. *अर्थ0 10/5*
2. *अर्थ0 10/3*
3. *अग्नि0 242*
4. *डॉ0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ0 291*

व्यूहों की संक्षिप्त व्याख्या अग्रप्रकार है—

1. दण्ड व्यूह—

कौटिल्य के अनुसार पक्ष, कक्ष तथा उरस्य में समान सैन्य शक्ति होने से दण्ड व्यूह का निर्माण होता है। इसमें प्रदरव्यूह, दृढकवचव्यूह, असहयव्यूह, श्येनव्यूह, संजयव्यूह, विजयव्यूह, विशाल विजयव्यूह, चमूमुखव्यूह, सूचीव्यूह, वलयव्यूह, चापव्यूह, चावकुक्षिव्यूह, स्थूलकणव्यूह, प्रतिष्ठाव्यूह, सुप्रतिष्ठव्यूह आदि आते हैं।[1] जब कक्ष भाग से शत्रु पर चढ़ाई की जाती है तो उसे प्रदर व्यूह, और जब पक्ष स्थित सेना मुड़कर शत्रु पर आक्रमण करे तो 'दृढ़क व्यूह' और जब यह आक्रमण अत्याधिक वेग से किया जाये तो असहय व्यूह बनता है परन्तु जब दोनों पक्ष स्थिर रहे और उरस्य सैन्यदल शत्रु पर आक्रमण करे तो श्येन व्यूह करलाता है। मनुस्मृति के टीका पर पं. हर गोविन्द शास्त्री का मत है कि दण्ड व्यूह में आगे बलाध्यक्ष, बीच में राजा, पीछे सेनापति तथा दोनों पाश्वों पर चतुरांगिणी सेना नियुक्त की जाती है।[2]

2. भोग व्यूह—

कौटिल्य का मत है कि पक्ष कक्ष तथा उरस्य स्थानों में विषम सैन्य शक्ति होने परभोग व्यूह का निर्माण होता है। इसमें सर्पहारीव्यूह, गोमूत्रिकाव्यूह, शकटव्यूह, मकरव्यूह, पारिपतनन्तकव्यूह आते हैं। जब इसका मध्य भाग दो विभागों में बांटकर दोनों पक्षों में स्थित हो जाता है तो शकट व्यूह का निर्माण हो जाता है परन्तु जब वह कक्ष की ओर फैलता है तो मकर व्यूह बनता है। हस्ति अश्व आदि सेनांगों से युक्त शकट व्यूह को परिपतन्तक व्यूह का नाम दिया जाता है। यही व्याख्या अग्नि पुराण में भी उपलब्ध है जहाँ भाग व्यूह को ही सूची तथा शंकट व्यूह का नाम दिया गया है।[3]

3. मण्डल व्यूह—

कौटिल्य का मत है कि जिस व्यूह में कक्ष, पक्ष तथा उरस्य सभी धुल-मिल जायें उसे मण्डल व्यूह कहते हैं। जब इस व्यूह के द्वारा शत्रु पर चारों ओर से आक्रमण किया जाता है तो इसे सर्वतोभद्र व्यूह कहा जाता है, जब आठ सेनायें मिलकर मण्डल व्यूह का निर्माण करती है तो इसे

---

1. *अर्थ0 10/6*
2. *मनु0 अ0 7, श्लोक 87*
3. *अग्नि0 242/35*

दुर्जय व्यूह कहते हैं।

4. असंहत व्यूह–

कौटिल्य का मत है कि पक्ष, कक्ष और उदस्य को तितर-बितर कर खड़ा करने से असंहत व्यूह का निर्माण होता है और यदि पक्ष आदि पांचों की सेनाओं को बज्राकार रूप में खड़ा किया जाये तो उसे बज्र व्यूह कहते हैं परन्तु यदि सेना को गोह के आकार में खड़ा किया जाये तो उसे गोधा-व्यूह कहते हैं। जब दोनों पक्ष, उरस्य तथा प्रतिग्रह चारों में किसी एक या तीन स्थानों में सेना खड़ी की जाती है, तो उसे अर्द्धचन्द्रिक व्यूह अथवा कर्कटक श्रृंगी व्यूह कहा जाता है।[1]

5. मकर व्यूह–

जिसमें सेना को चौपायें के समान लगाया हो अर्थात् जिसका आकार लम्बा हो, मुख स्थूल हो और होठ खुले हों। मनु ने इस व्यूह को बाराह व्यूह के विपरीत आकार का माना है।[2]

6. सूची व्यूह–

जिसका मुख सूक्ष्म हो, विस्तार लम्बा हो और बीच में स्थान खाली न हो उसे सूची व्यूह कहते हैं।[3]

7. शकट व्यूह–

जिसका मुख शकट (गाड़ी) जैसा हो अर्थात् जिसके आगे का भाग पतला हो और पीछे के भाग में सेना फैली हो।[4]

8. बज्र व्यूह–

कौटिल्य ने बज्र व्यूह को असंहत व्यूह का उपभाग भाग माना है और इसे बज्र की आकृति का बताया है।[5]

---

1. *अर्थ0 10/6*
2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1112 एवं मनु0 अ0 7, श्लोक 187*
3. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1113*
4. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1115*
5. *अग्नि0 242/35*

कामन्दक द्वारा अभिव्यक्त व्यूह वर्गीकरण
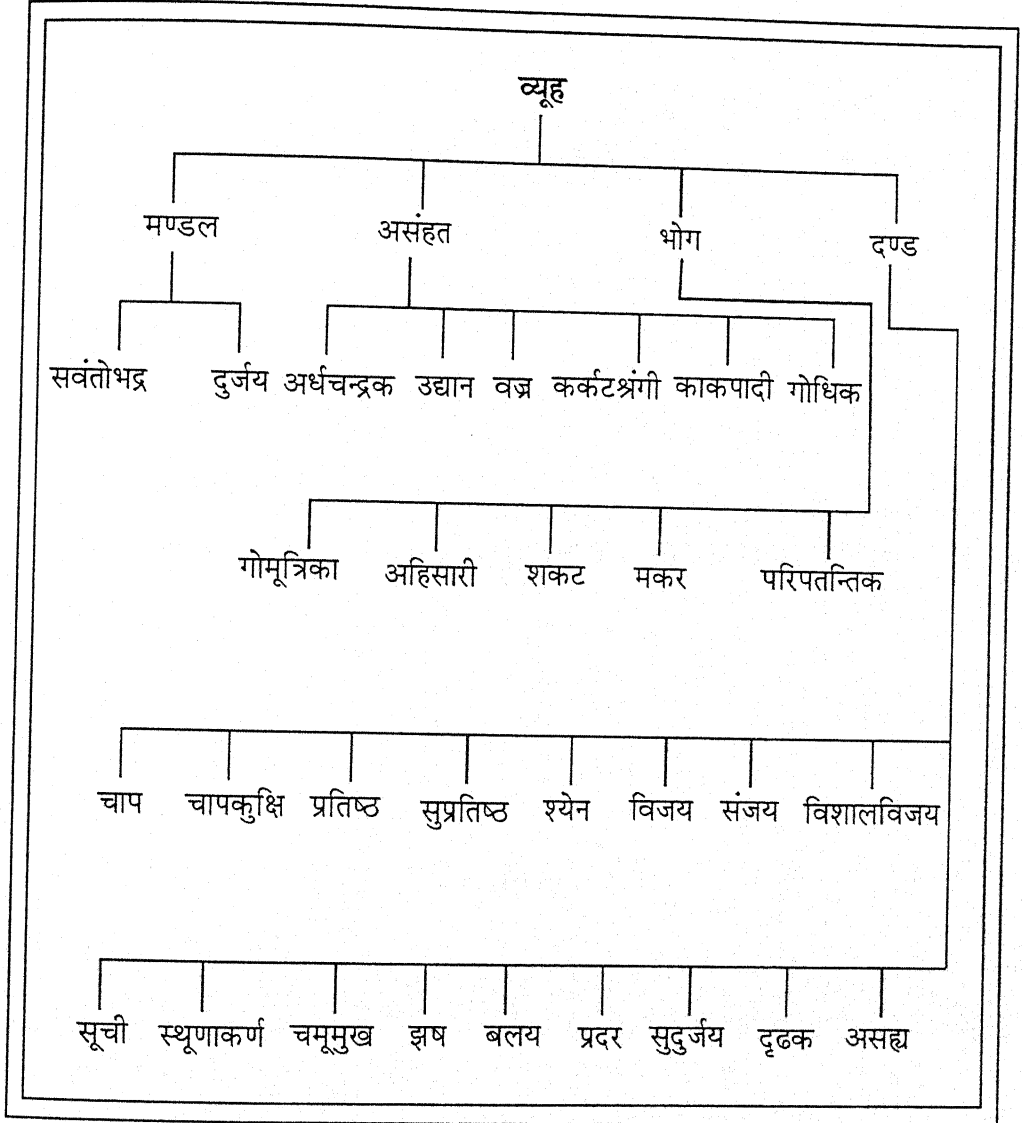
9. चक्र व्यूह—

शुक्र का मत है कि ऐसा व्यूह जिसका एक मार्ग हो और जिसकी आठ कुण्डलियाँ हों, कौटिल्य ने इन कुण्डलियों को आठ सेनाओं का नाम दिया है और इसे मण्डल व्यूह के अन्तर्गत दुर्जय का नाम दिया है।[1]

10. क्रौंच व्यूह—

जिसकी ग्रीवा सूक्ष्म हो, पूंछ मध्यम और पक्ष मोटे ही ऐसे व्यूह को क्रौंच व्यूह कहते हैं।[2]

11. सेना व्यूह—

जिसके पक्ष बड़े हों, कक्ष मध्यम हों और मुख सूक्ष्म हो उसे सेना व्यूह कहते हैं।[3]

12. सर्वतोमद्र व्यूह—

जिसकी चारों दिशाओं में आठ परिधियां हों उसे सर्वतोभद्र व्यूह कहते हैं।[4]

13. ब्याल व्यूह—

जिसकी आकृति सर्प के फन के अनुसार हो उसे व्यूह को ब्याल व्यूह कहते हैं।[5]

14. बाराह व्यूह—

जिसमें आगे तथा पीछे की और सेनाओं का फैलाव पतला हो और मध्य भाग में अधिक उसे बारह व्यूह कहते हैं।

15. गरूण व्यूह—

जिसका स्वरूप बाराह व्यूह के समान हो परन्तु मध्य भाग अधिक फैला हुआ हो वह गरूण व्यूह कहलाता है।[6]

---

1. *अर्थ0 10/6 एवं शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1113*
2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1111*
3. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1112*
4. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1114*
5. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 1115*
6. *मनु0 अ0 7, श्लोक 187*

16. पद्म व्यूह—

जिसमें सब ओर सेना का फैलाव समान हो और जिसके मध्य भाग में विजयाभिलाषी राजा बैठा हो उसे पद्म व्यूह कहते हैं।[1]

मनु का मत है कि चौतरफा भय होने पर दण्ड व्यूह का, पीछे से भय होने पर शकट व्यूह का, पार्श्वों से भय होने पर बाराह तथा गरूण व्यूह का और आगे तथा पीछे दोनों ओर से एक साथ भय होने पर मकर व्यूह का प्रयोग किया जाये। यह व्यवस्था आधुनिक ब्लिट्ज क्रिज तथा वेव डिफेंस की आक्रमणात्मक तथा प्रतिरक्षात्मक नीति के अनुरूप है।

युद्ध के नियम—

युद्ध को अनिवार्य अभिशाप मानते हुये भी प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने राजा के लिये शत्रु पर विजय पाना परम धर्म माना है। परन्तु युद्ध में निरर्थक नरसंहार, सम्पत्ति-विनाश और धन का क्षय-व्यय कम करने के अभिप्राय से युद्ध से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण नियम निर्धारित किये हैं। रामायण में राम का कथन है कि जब शत्रु ने आत्मसमर्पण कर दिया हो और शरण में आ गया हो, अथवा जब वह युद्ध भूमि से भाग रहा हो, छिप गया हो, या पागल हो गया हो तब उस पर प्रहार करना नियम विरूद्ध है। इसी प्रकार क्लीव, निरायुद्ध, दूसरे से युद्ध करते हुये तथा युद्ध निवृत्त सैनिक एवं युद्ध-दर्शकों पर भी प्रहार न करना चाहिये।[2]

महाभारत के शान्ति पर्व, भीष्म पर्व, द्रोणपर्व और कर्णपर्व में इस प्रकार के नियमों का वर्णन मिलता है। इनमें से मुख्य नियम अग्रलिखित हैं—

(1) युद्ध सदैव समान प्रतिपक्षियों के मध्य होना चाहिये। राजा को प्रतिद्वंदी राजा के साथ ही युद्ध करना चाहिये, अन्य सैनिकों के साथ नहीं। इस प्रकार वैश्य के साथ वैश्य और शूद्र के साथ शूद्र ही युद्ध कर सकते थे।[3]

---

1. *मनु0 7, श्लोक 188*
2. *रामा0 युद्धकाण्ड : 18/27-28, 80/39*

   राज्ञा राजानम् शभुवा तु ध्वन्ति। वैश्येन वैश्याम्! शूद्रेण शूद्रम्।   तै0 सं0 6/4/83
3. *राज्ञा राजैव योद्धव्स्तथा धर्मो विधोयते।*

   नान्यो राजानभभ्यस्येदराजन्य: कथंचन।। म0 भा0 शान्तिपर्व : 96/7 एवं द्रोणपर्व : 162/50

(2) कवचधारी सैनिक कवचधारी के साथ युद्ध करे, कवचहीन के साथ नहीं।[1]

(3) युद्ध सदैव समबल के मध्य होना चाहिये। पद-सैनिक का पद-सैनिक के साथ, रथी का रथी के साथ, अश्वारोही का अश्वारोही के साथ और गजारोही का गजारोही के साथ युद्ध करना उचित है। रथी का अश्वारोही के साथ या अपने से भिन्न श्रेणी के साथ युद्ध वर्जित माना गया है।[2]

(4) एक सैनिक को एक समय में एक प्रतियोद्धा के साथ युद्ध करना चाहिये और प्रतिद्वन्दी के आहत हो जाने पर युद्ध बन्द कर देना चाहिये। शत्रुपक्ष को अवगत कराके, सेना का कवच, शस्त्रादि से युक्त होने पर युद्ध की विधिवत् घोषणा किये जाने के पश्चात् ही युद्ध करना चाहिये। छल और कपट द्वारा युद्ध करना उचित नहीं है।[3]

(5) विपत्ति में पड़े, दुर्बल, शस्त्र टूटे हुये, घायल, कवचहीन, आहत सैनिक का वध न करना चाहिये और न ऐसे शत्रु पर प्रहार करना चाहिये जिसके आयुध तथा धनुष की प्रत्यंचा टूट गयी हो, जिसका रथ भग्न हो गया हो या जो कवच रहित हो गया हो। अधिकार में आने पर ऐसे व्यक्ति की चिकित्सा करानी चाहिये अथवा उसे घर पहुँचा देना चाहिये।[4]

(6) शरण में आये व्यक्ति, चाहे वह कट्टर शत्रु ही क्यों न हो, को कदापि कठोर दण्ड नहीं देना चाहिये। "मैं आपका ही हूँ", ऐसा कह कर प्राणों की भिक्षा मांगने वाले शरणागत का वध नहीं करना चाहिये प्रत्युत उसे बंदी बना लेना चाहिये।[5]

(7) एक पक्ष के सैनिक को अपने प्रतिपक्षी पर सूचना देकर प्रहार करना चाहिये, धोखे से नहीं। इसी प्रकार जब वह योद्धा किसी दूसरे योद्धा से युद्ध कर रहा हो तब उस पर प्रहार न करना

---

1. *नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्य: क्षत्रियो रणे। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95 श्लोक 7*

   स चेत् सन्नद्ध आगच्छेत् सन्नद्धव्यं ततो भवेत्।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95 श्लोक 8

   समामाष्य प्रहर्तव्यम्। म0 भा0 भीष्मपर्व : अ0 1, श्लोक 30

2. *नावेन रथिनं यायादुदियाद् रथिनं रथो। म0 भा0 शान्तिपर्व : 95/10 एवं भीष्मपर्व : 1/28-29*

3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 7*

4. *निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्य: कथंचन।*

   भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृतज्यो हतवाहन:। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 12 एवं 13

5. *विशीर्णकवचं.......न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा नहि हिंसयेत्। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 3*

चाहिये।[1]

(8) युद्ध में बालक, स्त्री, वृद्ध, शस्त्र नीचे डालने वाले, विलाप करने वाले, पीठ दिखाकर भागने वाले, प्राणों की भीख मांगने वाले, सोते हुये, थके–मांदे आदि का वध नहीं करना चाहिये।[2]

(9) भयभीत होकर युद्ध भूमि से भागते हुये सैनिकों का पीछा करना वांछनीय नहीं है।[3]

(10) विपक्षियों की संख्या में समानता को महत्व देते हुये कहा गया है कि एकाकी होने पर एकाकी तथा सेनासहित होन पर सेनासहित युद्ध करना चाहिये।[4]

(11) व्यसन-ग्रस्त, भोजन-व्यस्त, तृषित, श्रान्त और प्रसुप्त सैनिकों पर प्रहार करना अनुचित है। युद्ध-स्थल से प्रयाण करते हुये, शिविर से सामान खरीदने के लिये बाहर आते हुये, कर्मकार तथा शिविर रक्षक भी अवध्य हैं।[5]

(12) महाभारत में ब्राह्मणों पर प्रहार करना निषिद्ध माना गया है।[6] परन्तु शस्त्रादि से युक्त

---

1. *एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च।* *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 7*
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 100, श्लोक 27-28; भीष्मपर्व : अ0 1, श्लोक 31*
3. *न हि प्रहर्तुमिच्छन्ति शूरा: प्रदवतो भृशम्।*
   तस्मात् पलायमानानां कुर्यात्रात्यनुसारणम्।। *म 0भा0 शान्तिपर्व : अ0 99, श्लोक 14*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 98, श्लोक 8;* *भीष्मपर्व : अ0 1, श्लोक 30*
5. *प्रसुप्तांस्तृषितात्रश्रान्तान् प्रकीर्णन् नाभिघातयेत्।।*
   मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयो:
   अतिक्षिप्तान् व्यतिक्षिप्तान् निहतान् प्रतनूकृतान्।।
   सुविश्रब्धान् कृतारम्भानुपन्यासान् प्रतापितान्।
   बहिश्चरानुपन्यासन् कृतवेश्मानुसारिण:।।
   पारम्पयगिते द्वारे ये केचिदनुवर्तिन:।
   परिचयवितो द्वारे ये च केचन वर्गिण:।। *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 100, श्लोक 26-29*
6. *म0 भा0 सैप्तिकपर्व : अ0 6, श्लोक 21*

ब्राह्मण पर प्रहार करना उचित है। एक अन्य नियम यह था कि यदि उभय पक्षों में सन्धि कराने के उद्देश्य से ब्राह्मण दोनों सेनाओं के मध्य में आकर उपस्थित हो तब युद्ध बन्द कर देना चाहिये।[1]

(13) विषलिप्त तथा कर्णी वाणों का प्रयोग भी वर्जित माना गया है।[2]

(14) राजद्वार की रक्षाकार्य में तत्पर राजसेवक, मंत्री, प्रहरी एवं घोड़े-आदि की सेवा में नियुक्त, सूत, बोझ ढ़ोने वाले, शस्त्र पहुँचाने वाले, भेंरी शंख आदि बजाने वाले पर प्रहार नहीं करना चाहिये।[3]

(15) धर्मयुद्ध किये जाने पर धर्मयुद्ध तथा छल से युद्ध किये जाने पर छल-कपट से युद्ध करना चाहिये।[4]

(16) औषधियोग विष आदि का प्रयोग युद्ध में नहीं करना चाहिये।[5]

(17) युद्ध में भाग न लेने वाले व्यक्तियों (कृषक, मजदूर आदि) को घायल अथवा वध नहीं करना चाहिये अर्थात् साधारण प्रजा की कोई हानि नहीं होनी चाहिये।

धर्मसूत्र और धर्मशास्त्रों में भी इसी प्रकार के नियम मिलते हैं।

मनु का मत है कि क्लीव, मुक्तकेश, नतमस्तक, शरणागत, प्रसुप्त, वस्त्रहीन कवच तथा शस्त्र रहित एवं युद्ध-विमुख, दूसरे से युद्ध में रत, आहत, तथा भय-त्रस्त सैनिक पर प्रहार न करना चाहिये। उनके मतानुसार रथी को रथी पर ही आक्रमण करना चाहिये, और कूट शस्त्र, कर्णी-वाण

---

1. *अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद् ब्राहाणोडन्तरा।*
   शान्तिमिच्छन्नुभयतो न युद्धव्यं तदा भवेत्।।
   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 8
2. *इषुलिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम्।।*
   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 11
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 100, श्लोक 29; भीष्मपर्व : अ0 1, श्लोक 32*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 9*
5. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 103, श्लोक 19*

तथा विषलिप्त एवं अग्नि से दग्ध अग्रभाग वाले शस्त्रों के प्रयोग को निषिद्ध माना है।[1] याज्ञवल्क्य और गौतम स्मृतियों में भी दूत, गाय और ब्राह्मण पर प्रहार करने का निषेध किया है।[2] शंख ने स्त्री, सारथी, सूत, दूत, और ब्राह्मण पर प्रहार अनुचित माना है तथा कहा है कि जो स्वयं राजा नहीं हो उसे राजा पर प्रहार न करना चाहिये।[3] ध्यातव्य है कि यह नियम कौटिल्य और कामन्दक को मान्य नहीं है, क्योंकि वे राजा का वध करने वाले सैनिक को पुरस्कृत करने के पक्ष में हैं।[4]

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु को शत्रु पक्ष के ऐसे सैनिक जो युद्ध से पराङ्मुख हैं या युद्धभूमि में गिर गये हैं अथवा जो विपदग्रस्त, मुक्तकेश, शस्त्र प्रहार से भयभीत हैं उन्हें सर्वथा अभय प्रदान करना चाहिये। असैनिक व्यक्तियों के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिये।[5]

प्राचीन राजशास्त्रियों द्वारा निर्धारित उपर्युक्त नियम प्राय: वैसे ही है, जो वर्तमान समय में 1907 के हेग के चतुर्थ समझौते में निश्चित किये गये हैं। हेग समझौते की धारा 23 के अनुसार विषैली गैसों तथा शस्त्रों के प्रयोग का, धोखे से मारने अथवा घायल करने का और शस्त्र डाल आत्मसमर्पण कर देने वाले व्यक्ति का वध करने का निषेध किया गया है।[6] इस प्रकार हेग समझोते

---

1. *न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।*

   न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः।।

   न च हन्यात्स्थलारूढ़ न क्लीव न कृताअंजलिम्।

   न मुक्तकेश नासीनं न तवास्वामीतिवादिनम्।।

   न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्ननिरायुधम्।

   नायुध्यमान पश्यन्त न परेण समागतम्।।

   नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त नातिपरिक्षतिम्।

   न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरम्।। मनु0 अ0 7, श्लोक 90-93 एवं बौधा0 धर्मसूत्र 1/10/10

2. *याज्ञवल्क्यस्मृति : 1/325-326; गौतम0 10/17-18*

3. *न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहो मुचन्तं नावर्माण सवर्मा न स्त्रियं न करेणु न बाजिनं न सारथिनं न सूतं न ब्राहाण ने राजानमराजा हन्यात्। याज्ञवल्क्य0 1/226 पर मिताक्षरा टीका।*

4. *अर्थ0 10/3/53; काम0 सर्ग 20, श्लोक 18*

5. *पतितपराङ् मुखाभिपन्नमुक्तकेशशस्त्रभयविरूपेभ्यश्चाभयम युध्यमानेश्च दद्युः। अर्थ0*

6. *डॉ. हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय कानून, पृ0 12*

में निर्धारित नियमों की प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में वर्णित युद्ध-नियमों से साम्यता दिखायी देती है। वस्तुतः हमारे प्राचीन विद्वानों ने युद्ध के विषय में जिन आदर्शों और उदात्त नियमों का निर्धारण किया था, आधुनिक युग में प्रायः वे ही नियम पुनः प्रतिपादित हुये हैं। इस प्रकार उन्हीं नियमों की श्रेष्ठता को आधुनिक राजनीतिज्ञों ने भी स्वीकारा है।

युद्ध में उपर्युक्त नियमों का पालन करना धर्म समझा जाता था। महाभारत में कहा गया है कि क्रोध और हत्या की भावना त्याग कर ही युद्ध करना चाहिये।[1] गीता में कृष्ण ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा है कि धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रिय का कोई अन्य धर्म नहीं है "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते"। धर्मपूर्वक लड़ते हुये मर जाना अच्छा है किन्तु पापकर्मों के द्वारा अर्जित की गयी विजय भी श्रेयस्कर नहीं हैं।[2]

इस प्रकार यद्यपि युद्ध के नियमों के पालन को धर्म घोषित कर उन्हें पवित्रतम बनाने का भरपूर प्रयास किया गया था, किन्तु फिर भी यदा-कदा इन नियमों के उल्लंघन की सदैव भर्त्सना की जाती रही है, भले ही विजेता ने उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया हो। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। राम ने पेड़ की आड़ में छिपकर बालि पर शरप्रहार किया था। राम के इस कृत्य को बालि ने युद्ध के नियमों के विरूद्ध बताया है।[3] अकेले अभिमन्यु का वध सात महारथियों ने मिलकर किया था, वह भी उस अवस्था में जब उसके पास न तो शस्त्र रहे थे और न वाहन ही। स्वयं संजय ने इसे धर्म विरूद्ध बताया है।[4] द्रोण का वध उस समय किया गया जब वह पुत्र शोक से विकल हो आमरणव्रत लेकर युद्धभूमि में बैठ गये थे। अश्वत्थामा ने इसकी भर्त्सना की है,[5] किन्तु स्वयं उन्होंने भी रात्रि में सोये हुये पाण्डव योद्धाओं का संहार किया

---

1. *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 95, श्लोक 11*
2. *"धर्मेण निधनं श्रेयों न जयः पापकर्मणा"।*

   म० भा० शान्तिपर्व : अ० 95, श्लोक 17
3. *रामा० किष्किन्धाकाण्ड : अ० 17, श्लोक 40-43*
4. *म० भा० द्रोणपर्व : अ० 48, श्लोक 21*
5. *म० भा० द्रोणपर्व : अ० 167, श्लोक 36-38*

था। कृतवर्मा एवं कृपाचार्य ने भागते हुये योद्धाओं का वध किया था।[1] अर्जुन ने कर्ण का वध उस समय किया था जब वह नि:शस्त्र अवस्था में पृथ्वी में धंसे हुये रथ के पहिये को निकालने में संलग्न था।[2] भीमसेन ने दुर्योधन की जांघ पर प्रहार किया था जबकि नाभि के नीचे गदा प्रहार करना युद्ध नियम के प्रतिकूल था। वैशम्पायन ने इसे धर्मविरूद्ध बताया था।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि युद्ध में नियमों के उल्लंघन को शिष्ट और सुसंस्कृत जनसमुदाय का अनुमोदन प्राप्त नहीं था। ऐसी क्रियायें धर्मसंगत नहीं मानी गयी हैं। इनका प्रयोग कपटयुद्ध में ही संगत था।

कूटयुद्ध के नियमों का उल्लेख प्राय: शास्त्रकारों ने नहीं किया। इस सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि कूटयुद्ध में नियम नहीं होते।[4] फिर भी हमारे प्राचीन राजनीतिज्ञ कूटयुद्ध के नाम पर हिंसा के क्रूर ताण्डव की अनुमति नहीं देते थे। उन्होंने कूट युद्ध को सीमित करने के लिये भी कुछ व्यवस्थायें दी थीं, जिनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

(1) कूटयुद्ध उसी दशा में करना चाहिये जबकि शत्रु भी कूटयुद्ध का ही आश्रय ले रहा हो। यदि शत्रु धर्मपूर्वक लड़ रहा हो तो उसका प्रतिषेध धर्मयुद्ध द्वारा ही किया जाना चाहिये।[5]

(2) जिस किसी ने पहले अपकार किया हो उसे मारने में कोई अधर्म नहीं हैं। स्पष्ट है, यहाँ कूटयुद्ध के इस नियम का ही अप्रत्यक्ष अनुमोदन है कि जब शत्रु ने अपकार किया हो तभी उसे मारने के उपाय करने चाहिये।[6]

(3) तीक्ष्ण, रसद आदि गुप्तचरों का प्रयोग अनुमत था। कौटिल्य ने इस प्रकार के युद्ध को तूष्णीयुद्ध कहा है, किन्तु वस्तुत: इसे कूटयुद्ध का ही एक भेद मानना उचित होगा।

---

1. *म0 भा0 सौप्तिकपर्व : अ0 8*
2. *म0 भा0 कर्णपर्व : अ0 34, श्लोक 27–28 एवं 42*
3. *म0 भा0 शल्पपर्व : अ0 57, श्लोक 44, अ0 59, श्लोक 6*
4. *कूटे वे न सन्ति नियमा। शुक्र0 4/7/362*
5. *स वेन्निकृत्या युद्ध्येत् निकृत्या प्रतियोधयेत्।*
   अर्थ वेद् धर्मतो युद्ध्येत् धर्मेणेव निवारयेत्।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 9
6. *पूर्वापकारिण हत्वा न हूयधर्मेण सज्यते। रामा0 अयोध्याकाण्ड : अ0 96, श्लोक 24*

(4) शत्रु के उत्पीड़नार्थ आग लगाना, जल को दूषित करना, आदि सभी क्रियायें अनुमत थीं। किन्तु इनका प्रयोग ही किया जाना चाहिये जितना कि शत्रु को वश में लाने के लिये आवश्यक हो।

असैनिक और युद्ध—

वर्तमान युग में युद्ध आरम्भ हो जाने पर. सैनिकों की अपेक्षा असैनिक नागरिकों को अधिक क्षति उठानी पड़ती है। वायु आक्रमण, बम-वर्षा, अणुबम तथा जहरीली गैसों के प्रयोग के फलस्वरूप सैनिक और असैनिक दोनों ही हताहत होते हैं। परन्तु प्राचीन भारत में स्थिति इसके विपरीत थी।

आचार्यों ने युद्ध न करने वाले व्यक्तियों पर शस्त्र प्रहार करना युद्ध धर्म के सर्वथा प्रतिकूल माना है। युद्ध क्षेत्र में भी जो व्यक्ति युद्धेत्तर कार्यों में संलग्न होते थे उन पर सशस्त्र हमला करना उचित नहीं समझा जाता था। कौटिल्य का मत है कि असैनिक को पीड़ित न किया जाये। वह विजित राज्य में अत्याधिक लूटमार व विध्वंस लीला के विरूद्ध है।[1] हमारी इस स्वस्थ परम्परा की पुष्टि मेगस्थनीज के वृतान्त से भी होती हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में नियुक्त इस यूनानी राजदूत ने लिखा है कि "जब अन्य देशों में युद्ध होने पर कृषि क्षेत्र नष्ट किये जाते थे, भारत में खेतों के निकट युद्ध होने पर भी किसान अपना कार्य शान्तिपूर्वक करते रहते थे। उनको किसी भी पक्ष के सैनिक क्षति नहीं पहुँचाते थे।"

इस दृष्टि से यह प्राचीन भारतीयों की विशेषता मानी जायेगी कि उन्होंने आज की सभ्यता से हजारों वर्ष पूर्व ही युद्ध को वास्तविक युद्ध की सीमाओं में ही रखने का प्रयास किया था। हमारे यहाँ कभी भी युद्धरत व्यक्तियों को छोड़कर सामान्य प्रजाजनों पर युद्ध की विभीषिका और उसके भयंकर परिणाम नहीं थोपे गये।

बीमार, घायल एवं आहत सैनिकों के साथ व्यवहार—

युद्ध में घायल, बीमार और आहत सैनिकों के साथ बहुत ही सहानुभूति एवं दयापूर्ण व्यवहार किया जाता था। महाभारत में भीष्म ने आदेश दिया है कि घायल और बीमार सैनिकों की समुचित चिकित्सा की जानी चाहिये अन्यथा उन्हें अपने-अपने घर वापिस भेज दिया जाना चाहिये।[2]

---

1. *अर्थ0 13/5*

2. *चिकित्स्य: स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 95, श्लोक 13*

आजकल की भाँति प्राचीन काल में भी हमारे यहाँ घायल सैनिकों की चिकित्सा हेतु सेना के साथ चिकित्सकों एवं परिचारिकाओं की समुचित व्यवस्था रहती थी।[1] महाभारतीय उल्लेखों से विदित होता है कि कुरूक्षेत्र युद्ध से पूर्व युधिष्ठिर ने अपने शिविर में आवश्यक उपकरणों एवं सामग्री सहित कुशल चिकित्सकों की व्यवस्था कर ली थी।[2] कौटिल्य ने भी कुशल चिकित्सकों, शल्यचिकित्सा के उपकरणों, औषधियों, विभिन्न प्रकार के तेलों, वस्त्रों और अन्न-पान की सामग्री सहित परिचारिकाओं को सेना के साथ रखने की व्यवस्था दी हैं।[3]

स्पष्ट है कि आहत और बीमार सैनिकों की समुचित चिकित्सा के लिये आधुनिक राष्ट्रों ने 1949 के जेनेवा सम्मेलन में जो नियम बनाये वे नियम भारत में आज से हजारों वर्ष पूर्व भी प्रचिलित थे।

युद्धबन्दियों के साथ व्यवहार—

युद्ध में बन्दी बनाये गये व्यक्तियों के साथ क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार करने की बर्बर परम्परा भारतवर्ष में कभी नहीं रही। यहाँ तो युद्ध में आहत शत्रु के भी प्रति आंसू बहाने[4] और शोकसन्तप्त परिवार को धैर्य एवं सान्त्वना देने की मानवीय परम्परा रही है। राम बाली को मारने के बाद करूण क्रन्दन करती हुयी तारा को धैर्य एवं सान्त्वना प्रदान करते हैं। यही नहीं, उसके पुत्र अंगद को युवराज भी बना देते हैं।[5] महाभारत युद्ध में वियजी युधिष्ठिर शोकसन्ताप करते धृतराष्ट्र और गान्धारी को न केवल सान्त्वना देते हैं अपितु आगे के सभी राज्यकार्यों में उनसे मार्गदर्शन भी प्राप्त करते हैं।[6]

शत्रु ने यदि शस्त्र डाल दिया और विजेता के सामने आत्समर्पण कर दिया तो उस पर

---

1. *औषधि नि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च।*
   चतुविधाश्च वैद्यान् वै संगृहणीयाद् विशेषत:।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 69, श्लोक 58
2. *म0 भा0 उद्योगपर्व : अ0 51, श्लोक 58, एवं अ0 152, श्लोक 12*
3. *अर्थ0 10/3/62*
4. *प्रहृत्य व कृपायीत शोचन्निव रूदन्मिव। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 102, श्लोक 34*
5. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : सर्ग 25*
6. *म0 भा0 आश्रमवासिक पर्व : अ0 1, 2, 3 एवं 4*

प्रहार करना धर्मविरूद्ध था।[1] यदि शत्रु मारा गया तो शत्रुता समाप्त हो गयी और उसके परिवार के साथ शत्रुता का भाव नहीं रहा।[2] शत्रु को जीतने के बाद उसे क्षमा करने में विजेता अपना गौरव समझता था। ऐसे क्षमाशील विजेता का यश और सम्मान बढ़ जाता था।[3] भीष्म ने युद्धबन्दियों के प्रति किसी प्रकार का क्रोध न करने, उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचाने तथा उसका पुत्रवत् पालन एवं नियन्त्रण करने की व्यवस्था दी है।[4]

लेकिन इसके विपरीत कुछ ऐसे उल्लेख भी हैं जिनसे युद्धबन्दियों को दास बना लिये जाने की पुष्टि होती है। संस्कृत साहित्य में चारणों के साथ बहुधा उल्लिखित "बन्दीजन" इसी कोटि में आते हैं। नारदस्मृति से भी युद्ध बन्दियों को दास बनाने की प्रथा की पुष्टि होती है।[5] कादम्बरी में उल्लिखित है कि पराजित कुलूतनरेश की राजपुत्री चन्द्रापीड़ ताम्बूल की रथ-वाहिनी थी। इस प्रकार के बन्दियों के सम्बन्ध में महाभारत में व्यवस्था दी गयी है कि विजयी विजित को एक वर्ष तक अपना दास बना सकता है। उसके बाद उन्हें स्वतन्त्र कर देना चाहिये।[6] ऐसे ही नियम विजित की राजपुत्री और दासियों के सम्बन्ध में भी थे। यदि बन्दी राजकन्या एक वर्ष के अन्दर विजेता की पत्नी बनना स्वीकार न करे तो उसे मुक्त कर दिया जाना चाहिये और यदि दासियां भी दासता स्वीकार न करें तो उन्हें भी छोड़ देना चाहिये।[7] लेकिन इस बीच में उनके साथ मृदु व्यवहार करना चाहिये। यह भारतीय विजेताओं का उच्च्व नैतिक आदर्श था जिसका वे अधिकांशतः पालन करते थे।

---

1. *कृतांजलि न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंसयेत्।*
   बलेन विजितो यश्च न त युद्ध्येत भूमि पः।। — *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 93, श्लोक 3*
2. *मरणान्तानि हि वैराणि निर्वृत्ततं न : प्रयोजनम्।* — *रामा० युद्धकाण्ड : अ० 111, श्लोक 10*
3. *विजित्य क्षममानस्य यशो राज्ञे विवर्धते।* — *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 102, श्लोक 30*
4. *अक्रोधेना विनाशैन नियन्तव्य : स्वपुत्रवत।* — *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 102, श्लोक 32*
5. *नारदस्मृति : अ० 5, श्लोक 34*
6. *सवंत्सर विप्रनयेत्तस्माज्जात: पुनर्भवेत।* — *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 96, श्लोक 4*
7. *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 96, श्लोक 4-5*

युद्ध के तात्कालिक प्रभाव—

मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के समाप्त होने तथा युद्ध घोषित हो जाने पर युद्धमान राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध अत्याधिक शत्रुता पूर्ण हो जाते थे। कौटिल्य ने शत्रु के उत्पीड़न और सहायता सामग्री के संशोधन पर विशेष बल दिया है।[1] इसके अतिरिक्त युद्ध छिड़ जाने के फलस्वरूप निम्नलिखित प्रभाव सम्बन्धित पक्षों पर तत्काल पड़ते थे।

1. दौत्यसम्बन्ध भंग होना—

युद्ध का प्रथम प्रभाव सम्बन्धी पक्षों में दौत्यसम्बन्धों का भंग होना था। विजिगीषु राजा युद्ध की घोषणा के बाद आये हुये शत्रु के दूत को उसका तिरस्कार करते हुये "खबरदार", अब यहाँ फिर मत आना कहकर अपने राज्य से बाहर निकाल देता था। अनेक बार इस परिस्थिति में दूत को कैद हो जाने या मारे जाने का भी भय बना रहता था। कौटिल्य ने दूत को परराष्ट्र से चुपचाप भाग जाने का परामर्श दिया है।[2]

2. मन्त्रयुद्ध की प्रबलता—

युद्ध की घोषणा होते ही उभयपक्षों के गुप्तचरों की गतिविधियां तेज हो जाती थीं। कौटिल्य ने मन्त्रयुद्ध के प्रकरण में इनका विस्तृत वर्णन किया है।[3] परपक्ष का उपजाप अर्थात् शत्रु पक्ष के विश्वस्त व्यक्तियों को अपनी ओर मिलाना या प्रच्छन्न उपायों से उनका बध[4] एवं विष आदि के कूट प्रयोग उभयपक्षों की ओर से प्रयुक्त होने लगते थे।

3. विदेशियों के साथ सामान्य सम्बन्धों का लोप—

युद्ध की घोषणा होते ही विदेशियों के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध समाप्त हो जाते थे। राज्य की ओर से इन पर तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्त्यों पर कड़ी नजर रखी जाती थी। इनसे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति दृष्य अर्थात् शत्रु के साथ सहयोग करने के दोषी माने जाते थे।[5]

---

1. *अर्थ0 13/4-5*
2. *न व पुनरिहागन्तवयम्। अर्थ0 13/3, 1/15*
3. *अर्थ0 12/2*
4. *अर्थ0 13/1, 12/35, 12/4*
5. *अर्थ0 9/5, 6*

4. सन्धि भंग होना—

युद्ध के दिनों में सन्धियों प्रायः भंग कर दी जाती थीं क्योंकि उस स्थिति में उनकी उपयोगिता सामान्यतः समाप्त हो जाती है और इसीलिये उन्हें बनाये रखने का भी कोई औचित्य नहीं रह जाता। विग्रह शब्द सन्धि का विपरीतार्थक है, इसी से उक्त बात की पुष्टि हो जाती है।

कौटिल्य ने युद्ध घोषणा के बाद एक और स्थिति का उल्लेख किया है—वह है "विग्रह यासन"[1]। इसका अर्थ है "विग्रह करके चुपचाप बैठ जाना अर्थात् जब एक दूसरे को हानि पहुँचा सकने में असमर्थ, सन्धि करने के इच्छुक विजिगीषु और शत्रु विग्रह करके अपनी भावी उन्नति की प्रतीक्षा में चुपचाप आसन नीति को ग्रहण कर ले तो वह स्थिति "विग्रहयासन" कही जाती है इस स्थिति में विग्रह तो घोषित हो जाता है किन्तु दोनों पक्ष एक दूसरे को हानि पहुँचाने में समर्थ न होने के कारण ही या तो परस्पर सन्धि के पुनः इच्छुक होते हैं या फिर अपनी-अपनी शक्ति समृद्ध करने में लगे रहते हैं। इस स्थिति में सभी सन्धियाँ सम्भवतः भंग नहीं की जाती होगीं और न ही आपस के सभी सम्बन्ध पूर्णरूप से विच्छिन्न किये जाते होगें। परस्पर लाभ की सन्धियों और पारस्परिक लाभ के सम्बन्धों (व्यापार सम्बन्ध) पर विग्रहयासन की स्थिति का कोई विशेष प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता था।[2]

युद्ध की समाप्ति एवं शान्ति स्थापना—

प्राचीन भारत में युद्ध की समाप्ति के दो प्रकार राजनीतिज्ञों ने सुझाये थे—

1. सन्धि और 2. मध्यस्थता।

युद्ध समाप्ति का सर्वसाधारण उपाय युद्धरत पक्षों में सन्धि स्थापना है। कौटिल्य ने शम, सन्धि और समाधि उन तीनों को समानार्थक मानते हुये[3] शम को कर्मफलों के उपभोग में आये विघ्नों को शमन करने का साधन माना है।[4] इससे स्पष्ट है कि अधिकांश युद्धों की समाप्ति परस्पर सन्धियों के द्वारा ही की जाती थी। ऐसी सन्धियाँ प्रायः लिखित ही हुआ करती थी।[5] लेकिन कभी-कभी

---

1. *अर्थ0 7/3*
2. *डॉ. हीरा लाल चटर्जी : इण्टरनेशनल लॉ एण्ड इण्टरस्टेट रिलेशन्स इन एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ0 65*
3. *अर्थ0 7/17*
4. *कर्म फलोपभोगाना क्षेमाराधनः शमः। अर्थ0 6/2*
5. *शासनप्रधानाराजानस्तन्मूलत्वात्सन्धि विग्रह योः। अर्थ0 2/10*

सन्धि अलिखित एवं मौखिक भी हो सकती थी। कौटिल्य ने इसे अभिहितसन्धि कहा है।[1]

युद्ध समाप्ति का दूसरा उपाय किसी ऐसे पक्ष की मध्यस्थता भी था जिस पर दोनों पक्षों को विश्वास हो। महाभारत में हम मैत्रेय, विदुर और कृष्ण को कौरव-पाण्डवों के मध्य मध्स्थता करते हुये देखते हैं।[2] कौटिल्य आदि आचार्यों ने मण्डल के प्रसंग में जिस मध्यस्थ राजा का उल्लेख किया है वह शत्रु और विजिगीषु दोनों पर निग्रह तथा अनुग्रह रखने में समर्थ बताया गया है।[3] किन्तु उसे युद्धरत पक्षों के मध्य मध्यस्थता करने वाला मध्यस्थ नहीं समझना चाहिये यद्यपि वह मध्यस्थता करने में सक्षम होता है।

एक पक्ष की पूर्ण विजय हो जाने पर युद्ध का उद्देश्य समाप्त हो जाने के कारण युद्ध स्वत: ही समाप्त हो जाता था। पूर्ण विजय दो प्रकार की सम्भव है—प्रथम, विजित के अस्तित्व की पूर्ण समाप्ति, द्वितीय विजित द्वारा आत्मसर्मपण। राम रावण युद्ध और कौरव-पाण्डव युद्ध की समाप्ति तभी हुई जबकि विजित का अस्तित्व ही पूरी तरह समाप्त हो गया। महाकव्यों और पुराणों में ऐसे अनेक उल्लेख है जिनसे दिग्विजयी राजा के सामने राजाओं द्वारा अपनी पराजय स्वीकार कर लेने तथा इसके परिणामस्वरूप विजेता द्वारा युद्ध बन्द कर देने की पुष्टि होती है।

जिन कारणों से युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई, उन कारणों को त्याग देने पर युद्ध सामान्यत: समाप्त कर दिया जाता था। राम ने अंगद के माध्यम से रावण को सीता वापिस कर देने का जो सन्देश भेजा था उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है।

प्रसंगवश यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि आज के युग में भी युद्ध समाप्ति के जो उपाय सुझाये गये है वे भारतीय आचार्यों की एतद्विषयक मान्यता के ही समान हैं।[4] परन्तु, एकपक्षीय घोषणा द्वारा युद्ध विराम का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। इधर पाश्चात्य विद्वान मध्यस्थता को युद्ध समाप्त करने का उपाय नहीं मानते यद्यपि आज भी विभिन्न देशों के मध्य चल रहे युद्धों की समाप्ति के लिये मध्यस्थता के प्रयास किये जा रहे हैं।

---

1. *अर्थ0 7/11*
2. *म0 भा0 वनपर्व : अ0 4, एवं 10 तथा उद्योगपर्व : अ0 83*
3. *अर्थ0 5/2; मनु0 7/155; काम0 8/18; नीतिवाक्या0 29/21*
4. *ओपेनहाइम : इण्टरनेशनल लॉ, भाग-2, पृ0 596-597*

युद्ध समाप्त हो जाने पर यह स्वाभाविक है कि सम्बद्ध पक्षों में युद्ध की स्थितिं समाप्त हो जाये और शान्ति की स्थापनाकी जाये।

युद्धकाल में लूटा हुआ माल—

युद्ध में लूटे हुये माल के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। वहाँ यह व्यवस्था दी गयी है कि युद्ध में लूटे हुये धन का चर्तुर्थांश सारथि को मिलता है।[1]

महाभारत के अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उन दिनों युद्ध में लूट के माल को अत्यन्त महत्व दिया जाता था। विराट् देश पर कौरवों के आक्रमण के समय उनके साथी त्रिगर्तनरेश सुशर्मा ने कहा था कि "विराटनरेश के यहाँ नाना प्रकार के रत्न और धन हैं, वे सब हम ले लेगें। उनके पास हजारों गाये हैं। उनका भी हम अपहरण कर लेंगे।"[2] कौटिल्य के उल्लेखों से भी स्पष्ट होता है कि राजा सैनिकों को युद्ध में उनके द्वारा लूटे गये माल को उन्हें देने का लालच देकर लूट कर्म को प्रोत्साहित करते थे।[3] युद्ध में इस प्रकार की अनियन्त्रित लूट को नियन्त्रित करने के लिये प्राचीन राजनीतिशास्त्रियों ने कुछ नियम निर्धारित कर दिये थे। महाभारत में ऐसे कतिपय नियमों का उल्लेख है—

1. युद्ध में अपहृत कन्या को राजा एक वर्ष तक अपने अधिकार में रख सकता था। इस बीच यदि वह विजेता के साथ विवाह करने को राजी हो जाती तो सदैव उसी के पास रहती किन्तु यदि वह ऐसा करने को राजी न होती और अन्य किसी का वरण करना चाहती तो एक वर्ष बाद उसे मुक्त कर दिये जाने की स्वस्थ परम्परा थी।[4]

2. यही नियम शत्रु की सम्पत्ति के सन्दर्भ में भी था।[5]

3. अन्न, औषधियाँ, भोजन और हविष्य को युद्ध में लूटना वर्जित था। इस प्रसंग में भीष्म ने

---

1. *तस्माद्धाप्येतर्हि भरताः सत्वना वित्ति प्रयन्ति। तुराये हेव संग्रहीतारो वदन्ते अमुनेवानूकाशेनयदद इन्द्रः सारधिरिव भूत्वोदजयत्।   ऐ0 ब्रा0 9/1*
2. *म0 भा0 विराटपर्व : अ0 30, श्लोक 9-11, अ0 25, श्लोक 27*
3. *अर्थ0 7/5*
4. *संवत्सर विप्रयेत्तस्माज्जाताः पूर्वभवेत्।   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 4*
5. *संवत्सर विप्रयेत्तस्माज्जाताः पूर्वभवेत्।   म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 4*

प्रतर्दन और दिवोदास के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। प्रतर्दन पराजित राजा की भूमि के अतिरिक्त सभी धर्म, अन्न और औषधियों को लूट लाये थे।[1] इस प्रकार दिवोदास भी अग्निहोत्र के हवियान्न तथा भोजन का भी अपहरण कर लाये थे और इसीलिये लोक में उनकी निन्दा हुई।[2]

4. विजयी राजा पराजित राजा की अचल सम्पत्ति का अधिकारी नहीं माना जाता था। राजा प्रतर्दन और दिवोदास ने शत्रु का सब कुछ अपहरण कर लिया था किन्तु भूमि छोड़ दी थी।[3]

5. युद्ध में अपहृत गाय और बैल ब्राह्मणों को दे देना चाहिये।[4]

महाभारतोत्तर कालीन आचार्यों ने युद्ध में किसी भी वस्तु को लूट से मुक्ति नहीं दी। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि देवालयों, ब्राह्मणों स्त्रियों, वृद्धों और बालकों की सम्पत्ति को लूटना तथा उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाना युद्ध धर्म के सर्वथा विपरीत समझा जाता था। युद्ध में लूट के माल के सम्बन्ध में मनु ने व्यवस्था दी है कि रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्री सभी प्रकार के द्रव्य[6] और कृष्य (सोना-चांदी के अतिरिक्त अन्य धातु) को जीत कर जो सैनिक लाता है, वह उसी का होता है। किन्तु विजेता को चाहिये कि वह सोना-चांदी आदि धन राजा को ही दें क्योंकि वैदिक श्रुति का ऐसा ही नियम है। जो धन अनेक सैनिकों ने सम्मिलित रूप से जीता हो, राजा को चाहिये कि उस धन को उन्हीं सैनिकों में उनके पुरूषार्थ के अनुरूप बाँट दे।[5]

गौतम का आदेश है कि संग्राम में जीते हुये धन को विजेता ही प्राप्त करता है, वाहन और उद्वान (स्वर्णादि धन) राजा के होते हैं तथा जो धन सम्मिलित रूप से अनेक योधाओं ने जीता हो,

1. *भूमिवज धन राजा जित्वा राजन्महाहवे।*
   ....शश्वदाजहार प्रर्दनः।। म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 20
2. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 21*
3. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 20-21*
4. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 5-6*
5. *रथाश्र्व हस्तिनं छत्रं धन्य पशून्स्त्रियः।*
   सर्वद्रव्याणि कुप्यं च वो यज्जयति तस्य तत्॥
   राज्ञश्च दद्युरूद्धारभित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
   राजा व सर्वधोधेभ्यों दातव्यम पृथग्जितम्॥ मनु0 अ0 7, श्लोक 96-97

उसमें उनकी योग्यता और परिश्रम के अनुसार हिस्सा होता है।[1]

इसी प्रकार कौटिल्य का भी कथन है कि युद्ध में लूटा हुआ माल सैनिकों को ही मिलना चाहिये।[2]

युद्ध में सहायक राजाओं को उनके द्वारा प्रदत्त सैन्य सहायता के अनुरूप हिस्सा दिया जाना चाहिये। प्रयास और परिश्रम के अनुरूप विजेताओं को धन का वितरण करना चाहिये। यह सर्वोत्तम तरीका है अथवा लूट में जो माल जिसको मिले वह उसी को दे दिया जाये अथवा युद्ध में जिसका जितना व्यय हुआ हो उसी के अनुसार उसको हिस्सा दिया जाना चाहिये।[3]

विभिन्न आचार्यों के उपर्युक्त मतों का अनुशीलन करने पर इस पक्ष पर दो विभिन्न विचारधारायें स्पष्ट होती हैं—प्रथम, प्राचीन विचारधारा जिसका प्रतिनिधित्व महाभारतीय आचार्य करते हैं और द्वितीय, अर्वाचीन विचारधारा जिसका प्रतिनिधित्व महाभारतोत्तर आचार्य करते हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार युद्ध में लूटी हुई सभी वस्तुओं का अधिकारी राजा ही था, सैनिकों को उसमें कोई हिस्सा नहीं मिलता था। लूटी हुई स्त्रियों को बिना अपनी पत्नी बनाये केवल एक वर्ष तक रख सकता था। युद्ध में विजित भूमि का वह अधिकारी कथमपि नहीं था। किन्तु दूसरी विचारधारा के अनुसार युद्ध में विजित माल विजेता का ही होता है, केवल बहुमूल्य वस्तुयें, भूमि और वाहन ही राजा को प्राप्त होने चाहिये।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान नियमों के अनुसार युद्ध में छीनी गयी वस्तुयें उसी राज्य की मानी जाती हैं जिसके सैनिक उन्हें प्राप्त करते हैं। हाँ, युद्ध में विजित सम्पूर्ण सम्पत्ति अथवा उसका कुछ अंश विजेता सैनिक को भी दे दिये जाने की प्रथा है।[4]

---

1. *जेता लभेत सांग्रामिक वित्तम वाहनन्तु रशि उद्धारश्वापृथग्जये न्यन्तु यथाह भाजयेद्राजा।*
   गौतमसंहिता : 10/20-22
2. *भोगद्रेणण्यं स्वयंग्राहश्येति।* *अर्थ0 10/3*
3. *अंशो दण्ड समः पूर्व : प्रयाससम उत्तमः।*
   विलौपो वा यथालाभ प्रक्षेपसम एव वा।। *अर्थ0 7/4*
4. *जे. जे. लारेन्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ, पृ0 407*

शत्रु की स्त्रियों का अधिग्रहण—

महाभारतकालीन अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं के अनुसार विजेता युद्ध में छीनी गयी शत्रु की स्त्रियों को इनकी इच्छा के विरूद्ध केवल एक वर्ष तक अपने यहाँ रोके रख सकता था। किन्तु इस बीच वह उसके साथ बलात्कार आदि नहीं कर सकता था, भले ही अपनी पत्नी बनाने के लिये उसे विविध प्रकार के प्रलोभन अथवा भय दिखाता रहे। यदि इस पर भी वह विजेता को अपना पति स्वीकार न करे और किसी अन्य के साथ विवाह करना चाहे तो एक वर्ष की अवधि के बाद उसे मुक्त कर दिया जाता था।[1] वैसे भी धर्मशास्त्रीय तथा सामाजिक नियमों के अनुसार स्त्रियों के प्रति सामान्यतया कठोर व्यवहार उचित नहीं माना जाता था।

किन्तु संस्कृत साहित्य में ऐसे भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि शत्रु देश की विजित स्त्रियां विजेता के यहाँ दासियों के रूप में कार्य करने के लिये विवश की जाती थीं। कई बार तो केवल स्त्रियों के लिये ही युद्ध ठन जाते थे। ऐसे युद्धों में विजेता विजित की स्त्रियों को अपनी पत्नी बनाकर ही सन्तुष्ट होता था।

विजित पर आधिपत्य—

विजिगीषु का वास्तविक उद्देश्य शत्रुराज्य को जीतकर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसे करदायी बनाना था। अतः यह एकदम स्वभाविक ही था कि वह विजय के तुरन्त उपरान्त उस पर अपना आधिपत्य जमा ले। अपने आधिपत्य को सुदृढ़ करने के लिये सर्वप्रथम शत्रु की अवशिष्ट शक्ति को भी समाप्त कर देने के उद्देश्य से विजेता राजा शत्रु के विजित राज्य में अपनी सेना को लूट–पाट करने की छूट देता था।[2] इससे शत्रुराज्य की प्रजा का मनोबल गिर जाता था और उसमें विरोध करने की क्षमता समाप्त हो जाती थी। किन्तु यह लूटपाट अमर्यादित नहीं होती थी। कौटिल्य ने विजेता को इस सम्बन्ध में सावधान करते हुये कहा है कि अत्याधिक हिंसा और आगजनी आदि से तंग आकर वहाँ की प्रजा देश छोड़ सकती है।[3] ऐसा होने पर विजिगीषु का उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा। भीष्म भी विजित राज्य में दमनचक्र चलाने के विरूद्ध हैं क्योंकि ऐसा करने

---

1. *संवत्सर विप्रनयेत्तस्माज्जाताः पुनर्भवेत्।* — *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 96, श्लोक 4*
2. *पूरापि येषामनुसृत्य भूमिपाः पुरेषु भोगानखिलान् जयन्ति।* — *म० भा० शान्तिपर्व : अ० 103, श्लोक 4*
3. *अर्थ० 13/4*

पर वहाँ की प्रजा दुखी होकर राज्य का परित्याग कर देती है और विजेता पक्ष से मिल कर उसके आपत्तिग्रस्त होने की प्रतीक्षा करती हैं।[1]

इस प्रकार शत्रु के क्षीण हो जाने और वहाँ की जनता का मनोबल पस्त हो जाने पर विजयी राजा शंख, भेरी, जयघोष आदि के साथ विधवत् शत्रुराज्य में प्रवेश कर वहाँ अपने शासन की घोषणा करता था तथा वहाँ के पुराने मन्त्रिमण्डल को बदल कर नये मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति करता था।[2]

कौटिल्य ने विजित राज्य में शान्ति एवं शासन की स्थापना पर अत्याधिक बल दिया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि विजेता को विजित राज्य की प्रजा को अपने अनुकूल बनाने के लिये यथासम्भव सभी प्रयत्न करने चाहिये। उसे पराजित शत्रु के सभी दोषों को अपने गुणों से तथा उसके गुणों को अपने दुगुने गुणों से ढक देना चाहिये। यही नहीं अपने गुप्तचरों के माध्यम से विजित राजा के दुर्गुणों और अपने गुणों का प्रचार इस प्रकार कराना चाहिये कि पुराने राजा के प्रति प्रजा की निष्ठा समाप्त हो जाये और नये राजा के प्रति निष्ठा स्थापित हो जाये। इसके लिये वहाँ की प्रजा को अपना धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज, वेषभूषा अपनाने की पूरी स्वतन्त्रता दे देनी चाहिये। यही नहीं, उसे वहाँ देवताओं और विद्धानों में श्रद्धा तथा पूज्यभाव रखना चाहिये तथा प्रजा के उत्सवों में भी भाग लेना चाहिये। कभी-कभी दान, कर में छूट, पुरस्कार आदि के द्वारा भी विजित प्रदेश की जनता को अपने अनुकूलन बनाने का प्रयास करना चाहिये।

लेकिन विजेता को ये सब काम आंखे बन्द करके नहीं करने चाहिये। शत्रु के उपकृत मन्त्री आदि कर्मचारियों तथा चोरप्रकृति की म्लेच्छ जातियों को कभी साथ-साथ न रहने दे। पूर्व स्थानों से उनका स्थानान्तरण भी कर देना चाहिये। शत्रुपक्ष के उन व्यक्तियों को जिनसे किसी प्रकार के विद्रोह या भय की आशंका हो, उन्हें उपाशुं दण्ड से दण्डित करना चाहिये। अपने देश के व्यक्तियों को तथा शत्रु द्वारा सताये गये व्यक्तियों को महत्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ करनी चाहिये।[3]

---

1. *म0 भा0 शान्तिपर्व : अ0 96, श्लोक 12-14*
2. *तूर्यमंगलधोषेण स्वकीये पुरमाविशेत्।* — *शुक्र0 4/7/377*

   नियोजयेन्मत्रिगणमपरे मन्त्रचिन्तने। — *शुक्र0 4/7/378*
3. *नवमवाप्य लम्भ.....................स्थापयेत्।* — *अर्थ0 13/5*

इस प्रकार के नियम मनु ने भी निश्चित किये हैं। उनके अनुसार, विजेता राजा को विजित राज्य के देवताओं की पूजा करनी चाहिये और वहाँ के ब्राह्मणों तथा धार्मिकों को दान-मान से सन्तुष्ट कर प्रजा को कर से मुक्ति तथा अभयदान देना चाहिये[1] और वहाँ सभी धार्मिक कार्यों या रीतिरिवाजों को मान्यता दे देनी चाहिये।[2]

उल्लेखनीय है कि आधुनिक नियमों में भी विजित राज्य की जनता के धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकृति दी गयी हैं।[3] इसी प्रकार विजित राज्य के सार्वजनिक पूजास्थली, धार्मिक, संस्थाओं, स्कूलों, चिकित्सालयों और ऐतिहासिक स्मारकों को नष्ट करना नियमों के प्रतिकूल माना जाता है।[4]

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने पराजित राजा के समूह विनाश अथवा उसके राज्य को आत्मसात करने की अनुमति नहीं दी है। उनके अनुसार पराजित राजा अथवा उसी के वंशज को राजपद पर प्रतिष्ठित करना चाहिये। भीष्म का मत है कि पराजित राजा के भाई, पुत्र, पौत्र आदि को राजपद पर प्रतिष्ठित कर देना चाहिये और इनकी अनुपस्थिति में राजा की कन्या को ही राजपदासीन करना चाहिये।[5]

कौटिल्य के अनुसार, वध किये गये अथवा राजा की भूमि, प्रजा, पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा को अधिकार नहीं करना चाहिये।[6] पराजित राजा उसकी भूमि,द्रव्य एंव स्त्री पर अधिकार कर लेता है तो ऐसे विजेता राजा से राजमण्डल के अन्य राजा क्रुद्ध हो जाते हैं और वे उसके नाश का प्रयत्न करने लगते हैं।[7] ऐसे राजा के अमात्य भी भयभीत होकर विद्रोही राजमण्डल में

---

1. *जित्वा सम्पूजयेद् देवान् ब्राहमणाश्वैव धार्मिकान्।*
   प्रदद्यात् परिहारांशच ख्यापयेदभयानि व।। — *मनु0 अ0 7, श्लोक 201*
2. *प्रमाणानि य कुर्वीत लेखा धर्म्यान्थोदितान्।* — *मनु0 अ0 7, श्लोक 203*
3. *जे. जे. लारेन्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ इन्टर नेशनल लॉ, पृ0 413*
4. *हेग रेगूलेशन्स, अनुच्छेद 56*
5. *न च हतस्य भूमिद्रव्यपुत्रदाशनभिमन्येत।* — *अर्थ0 अधि0 7 अ0 16 वार्ता 42*
6, *यस्तूपनतान्हत्वा बध्वा ता भूमिद्रव्य पुत्र दारानभिमन्येत*
   स्योद्विग्नं मण्डलम भावायोन्तिष्ठडते। — *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 46*
7. *ये चास्यामात्या: स्वभूमिष्वायन्तास्ते चास्योद्विग्ना मण्डलमाश्रयन्ते।*
   अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 47

सम्मिलित हो जाते हैं और वह उस राजा के प्राणों एवं राज्य के ग्राहक बन जाते हैं।[1]

इससे यह तात्पर्य निकलता है कि वध किये गये राजा का यदि कोई वंशज नहीं है तो विजेता उसके राज्य को बिना हिचक अपने राज्य में सम्मिलित कर सकता है। शुक्र के अनुसार वध किये राजा का आधा राज्य उसके पुत्र को तथा एक चौथाई उसकी पत्नी को दे-देना चाहिये। यदि पुत्र अपने पिता की भाँति सक्षम नहीं है तो राज कोश का 1/32 भाग उसकी पत्नी को देकर शेष विजेता अपने अधिकार में कर ले।[2]

प्राचीन भारत में ऐसे अनेक उदहारण हैं जिनसे उपर्युक्त सिद्धान्तों की व्यावहारिकता विदित होती है।[3] राम ने बाली का बध कर सुग्रीव को किष्किन्धा कातथा रावण का वध करके विभीषण को लंका का राज्यपद प्रदान किया।[4] सुलेमान सौदागर नामक यात्री ने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में युद्धों में वध किये गये राजा के स्थान पर उनके वंशज का राजपद पर प्रतिष्ठित किया जता था।[5] सामान्यत: विजिगीषु राजपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। सामान्यत: विजिभीषु साम्राज्यलिप्सा से प्रेरित नहीं होता था किन्तु पराजित राज्य एवं राजा पर अपना आधिपत्य चाहता था। पाण्डु एवं पाण्डवों की दिग्विजय का उद्देश्य यही था।[6]

यद्यपि सामान्यत: यही दृष्टिकोण था परन्तु यत्र-तत्र विजेता द्वारा विजित राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित करने के उदाहरण भी मिलते हैं। काशीनरेश ने कौशल राजा को पराजित कर उसका राज्य अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था।[7] समुद्रगुप्त ने अनेक राज्यों को विजितकर अपने राज्य में मिला लिया था।[8]

---

1. *स्वयं राज्यं प्राणान्वास्याभिमन्यन्ते।* *अर्थ0 अधि0 7, अ0 16, वार्ता 47*
2. *शुक्र0 अ0 4, श्लोक 397-399*
3. *म0 भा0 सभापर्व : अ0 27, श्लोक 10, अ0 31, श्लोक 3*
4. *रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 17, श्लोक 52; युद्धकाण्ड : अ0 112, श्लोक 10*
5. *इलियट एण्ड डॉसन : हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई एट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग-1, पृ0 7*
6. *म0 भा0 आदिपर्व : अ0 112, श्लोक 31; सभापर्व : 26/7-8, 27/10*
7. *डॉ0 बेनीप्रसाद : दि स्टेट इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 286*
8. *डॉ0 बेनीप्रसाद : दि स्टेट इन एन्सियण्ट इण्डिया, पृ0 286*

अध्याय—सप्तम

॥ सामन्त पद्धति कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ॥

अध्याय– सप्तम

।। सामन्त पद्धति कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ।।

प्राचीन भारत के विभिन्न राज्य सत्ता और शक्तियों का एक ही मात्रा में प्रयोग नहीं करते थे। उनके पद और स्थिति में भिन्नतायें थीं। कौटिल्य के अनुसार तीन प्रकार के राज्य थे– सम, हीन और बलवान।[1] कतिपय राज्य पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न होते थे, उनके शासक सम्राट, अधिराज, एकराट् आदि कहलाते थे। ऐसे राज्यों को बलवान राज्य कहा जा सकता है। हीन राज्य वे कहे जा सकते है जो आंशिक प्रभुसत्ता का प्रयोग करते थे, सामन्तीय शासक इस श्रेणी में आते थे और राष्ट्रमंडल अथवा चक्र में उनका स्थान नीचा होता था। वे सम्राट या अधिपति को भेंट, उपहार आदि देते थे, इसी कारण उनके राज्य करद् राज्य कहलाते थे। शक्तिशाली राज्य उनकी रक्षा किया करता था, अतः आधुनिक शब्दावली में उन्हें रक्षित राज्य का नाम दिया जा सकता हैं। सम राज्य वे कहे जा सकते हैं जो स्वतन्त्र थे तथा जिन्हें पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त थी।

सामन्त पद्धति का उद्भव प्रधानतः धर्मविजय नीति के फलस्वरूप हुआ था। वैदिक काल से ही प्रत्येक राजा सम्राट पद प्राप्त करने का इच्छुक रहा है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर जो उल्लेख मिलता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्य राज्यों एवं राजाओं को वशवर्ती बनाकर अधिराज, सम्राट, एकराट् बनने का विचार–सूत्र वहाँ दृष्टिगत होता हैं। कहा गया हैं कि इन्द्र, तुम सम्पूर्ण भुवन के एकराट् रूप में विराज रहे हो।[2] अन्य स्थान पर इन्द्र अन्य राजाओं से दक्षिणा ग्रहण करता हैं।[3] यह भी उल्लिखित है कि हम अपने शत्रुओं को पराभूत करते हैं, वसु, रूद्र, आदित्यादि देवता हमारे सर्वोपरि उग्र अधिराज का अतिक्रमण न करें।[4] राजसूय, अश्वमेघ आदि यज्ञ भी इस उद्देश्य के कारण सम्पन्न किये जाते थे जिससे शक्तिशाली राजा सम्राट, चक्रवर्ती अथवा सार्वभौम का पद प्राप्त करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में कथन है कि सार्वभौम सम्राट उसी को कहा जाता था जो आसमुद

---

1. *समहीनज्यायसाम्।* *अर्थ0 7/3*
2. *एकराडस्य भवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभि रूतिभिः।* *ऋ0 8/37/3*
3. *ऋ0 6/27/8*
4. *ऋ0 18/28/8*

पृथ्वी का एकराट् होता था।[1] इस प्रकार विभिन्न राज्यों में युद्ध हुआ करते थे, परन्तु धर्म-युद्ध पर विशेष बल दिया जाता था। प्राय: बिना विचार किये युद्ध प्रारम्भ नहीं किये जाते थे। ध्यातव्य है कि राजा दिग्विजय हेतु निकलते थे, किन्तु राज्य अपहरण उनका लक्ष्य नहीं होता था। विजिगीषु सम्राट अन्य राजाओं को विजित करते थे, परन्तु उनका मूलोच्छेद नहीं करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वे राजपितर अर्थात अन्य राज्यो में श्रेष्ठ या पालक बनकर सन्तुष्ट हो जाया करते थे।[2] यशार्जन ही उनका मुख्य लक्ष्य था। कालिदास इसी का समर्थन करते हुये कहते हैं कि धमार्थ विजय करने वाले महाराज रघु ने कलिंग देशीय महेन्द्राचल की राजलक्ष्मी का हरण किया न कि राज्य का।[3] जातकों में किसी ऐसे युद्ध का वर्णन नहीं मिलता जिसमें विजित प्रदेश विजेता के प्रदेश में मिला लिया गया हो। कौशल राज्य द्वारा काशि-राज्य पर आक्रमण होने पर काशिराज का मंत्री समझाता हुआ कहता है कि "महाराज भयभीत न होइये, आपका अनिष्ट नहीं होगा, आपका राज्य बना रहेगा केवल आपको कौशलराज की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी।[4]"

इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्री भली-भाँति जानते थे कि सर्वशक्तिमान बनने की लालसा मानव में स्वाभाविक है, अत: उसे युद्ध से पूर्णत: विरक्त नहीं किया जा सकता, परन्तु उन्होंने उसकी उग्रता कम करने की यथाशक्ति चेष्टा की । धर्म विजयी राजा अन्य राजाओं पर विजय पाकर पराजित राज्य का अपहरण कदापि नहीं करते थे, यहाँ तक कि वे उसकी शासन - पद्धति में भी हस्तक्षेप नहीं करते थे। उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करवा कर तथा उन्हें करद बनाकर छोड़ देते थे।

इस साम्राज्यवाद का मूल ध्येय अन्य राजाओं के अस्तित्व का लोप करना नहीं था, उन पर प्रभुत्व स्थापित करना था। अधीनस्थ नृप विजेता राजा के सामन्त के रूप में अपने-अपने राज्यों का

---

1. *ऐ० ब्रा० 8/18*
2. *राजानं राजपितरं परमेष्ठिन पारमेठ्ष्याम्।   ऐ० ब्रा० 8/12*
3. *गृहीत प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृप:।*

   श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदनीम् ।।

   रघुवंश : 4/43
4. *जातक : पृ० 316 एवं 391*

शासन संचालन करते थे। महाभारत से सामन्त-प्रथा पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। सभापर्व से ज्ञात होता है कि सामन्त शासकों की उपाधि 'राजन्' थी और उनके अधिनायक की 'सम्राट'।[1] यह भी ज्ञात होता है कि सम्राट और सामन्त का सम्बन्ध तीन प्रकार से स्थापित होता था-

1. दिग्विजय के परिणामस्वरूप सामन्तों का आविर्भाव होता था। पाण्डु, युधिष्ठिर एवं दुर्योधन आदि की दिग्विजय -यात्रा में अनेक राजाओं ने उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।[2]

2. कभी-कभी क्षीण-शक्ति राजा स्वेच्छापूर्वक किसी शक्तिशाली राजा की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। सभापर्व में उल्लिखित है कि अनेक राजाओं ने जरासन्ध की प्रभुत्ता स्वीकार की थी।[3]

3. कभी राजा स्वयं प्रसन्न होकर किसी को सामन्त पद प्रदान कर देते थे। दुर्योधन ने कर्ण को अंग का राजा बना दिया था।[4]

इस प्रकार देश में सामन्त राजाओं का बाहुल्य हो गया, जो स्वयंवर और यज्ञादि के अवसरों पर निरन्तर उपस्थित देखे जाते थे। सामन्त शासकों को अपने राज्य के आन्तरिक शासन में पूर्ण स्वतन्त्रता थी, परन्तु उन्हें सम्राट को निर्धारित कर तथा विशिष्ट अवसरों पर उपहार और भेंट देनी पड़ती थी। महाभारत में इस प्रथा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। विशेष अवसरों पर उनको सम्राट की सेवा में भी उपस्थिति होना पड़ता था। युधिष्ठिर के अभिषेक के अवसर पर सामन्त राजाओं ने अनेक प्रकार के कार्यों में भाग लिया था। आवश्यकता पड़ने पर वे अपने अधिपति को सैनिक सहायता भी देते थे। साधारणत: सम्राट और सामन्त के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण होते थे, परन्तु यत्र-तत्र इसके विपरीत स्थिति के भी दिग्दर्शन होते हैं। राजा सुवर्चा पर सामन्त शासकों ने उस समय आक्रमण कर दिया था जब वह कोष-वाहन-क्षीण हो गया था।[5]

परवर्ती युगों में भी सामन्त-प्रथा विकसित होती रही। मौर्ययुगीन कौटलीय अर्थशास्त्र तथा

---

1. *गृहे गृहे हि राजान: स्वस्य प्रियंकरा:।*
   न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दोहिकृत्स्न भाक्।।   म0 भा0 सभापर्व : अ0 15, श्लोक 2
2. *म0 भा0, आदिपर्व : अ0 112; सभापर्व : अ0 25, श्लोक 32*
3. *पश्यमाने यशोदीप्तं जरासंधमुपाश्रित:।   म0 भा0 सभापर्व : अ0 13, श्लोक 7-23*
4. *म0 भा0 आदिपर्व : अ0 135, श्लोक 36-38*
5. *म0 भा0 आश्वमेधिकपर्व : अ0 4, श्लोक 12-13*

अशोक के शिलालेखों में "सामन्त" शब्द पड़ोसी राजा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] परन्तु भविष्य में यह शब्द अधीनस्थ शासकों का द्योतक बन गया। डा0 यादव के अनुसार इस अर्थ में "सामन्त" का प्रयोग सर्वप्रथम अश्वघोष के बुद्धचरित में प्राप्त होता है,[2] जो कुषाणकालीन कृति है। तत्पश्चात् गुप्तकालीन अभिलेख एवं हर्षकालीन साहित्य में सामन्त, महासामन्त आदि उपाधियों का वर्णन मिलता है।

वस्तुत: मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत पर विदेशी जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये, जिनसे उत्पन्न अराजकता के कारण भारत में सामन्त प्रथा का विकास हुआ। गुप्तवंश के शक्तिशाली सम्राट भारत में पुन: एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने में समर्थ हुए थे, किन्तु गुप्त साम्राज्य का स्वरूप मौर्य साम्राज्य से नितान्त भिन्न था। उसके अन्तर्गत अनेक ऐसे राज्य थे, जिनके राजा पर्याप्त अंश में स्वतंत्र स्थिति रखते थे। दक्षिण कोशल, महाकान्तार, पिष्टपुर, कोट्टूर, देवराष्ट्र, एरड़पल्ल आदि अनेक राज्य गुप्त सम्राटों की अधीनता में पृथक रूप से विद्यमान थे, और यौधेय, मद्र आदि अनेक गणराज्य भी गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते हुये अपनी स्वतंत्र सत्ता को स्थापित किये हुये थे। असम,नेपाल, कर्तृपुर, उत्तर-पश्चिमी भारत का कुशाण राज्य और सिंहल द्वीप भी गुप्त सम्राटों को अपना अधिपति मानते थे। इन सब विविध राज्यों के शासक अपनी शक्ति के अनुसार महाराजा तथा राजा कहलाते थे और उनकी स्थिति गुप्त सम्राटों के अधीन सामन्त राजाओं की थी। ये सभी आन्तरिक शासन में स्वतंत्र थे। यथार्थत: इस काल में भारत में सामन्त प्रथाा का विकास हो गया था।[3]

बाण के 'हर्षचरित' में सामन्तों के अनेक वर्ग उल्लिखित हैं- सामन्त,महासामन्त, आप्त सामन्त, प्रधान सामन्त, प्रति सामन्त, करदी महासामन्त आदि।[4] बड़े सामन्तों के अधीन छोटे सामन्त और उनके भी अधीन और छोटे सामन्त होते थे। इन सामन्तो की अपनी सेनायें भी होती थीं। ये अपना राजकीय कर भी स्वयं वसूल करते थे। गुप्तों के काल में जिस प्रकार की सामन्त पद्धति

---

1. अर्थ0 1/6/4, 21/43; तथा अशोक का द्वितीय शिलालेख।

2. डॉ0 यादव : सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पृ0 136

3. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजनीतिक विचार, पृ0 350

4. वी. एस. अग्रवाल : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, परिशिष्ट 2

भारत में विकसित हो गयी थी, वह प्रायः सम्पूर्ण मध्यकाल में स्थापित रही।

प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक तथा उनके अधीनस्थ राजाओं की उपाधियाँ भी सामन्तशाही का अस्तित्व प्रमाणित करती हैं। शक-कुषाण युग में अधिपति की उपाधियाँ षाह-नुषाहि, राजातिराज, महाक्षत्रप और उनके सामन्तों की षाहि, क्षत्रप आदि थीं। गुप्त एचं परवर्ती युगों में यह उपाधियाँ क्रमशः सम्राट,[1] महाराजधिराज, राजा तथा महाराज थीं। विविध महाराजा, राजा, महासामन्त, सामन्त और मण्डलेश्वर आदि शासक अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होते हुये भी अपने अधिपति के साथ विशेष प्रकार के सम्बन्धों से बंधे हुये थे और इन सम्बन्धों का आधार उनकी अपनी शक्ति तथा अपने अधिपति की शक्ति ही होती थी। अधिपति राजा, जिसे "महाराजधिराज" कहा जाता था, अपने अधीनवर्ती राजाओं, महाराजाओं तथा सामन्तों से किस प्रकार का सम्बन्ध रखे, यह उसकी अपनी शक्ति पर ही निर्भर करता था। लेकिन इन अधीनस्थ राजाओं से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे महाराजधिराज या अपने से उच्चतर अधिपति के वशवर्ती होकर रहें, उसके आदेशों का पालन करें, समय-समय पर भेंट-उपहार आदि उसकी सेवा में भेजते रहें और विशेष अवसरों पर राजदरबार में उपस्थित होकर अधिपति के प्रति अपनी भक्ति तथा सम्मान प्रदर्शित करते रहें। जब महाराजधिराज या सामन्त का अधिपति कहीं आक्रमण करता था, किसी राज्य को जीतने या अधीनस्थ राजा के विद्रोह का दमन करने के लिये सैन्य शक्ति का प्रयोग करता था तो सामन्तों से यह भी अपेक्षा की जाती थी कि वे अपनी-अपनी सेनाओं को साथ लेकर युद्ध में अपने अधिपति की सहायता करें। सामन्त राजाओं पर नियन्त्रण रखने के लिये महाराजधिराज की ओर से कतिपय पदाधिकारियों की नियुक्ति भी को जाती थी, जिन्हें सामन्त की स्थिति के अनुसार "उपरिक महाराज कुमारामात्य" व 'विषमपति कुमारामात्म' आदि कहा जाता था। ये पदाधिकारी सामन्त राजा की राजधानी में नियुक्त हाते थे और उसके कार्यकलाप पर दृष्टि रखते थे। महाराजधिराज और अधीनस्थ सामन्त राजाओं में परस्पर सम्बन्ध बनाये रखने के लिये इन पदाधिकारियों का बहुत उपयोग था।[2]

समस्त सामन्त-राजाओं की स्थिति एक समान नहीं होती थी। कतिपय बड़े सामन्त अपने राज्य में निक्रयात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र स्थिति रखते थे। इन्हें महाराज तथा महासामन्त कहा जाता था।

---

1. *अभिधानचिन्तामणि : मर्त्यकाण्ड, 680; राजनीति रत्नाकार : पृ0 3*

2. *डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजनीतिक विचार, पृ0 351*

इनका महाराजाधिराज से केवल इतना सम्बन्ध होता था, कि विशेष अवसरों पर वे भेंट, उपहार आदि भेजकर अधिपति के प्रति अधीनता प्रदर्शित करते रहें और आवश्यकता पड़ने पर उसे सैनिक सहायता प्रदान करने के लिये भी उद्यत रहें। उनके अपने भी सामन्त होते थे जो अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राजाओं के समान आचरण किया करते थे। ये बड़े सामन्त अपने राज्य से स्वयं राजकीय कर वसूल करते थे और अपनी इच्छानुसार उसे व्यय कर सकते थे।

परन्तु महाराजधिराज के अधीन ऐसे सामन्त- राजा भी होते थे, जिनकी स्वतन्त्रता बहुत सीमित होती थी। इन्हें अपने क्षेत्र से राजकीय कर वसूल करने और खर्च करने के सम्बन्ध में अपने अधिपति से अनुमति प्राप्त करनी होती थी और यदि उन्हें किसी भूमिखण्ड को दान देना हो तो उसके लिये भी वे महाराजधिराज द्वारा नियुक्त पदाधिकारी से अनुमति ग्रहण किया करते थे। इसी कारण इन सामन्तों द्वारा दिये गये दानों के सम्बन्ध में जो विवरण दान पत्र पर उत्कीर्ण कराये जाते थे, उन पर सामन्त राजा के अतिरिक्त महाराजाधिराज द्वारा नियुक्त राजपदाधिकारी की सहायता भी उल्लिखित की जाती थी।

ऐतिहासिक युग में दो प्रकार के सामन्तों का विवरण प्राप्त होता है—

1. ऐसे पराजित राजा जो विजेता के सामन्त बनकर अपने राज्यों में शासन करते रहते थे। दक्षिणापथ के बारह राजा, जिनको गुप्त सम्राट समुद्र गुप्त ने पराजित किया था, इसी कोटि में आते हैं।[1] कालिदास के "रघुवंश"[2] तथा बाण के "हर्षचरित" और "कादम्बरी" में भी इस प्रकार के सामन्तों का उल्लेख है। नवीं शताब्दी के अरब यात्री सुलेमान के वृत्तान्त से भी इस प्रथा की पुष्टि होती है।[3]

2. ऐसे क्षीण-बल राजा जो आत्मरक्षार्थ स्वेच्छापूर्वक किसी शक्तिशाली शासक की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। मध्ययुगीन इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

राजपूत -युग में जब जातीय-राज्य स्थापित हो चुके थे तब सम्राट अपने बन्धु-बान्धवों को जागीरें प्रदान करने लगे थे। इन जागीरदारों की स्थिति भी प्रायः सामन्तो के समान ही थी। इसी प्रकार केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने पर प्रान्तीय शासक एवं सेनापति स्वतंत्र होने लगते थे। प्रारम्भ में

---

1. *......सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनित प्रताप.... । समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।*

2. *गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयो नृप। रघुवंश : 4/ 37*

3. *हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग-1, पृ0 7*

कुछ समय तक वे सम्राट को मान्यता देते हुये उसके सामन्त रूप में शासन करते थे, परन्तु कालान्तर में स्वतंत्र हो जाते थे। पांचवी शताब्दी के अन्त में गुप्त साम्राज्य तथा दसवीं शताब्दी में गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य के ह्रास होने पर उत्तरी भारत में इस प्रकार के कई राज्यों का अभ्युदय हुआ था। फिरिश्ता के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि तराइन के युद्ध मे पृथ्वीराज चाहमान के साथ 150 सामन्त राजा थे।[1] गुर्जर-प्रतिहार, कलचुरी, चन्देल, चालुक्य तथा परमार वंशीय नरेशों के सामन्तों का उल्लेख भी ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा अभिलेखों में मिलता हैं।

राजपूत-युग में सामन्त- धर्म, उनके अधिकार तथा कर्त्तव्य निर्धारित हो चुके थे। सामन्तों का प्रमुख कार्य अपने अधिपति को आवश्यकतानुसार सैनिक सहायता प्रदान करना था। युद्ध के अवसर पर सामन्त अपने अधिपति की सहायता के लिये प्रस्तुत रहते थे।

शुक्र का मत है कि सामन्त को अपने स्वामी के कार्य में प्राण भी उत्सर्ग कर देना चाहिये।[2] सैनिक सहायता के अतिरिक्त सामन्तों को कर भी देना पड़ता था। राजनीति रत्नाकर में सामन्तो के दो वर्गो का उल्लेख किया गया है- सकर तथा अकर।[3] सम्भवतः सकर सामन्तों को नियमित कर देना पड़ता था तथा अकर सामन्त विशेष अवसरों पर भेंट या उपहार प्रदान करते थे। सामन्त राजा समय-समय पर अपने अधिपति की सेवा में भी उपस्थित होते थे।[4] हर्षचरित के अनुसार तो ऐसे अवसरों पर उनकी रानियां भी उपस्थित रहती थीं।[5] सामन्तों के पुत्र भी सम्राट की सेवा में नियुक्त किये जाते थे। बाण के हर्ष चरित से हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन के दरबार में मालव नरेश के दो पुत्रों कुमार गुप्त तथा माधव गुप्त की उपस्थिति प्रमाणित होती है। इसी प्रकार समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में सामन्त राजाओं द्वारा सम्राट को कन्या प्रदान करने का उल्लेख प्राप्त होता है।

इन सेवाओं के बदले सम्राट भी अपने अधीनस्थ सामन्तों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य मानता था। समरैच्छकहा में राजा कुमारसेन की कथा है जिसने अपने सामन्त को सहायता देना अपना धर्म माना था, यद्यपि वह सामन्त स्वयं दोषी था।[6] इसके अतिरिक्त सामन्त राजा अपने आन्तरिक शासन में पूर्णत स्वतन्त्र थे।[7]

---

1. ब्रिग्स : तारीख-ए-फिरिश्ता, भाग-1, पृ0 175
2. शुक्र0 अ0 1, श्लोक 319
3. राजनीतिरत्नाकार : पृ0 3
4. हर्षचरित पृ0 60; नैषधीयचरित, अ0 21; अग्रवाल : कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 127-28
5. हर्षचरित, पृ0 167
6. दशरथ शर्मा : राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ0 338; राजतरंगिणी, 5/309, 5/324
7. स्वके स्वभक्तानुसारे राज्यकुर्वन्ति स्वेच्छया। अपराजितपृच्छा : पृ0 194

   स्वविषयभुक्तिशासन...। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।

अध्याय—अष्टम

।। उपसंहार ।।

अध्याय– अष्टम

।। उपसंहार ।।

प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अनेक विशेषताओं को दिग्दर्शित करता है। धर्म, दर्शन, सिद्धान्त एवं व्यवहार की दृष्टि से उन विशेषताओं को अग्र प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

धार्मिक विशेषतायें–

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने राजनीतिक जीवन में भी धर्म की सम्प्रभुता स्थापित कर दी थी । अत: धर्मपालन के लिये राजनीतिक नियमों का पालन किया जाता था। प्राचीन भारतीयों की राजनीति मात्र राजनीति नहीं थी, वह तो "राजधर्म" थी जिसके उल्लंघन पर दैवी और सामाजिक- दोनों ही प्रकार का दण्ड भोगना पड़ता था। अधर्म अर्थात नरक लोकों में गति, समस्त पुण्यों का क्षय आदि दैवी दण्ड थे। अधर्मशील राजाओं के पापपूर्ण कार्यो में धार्मिक राजा का हस्तक्षेप जो राज्यभ्रंश और मृत्युदण्ड भी हो सकता था, एकदम सामाजिक दण्ड था। जरासन्ध एवं शिशुपाल की सम्प्रभुता में कृष्ण ने धर्म के नाम पर ही हस्तक्षेप किया और उन्हें मौत के घाट तक पहुँचा दिया।[1] वस्तुत: जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह सामाजिक एवं राजनीतिक ही क्यों न हो, धर्मरक्षा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था, सभी राज्यों पर धर्मनीतियों का एकछत्र शासन था। लंका जैसे आर्येत्तर राज्यों में भी धर्मनीतियाँ इतनी प्रबल थी कि घोर अपराध करने वाले राम दूत हनुमान को प्राणदण्ड केवल धर्मसम्मत न होने के कारण ही नहीं दिया गया था।[2]

आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध धर्म से एकदम असम्पृक्त हैं। अत: उसमें नैतिकता मात्र सिद्धान्तों तक सीमित है। सभी राष्ट्र अपने अपने स्वार्थ की दृष्टि से नीतियों का उल्लंघन करते रहते हैं। इसीलिये अब राजनीतिज्ञ अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धें के सम्यक् संचालन हेतु नैतिक मूलयों को भी महत्व देने लगे हैं।

दार्शनिक विशेषतायें–

प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धें की दूसरी विशेषता है उसका दार्शनिक भूमि पर

---

1. *म० भा० सभापर्व : अ० 14*
2. *रामा० सुन्दरकाण्ड : अ० 52, श्लोक 13–14*

निर्माण। भारतीय दर्शन के "अहं" ब्रहमास्मि" और "यो वे भूमा तत्सुखम् के आदर्शो पर यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय आचरणों का निर्धारण किया गया था। विस्तार में ही सुख है, अल्प में सुख नही हैं" इस दार्शनिक मान्यता ने राजमण्डल और दिग्विजय द्वारा एकराट् बनने की भावना को जन्म दिया किन्तु साथ ही "सर्व खल्विदं ब्रह्म" इस आदर्श वाक्य ने विजिगीषु के समक्ष सम्पूर्ण संसार को ब्रह्म का स्वरूप बताया और "अहे ब्रह्मस्मि" वाक्य ने विजिगीषु और तदितर संसार में अभेद स्थापिपत कर अपने पराये का भेद भूल जाने का आदर्श प्रस्तुत किया। परिणामतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी आदर्श मानवीय दृष्टिकोण, लोकोपकारी, सभी की समानता पर आधारित,संवैधानिक तथा सर्वथा लौकिक राजनीतिक दर्शन की प्रतिष्ठा हुई। भारत का वीर युद्धक्षेत्र में मरकर भी नहीं मरता क्योंकि आत्मा तो अजर अमर है, शस्त्र उसे काट नहीं सकते, अग्नि उसे जला नहीं सकती, जल उसे गला नहीं सकता और हवायें उसे सुखा नहीं सकतीं।[1] अतः वह अपने कर्तव्यपालन पर दृढ़ रहता था। राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि सभी यज्ञों का दृष्टिकोण सर्वथा दार्शनिक है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन यज्ञों का असाधारण संवैधानिक महत्व था। बिना इनका सम्पादन किये राजा को दिग्विजय कर लेने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की मान्यता नहीं मिलती थी।

सैद्धान्तिक विशेषतायें—

प्राचीन भारत का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मात्र धर्म एवं दर्शन के अलौकिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं था। उसके राजनीति सिद्धान्त बड़े स्पष्ट थे। सिद्धान्तों में किंचितमात्र विराधाभास नहीं था। "प्रत्येक राज्य समान नहीं हो सकता" यह प्राचीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक ऐसा सिद्धान्त था जिसे आज के राजनीतिवेत्ता अनुचित बताकर भी स्वीकार करते हैं। शक्तिशाली राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी वीटो करने का अधिकार सयुंक्त राष्ट्रसंघ द्वारा स्वीकृत समस्त राष्ट्रों के समानता के सिद्धान्त को महत्वहीन बना देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीयों द्वारा कल्पित मण्डल सिद्धान्त को आज के विद्वान दुराग्रहग्रसित सिद्धान्त बता सकते हैं किन्तु वास्तव में उस युग में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उसी सिद्धान्त का अनुसरण करती थी। दूत की अवध्यता का सिद्धान्त, राजसूय-वाजपेय

---

1. *नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।*

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मा स्तः।। गीता : 2/23

आदि यज्ञों के द्वारा मान्यता प्राप्त किये जाने का सिद्धान्त, दिग्विजय करने के बाद भी शंत्रुराज्यों को आत्मसात् न करने का सिद्धान्त आदि ऐसे अनेक सिद्धान्त थे जो भारतीय राज्यों का समुचित मार्ग दर्शन करते थे।

व्यवहारिक विशेषतायें—

प्राचीन भारत का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मात्र विविध सिद्धान्तों के प्रतिपादन तक ही सीमित नहीं था। उसकी व्यावहारिकता का प्रश्न हमारे प्राचीन आचार्यों के सामने सदैव उपस्थिति रहता था। अत: उन्होंने इसे नितान्त व्यावहारिक बनाने में कोई कमी नहीं छोड़ी थी। नीतियों के उल्लंघनकर्त्ता को धर्म और लोकोपवाद का भय दिखाना नितान्त व्यावहारिक सिद्धान्त था।

यद्यपि अश्वमेध यज्ञ राज्यों की विस्तारवादी नीति की पोषक थी फिर भी राजाओं की चक्रवर्ती अथवा एकराट् बनने की आकांक्षा संकुचित मानसिकता की परिचायक नहीं है। राजमण्डल का कोई भी राजा इस हेतु प्रयत्न कर सकता था। यदि वह अकेले इस लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ नहीं था तो हिन्दू राजधर्म के अनुसार अन्य मित्र राजाओं की सहायता ले सकता था। विजय पद एवं प्रतिष्ठा की द्योतक थी।

दिग्विजय का मन्तव्य—

अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा था कि यदि वह अत्यधिक शक्तिशाली होना चाहते हैं तो उन्हें दिग्विजय का अभियान प्रारम्भ कर देना चाहिये।[1] युद्ध में विजय प्राप्त करने और अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न करने के पीछे विजिगीषु का मन्तव्य अन्य राजाओं पर आधिपत्य स्थापित करना एवं उनसे भेंट ग्रहण करना था। सामान्यत: विजेता विजित राज्यों को अपने राज्य में आत्मसात नहीं करता था। युधिष्ठिर ने अर्जुन को परामर्श दिया था कि जहाँ तक सम्भव हो अधीनस्थ राजाओं के साथ शान्ति एवं मित्रता पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिये। युद्ध का ध्येय शत्रु का मूलोच्छेदन नहीं था। युद्ध शक्ति का अर्जन और प्रदर्शन था।

पाण्डवों की दिग्विजय प्रमाण है कि इसका उद्देश्य एक राज्य द्वारा दूसरे राज्यों पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना था। पराजित राजा विजेता को भेंट देकर उपकृत करता था किन्तु यदि युद्ध में उसका वध हो जाता था तो उसके वंशजों को राजपद पर मण्डित कर दिया जाता था।[2] इस प्रकार

---

1. *म0 भा0 सभापर्व : अ0 25, श्लोक 2-3*
2. *मनु0 अ0 7, श्लोक 202; रामा0 किष्किन्धाकाण्ड : अ0 17, श्लोक 52*

प्रत्येक राज्य का अस्तित्व तथा स्थायित्व बना रहता था। संभवत:इस भावना का कारण प्राचीन भारतीयों की बन्धुत्व की धारणा थी जिसे भाषा और धर्म की समानता ने सुदृढ़ बना दिया था। राज्यों के मध्य शत्रुता और मित्रता ने उनके सैन्य संगठन को विकसित किया तथा युद्ध के नियमों को प्रतिस्थापित ही नहीं किया अपितु मानवीय भी बनाया।

क्षत्रियों की श्रेष्ठता का कारण : रक्षा का महत्व—

वर्ण व्यवस्था में क्षत्रियों को बहुत मान दिया गया है। कहीं-कहीं क्षात्रधर्म को सर्वश्रेष्ठ भी माना गया है। रक्षक होने के कारण वह अन्य धर्मो का धारक है। प्राचीन अरक्षित समाज में रक्षा का बड़ा महत्व था।राज्य-रक्षा में तत्पर क्षत्री राज्य के गौरव होते थे। आज भी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से ऐसे रक्षकों की आवश्यकता है।

राजमण्डल द्वारा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन—

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रप्रणेता यह मानते थे कि युद्ध का सर्वाशत: त्याग असम्भाव्य है। इसीलिये युद्ध की सम्भावना यथासंभव कम करने के लिये उन्होंने विविध राज्यों के मण्डल बनाकर उनमें शक्ति सन्तुलन कायम करने की व्यवस्था दी है। इन आचार्यो ने विभिन्न राज्यों के मध्य जो सम्बन्ध स्थापना की संभावना हो सकती है उसे समझते हुये दुर्बल राज्यों को अपने से अधिक शक्तिशाली पड़ोसी राज्य से सावधान रहने की बात कही है तथा विजिगीषु राजा की विस्तारवादी नीति से अपनी रक्षा हेतु बलशाली राज्य से मैत्री स्थापित करने की व्यवस्था दी है, जिससे विजिगीषु आक्रमण न कर सके। समुद्रगुप्त के दूसरे आर्यावर्तीय युद्ध में उत्तरापथ के राजाओं द्वारा "संघराज्य" का गठन कर युद्ध करना संभवत: अनेक द्वारा गठित "मण्डल" जो उन्होंने अपने रक्षार्थ किया होगा, को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार के एक 'मण्डल' अथवा 'सघं'राज्य का गठन चन्द्र नामक शासक के विरूद्ध बंगाल में किया गया था।

मण्डल के गठन में राज्यशास्त्रियों ने 12 राज्यों को सम्मिलित किया है। इस सिद्धान्त का मूलाधार यह है कि दो पार्श्ववर्ती राज्य, जिनकी सीमायें परस्पर मिलती हैं, स्वभावत: एक दूसरे के शत्र होते हैं। शत्र-राज्य के परे जो राज्य होता है वह मित्र राज्य है। मध्यम राज्य वह शक्तिशाली

अपनी बलिष्ठ सात प्रकृतियों से सम्पन्न, परम शक्तिसंकुल राज्य कहा जाता है। यह तीनों भाँति के राजाओं विजिगीषु, मध्यम तथा शत्रु को पृथक-पृथक अथवा एक साथ अनुकूल एवं निग्रह करने में समर्थ समझा जाता था।

कौटिल्य के उदासीन राज्य की परिभाषा आधुनिकयुगीन तटस्थ राज्यों से भिन्न है। एक तटस्थ राज्य के लिये आज आवश्यक नहीं कि वह सर्वथा शक्ति-सम्पन्न हो। दुर्बल राज्य भी तटस्थ रह सकते हैं, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का यह सैद्धान्तिक आदर्श मात्र है। कोई सबल राज्य ही तटस्थ रह सकता है। किसी लघु और निर्बल राज्य को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से किसी शक्ति-समुदाय में प्रविष्ट होना ही पड़ता है।अतः कौटिल्य का विधान पुष्ट एवं तार्किक है।

यद्यपि राजमण्डल के गठन में 12 राज्य थे परन्तु जैसा कि यू0एन0 घोषाल ने कहा है कि परिस्थितियों के अनुसार राज्यों की संख्या ही नहीं घट– बढ़ सकती थी वरन् मण्डलस्थ राज्यों के भौगोलिक आधार पर नियत सम्बन्धों में भी विविध स्वार्थों के कारण परिवर्तन हो जाता था।[1]

मण्डल योजना का ध्येय शक्ति की दृष्टि से विभिन्न स्तरीय राज्यों के अन्त : सम्बन्धों के एक सुव्यवस्थित तथा शान्तिपूर्ण स्वरूप की स्थापना तथा उनके अस्तित्व की संरक्षा करना था। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता का यह सिद्धान्त एक सन्तुलन है, जिसमें अन्तर्राज्य- सम्बन्धों की एक स्थायी व्यवस्था है।

षाड्गुण्य-मन्त्र मण्डल-सिद्धान्त के क्रियान्वयन की व्यावहारिक स्थिति–

षाड्गुण्य-मन्त्र राजमण्डल-व्यवस्था का एक अनिवार्य एवं मूल आधार है। इसका उद्देश्य क्षय, स्थान और वृद्धि का निश्चय करना होता है।

षाड्गुण्य के अन्तर्गत राजा छः गुणों के आधार पर अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। ये 6 गुण है- संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव। इनका उचित रूप से प्रयोग परिस्थिति, समय एवं स्थान के अनुसार किया जाना चाहिये। आचार्यो ने प्रथम गुण संधि को माना है। जब प्रतिज्ञापूर्वक अन्य राज्य से सम्बन्ध स्थापित किये जायें तो उसे संधि कहते हैं। सभी संधियों का उद्देश्य शत्रु का नाश तथा स्वयं की रक्षा एवं विकास है। "षाड्गुण्य" का दूसरा मंत्र विग्रह है। विग्रह का अर्थ राजाओं का एक दूसरे के अपकार में लग जाना है। अशोक की कलिंग

---

1. डॉ0 यू. एन. घोषाल : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पालिटिकल थॉट, पृ0 94

विजय एवं समुद्रगुप्त की दिग्विजय उनके द्वारा विग्रह नीति के उदाहरण है। तृतीय मंत्र आसन है। उदासीन वृत्ति को आसन कहते हैं। समुद्र गुप्त द्वारा (विजिगीषु) के रूप में उत्तरापथ के शासकों का उन्मूलन किया गया। दक्षिणापथ को विजित कर उन्हें अपने प्रभाव में बनाये रखने के लिये उनसे "आसन" की नीति अपनाई। शत्रु के विरूद्ध तैयारी करना यान के अन्तर्गत आता है। किसी शक्तिशाली राजा के यहाँ आश्रय लेना संश्रय है। एक राजा से संधि करना और दूसरे से विग्रह अथवा शत्रुता स्थापित करना द्वैधीभाव है। जर्मनी ने रूस से सन्धि करके पोलैण्ड और उसके मित्रों से विग्रह किया, इसलिये उसकी यह नीति द्वैधीभाव है।

प्राचीन भारत के राज्यों के पारस्परिक कूटनीतिक सम्बन्ध षाड्गुण्य-मन्त्र पर आश्रित रहे हैं। मौर्य साम्राज्य के निर्माण में अवश्य ही षाड्गुण्य सिद्धान्त कार्यशील रहे हैं अन्यथा नन्दों का उन्मूलन तथा मगध राज्य पर अधिकार कर उसको साम्राज्य में परिवर्तित करना षाड्गुण्य कूटनीति विधि के बिना संभव नहीं हो सकता था।

मित्र—

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने राज्य के एक आवश्यक अंग के रूप में मित्र को मान्यता प्रदान की है, जबकि आधुनिक विचारक राज्य की मान्य परिभाषा में इस तत्व को कोई महत्व प्रदान नहीं करते हैं, परन्तु व्यवहारिक राज्य के सम्बन्ध में इस तथ्य की उपेक्षा करना ठीक वैसी ही परिकल्पना हैं जैसी कि वायुमण्डलरहित जीवन की, क्योंकि कोई भी राष्ट्र चाहे वह कितना ही अधिक विकसित क्यों न हो अपने सहयोगी मित्र राज्यों की अनुपस्थिति में अपने आपको बनाये रखने तथा विकासोन्मुख रखने में सफल नहीं हो सकता है। प्राचीन भारतीय आचार्यो ने राज्यों को उनकी स्थिति और उनकी नीतियों के आधार पर जिन शत्रु-मित्र राज्यों की श्रेणी में विभक्त किया है वह उनके परिपक्व ज्ञान और तत्कालीन विकसित अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का परिचायक है।

विदेश नीति का मूल ध्येय शक्ति सन्तुलन—

प्राचीन भारत में राज्यों की विदेश नीति का मूल ध्येय शक्ति सन्तुलन की स्थापना करना था। बुद्धिमान एवं समर्थ राजा इस प्रकार की नीति का अवलम्बन करता था जिसके फलस्वरूप उसकी शक्ति की तुलना में अन्य राजा स्वयं को हीन समझते थे। वह अपनी शक्ति की श्रेष्ठता को स्थापित कर उसे भविष्य में भी कायम रखना चाहता था।

शक्ति सन्तुलन बनाये रखने के लिये अत्यधिक सशक्त राज्य "मध्यम" के विरूद्ध हस्तक्षेप करना विजिगीषु का कर्त्तव्य माना गया है। कौटिल्य का कथन है कि विजिगीषु राजा राजमण्डल को मध्यम के विरूद्ध यह कह कर उत्तेजित करे कि "देखो! अति समृद्ध हुआ यह मध्यम राजा हम सबको नष्ट करने पर तुला है। हमको चाहिये कि हम एक होकर इसके आक्रमण को रोकें।" इस प्रकार उकसाने पर राजमण्डल जब तैयार हो जाये तो उसके सहयोग से मध्यम का निग्रह करके स्वयं की उन्नति करे।[1]

मित्र[2] और उदासीन[3] राज्यों की भी शक्ति को अधिक न बढ़ने देने के लिये प्रत्येक राज्य को प्रयास करना चाहिये।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन से प्राचीन भारतीयों द्वारा "हस्तक्षेप" की वैधानिकता और उपयुक्तता की स्वीकृति स्पष्ट है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन भारतीय आचार्य अन्य राज्यों में खुले हस्तक्षेप के समर्थक थे। लेकिन इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि वे अन्तर्राष्ट्रीय जगत की घटनाओं के प्रति मूकदृष्टा बने रहते थे। उनकी मण्डल सिद्धान्त की अभिव्यक्ति और मण्डलस्थ राज्यों के प्रति षाड्गुण्य नीति के प्रयोग के निर्देश से यह स्पष्ट है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति मूकदर्शक बने रहना उचित नहीं मानते थे। चूँकि हस्तक्षेप करने पर सम्बद्ध राज्यों में कटुता उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप युद्ध भड़कने की सम्भावना निरन्तर बनी रहती है, अतः विशेष परिस्थितियों को छोड़कर हस्तक्षेप को प्राचीन भारतीय प्रोत्साहन नहीं देते थे। ध्यातव्य है कि 19 और 20 वीं शताब्दी में हस्तक्षेप की जो घटनायें हुयी हैं उनके कारण भी लगभग वही थे जिनके लिये प्राचीन भारत में हस्तक्षेप किया जाता था । आधुनिक काल में विश्व जनमत हस्तक्षेप के विरोध में अधिक संगठित तथा जागरूक होता जा रहा है।

विजय एवं वशीकरण के साधन के रूप में उपाय—

महाभारत की उक्ति है कि युद्ध आवश्यक होते हुये भी जघन्य कार्य है। युद्ध की अपेक्षा उपायों का आश्रय श्रेयस्कर समझा जाता था। उपाय के चार तत्वों– साम, दान, भेद तथा दण्ड को

1. *अर्थ0 7/18*
2. *अर्थ0 7/18/5*
3. *अर्थ0 7/18; मनु0 अ0 7, श्लोक 177; नीतिवाक्या0 29/49*

ही प्रमुखत: स्वीकार किया गया है परन्तु उपायों के सात प्रकार का भी उल्लेख हुआ है। ये हैं- साम, दान, दण्ड, भेद उपेक्षा, माया तथा इन्द्रजाल। यद्यपि निर्दिष्ट चार उपाय ही राज्यों के पारस्परिक आचरणों की कसौटी थे। दण्ड का प्रयोग अन्तिम साधन माना गया है। प्रथमत: साम नीति और उसके विफल होने पर भेद नीति व्यवहार में लानी चाहिये। जब उनमें भी सफलता न मिले तो दान नीति का और इन तीनों की असफलता के बाद दण्ड-नीति(युद्ध) का प्रयोग करना चाहिये।1 जो शत्रु साम और दान से प्रसन्न न हों उन पर दण्ड का प्रयोग करना चाहिये।

प्रयाग प्रशस्ति में अभिलिखित "आटविक राज्यों" ने अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये "दान" उपाय का आश्रय लिया था। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार विभिन्न प्रकार के दान यथा- सर्व कर दान, प्रारणायगमन, आज्ञाकरण इत्यादि के द्वारा छोटे-छोटे राज्यों ने अपनी रक्षा की। इसी प्रकार लघु कुषाय धानुषधारी, शककु साड़ तथा सिंहल के शासकों द्वारा के उपाय नीतियों के अनुसार अपनी रक्षा करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विदित होता है कि प्राचीन भारत की परराष्ट्र नीति अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन करती है। किन्तु उस पर धर्मशास्त्रीय परम्परा का इतना प्रभाव अवश्य है कि कूटनीतिक तत्व नितान्त लौकिक उद्देश्यों पर आधारित होते हुये भी धर्म की उदार भावना से अनुप्राणित थे।

अन्तर्राज्जीय सम्बन्धों का सफल संचालन दौत्य एवं चर व्यवस्था पर निर्भर–

प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सफल संचालन के लिये प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों द्वारा अनेक सिद्धान्तों और नियमों का प्रतिपादन किया गया था। इन सिद्धान्तों और नियमों को कार्यान्वित करने के साधन के रूप में विजिगीषु द्वारा परराज्यों अथवा विदेशों में अपना कूटनीतिक प्रतिनिधि नियुक्त करने की परम्परा थी, जो प्रत्यक्ष रूप से अपने स्वामी द्वारा निर्धारित किये गये कार्यों को निर्देशानुसार सम्पादित करता था। वही कूटनीतिक प्रतिनिधि दूत के नाम से सम्बोधित किया गया है।

दौत्य परम्परा भारत में बहुत प्राचीन है। महाकाव्य, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों में उसका उल्लेख है। कौटिल्य, मनु, कामन्दक, सोमदेव आदि विचारकों ने उनके गुणों और कार्यो की समुचित विवेचना की है। दूतों के कौटिल्य ने तीन प्रकार यथा–निसृष्टार्थ, परिमितार्थ एवं शासनहर बातये हैं। इनमें निसृष्टार्थ दूत को राज्य के प्रतिनिधि के पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। अन्य दो प्रकार के

दूतों के अधिकार सीमित थे। दूतों की योग्यता में उनका कुलीन वंशोत्पन्न होना, प्रियभाषी, राजभक्त, स्मृतिवान, देशकाल का ज्ञाता, निर्भीक, सुवक्ता आदि होना आवश्यक बताया गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मेगस्थनीज ग्रीक दूत के रूप में आया था। उसके बाद भारत में शासन करने वाले मौर्य, कुषाण, गुप्त, हूण, पुष्यभूति, चालुक्य, पाण्ड्य और अन्य राजवंशों के शासकों के दरबार में विदेशी दूतों के आगमन का विवरण प्राप्त होता है। बिन्दुसार ने भी अपने दूतों को ग्रीक एवं परसियन दरबार में भेजा था। कालिदास, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य द्वारा बाकाटक दरबार में दूत के रूप में भेजे गए थे। दूतों के कर्त्तव्य में प्रमुखत: दूसरे राज्य के शासक के पास संदेश ले जाना, पूर्व में की गई संधि के नियमों का पालन करना, मित्रों का संग्रह करना, शत्रु के मित्रों में भेद उत्पनन करना, शत्रु के गुप्तचरों का ज्ञान प्राप्त करना इत्यादि दर्शाये गये हैं। दूत अबध्य माना गया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में चरों के सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्हें कापाठिक उपस्थित, गृहपतिक, वेदेहक, सस्त्री तापस, तीर्थ, रसद एवं भिक्षुकी में वर्गीकृत किया है। चरों की योग्यता की सूची भी लम्बी है। जिसमें उन्हें तार्किक, मनोवैज्ञानिक, मृदुभाषी, तीव्रस्मरणशक्ति युक्त, क्लेश सहने वाला चतुर इत्यादि गुणों से युक्त होना बताया है। जहाँ तक चर व्यवस्था का प्रश्न है, मौर्यों की चर व्यवस्था उच्च कोटि की थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के राजत्व काल में तक्षशिला में उपस्थित असन्तोष की जानकारी पाटलीपुत्र में अविलम्ब ज्ञात हुई थी, जिसका निराकरण विदिशा से जाकर अशोक ने किया था। अन्तिम सम्राट् वृहदथ का यह नहीं समझ पाना कि उसकी हत्या का षड्यन्त्र उसके ही सेनापति द्वारा किया जा रहा है, दर्शाता है कि इस समय तक मौर्यो की चर व्यवस्था में दोष आ गया था।

मालव प्रदेश में शकों का रामगुप्त के विरूद्ध अभियान एवं उसमें रामगुप्त की शक्ति को पराजय का मुख देखना, दर्शाता है कि गुप्तों की गुप्तचर व्यवस्था में किसी प्रकार का दोष अथवा उदासीनता का भाव अवश्य विद्यमान था जिसके द्वारा पाटलिपुत्र में समुद्रगुप्त जैसा दिग्विजयी नरेश अथवा उसका पराक्रमी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय शको के विरूद्ध रामगुप्त को समय पर सहायता नहीं दे सके, अथवा यदि अधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त द्वितीय रामगुप्त के विरूद्ध किसी प्रकार का षड्यन्त्र कर रहा था तो उसकी जानकारी रामगुप्त को उसके चर नहीं दे सके। समुद्रगुप्त के उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ के सफल अभियान के पीछे उसके सैन्यबल के साथ-साथ गुप्तचरों का

महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा।

प्रतिरक्षा के साधन दुर्ग—

राज्य की प्रतिरक्षा में दुर्ग एवं बल का विशेष महत्व है। प्राचीन युद्ध परम्परा तथा भौगोलिक स्थिति के कारण ही राज्य के तत्वों में दुर्गों को इतनी अधिक महत्ता दी गयी है। दुर्ग की स्थिति से राज्य की सुरक्षा, प्रजा एवं कोष की रक्षा होती है। दुर्ग के सम्बन्ध में कौटिल्य ने अनेक उपयोगी सूचनायें प्रदान की है। उन्होंने दुर्ग के चार प्रकार, यथा—आदिक, पार्वत, धान्य, तथा नवदुर्ग बताये हैं।

प्राचीन आचार्यो ने आन्तरिक तथा वाह्य सुरक्षा की प्रतिश्रुति के निमित्त दुर्गो की समुचित व्यवस्था पर बल दिया है, जिससे कि शत्रु आकस्मिक आक्रमण कर लाभ न उठा सके।

प्राचीन भारतीय आचार्यो द्वारा प्रतिपादित सप्तांगी राज्य व्यवस्था के चार तत्व यथा-जनपद, दुर्ग, अमात्य एवं स्वामी क्रमशः राष्ट्रीय भू-भाग, जनसंख्या, राजधानी, सरकार एवं प्रभुसत्ता के द्योतक हैं जबकि राज्य की आधुनिक मान्य परिभाषा में दुर्ग अर्थात् राजधानी अथवा सुरक्षित नगर को भी स्थान नहीं दिया जाता है। प्राचीन सप्तांगी राज्य व्यवस्था का अनुशीलन इस तथ्य को स्थापित करता है कि व्यवहारिक राज्य का वास्तविक स्वरूप उन तत्वों से ही सुरक्षित रखा जा सकता है जिन तत्वों को आधुनिक राज्य की मान्य परिभाषा में कोई स्थान नहीं है, यथा-दुर्ग, दण्ड, कोष एवं मित्र ।

सैन्य बल—

राज्य की शक्ति सुदृढ़ दुर्ग सम्पन्न कोष के साथ-साथ सुसंगठित सैन्य बल पर निर्धारित रहती है। सेना के माध्यम से ही राजा प्रजारक्षण एवं प्रजा-पालन का कार्य करता है। हिन्दू राजशास्त्र प्रणेताओं ने 6 प्रकार की सेनाओं का वर्णन किया है, यथा-मौलि, भृति, श्रेणी, मित्र, अमित्र एवं आटविक। इसमें मौलि सेना को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। सेना के चार अंग हस्थि, अश्व, रथ एवं पदाति बताये गये हैं। कामन्दक ने इस सूची में मन्त्र और कोष को भी जोड़ दिया है। मौर्य, शुंग एवं गुप्तों का सैन्यबल चतुरंगिणी सेना पर ही आधारित था। चन्द्रगुप्त ने अपने सैन्य में हस्तिबल एवं पदाति बल का विशेष उपयोग किया था। अशोक का पदाति बल भी अत्यधिक सक्षम एवं विशाल था। पुष्यमित्र शुंग स्वयं सेनापति था। इसका राज्य सैन्यबल पर ही स्थापित था। गुप्तों

के द्वारा भी गज सेना के स्थान पर संभवतः अश्वसेना का अधिक उपयोग किया गया था।गुप्तों के सिक्कों पर "अश्वारोही प्रकारों" का अधिक प्रचलन इसे स्पष्ट रूप से दर्शाता है। युद्ध के अवसर पर सैन्य संचालन का कार्य स्वयं सम्राट करता था।

युद्ध—

युद्ध अभिशाप होते हुये भी समाज की सुव्यवस्था के लिये आवश्यक होता है। राजनैतिक जगत में, विशेषकर राजतन्त्र के अन्तर्गत राजा के साथ विजयों की भी महत्वाकांक्षा जुड़ी हुई थी। यहाँ तक कि प्राचीन काल में विजय राजा का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य समझा गया था। अश्वमेध एवं वाजपेय यज्ञों ने विजयों द्वारा राजा के स्वर्ग जाने की व्यवस्था कर दी थी। इसीलिये राजा सार्वभौम अधिपत्य अथवा चक्रवर्ती होने को लालायित रहते थे। युद्धों के दैविक, आसुर एवं मानव तीन प्रकार बताए गये हैं। दैविक युद्ध सर्वोपरि माना गया था। धर्मशास्त्रों एवं महाकाव्यों में युद्ध दो प्रकार के बताए हैं— धर्म युद्ध और कूट युद्ध। कौटिल्य ने तूष्णी युद्ध को भी तीसरे प्रकार के युद्ध के रूप में बताया है। युद्ध व्यूह रचना के साथ किये जायें, इस प्रकार के निर्देश प्राचनी राजशास्त्र प्रणेताओं के विचारों में मिलते हैं।

युद्ध की भीषणता को कम करने के लिए प्राचीन भारतीय विचारकों ने युद्ध में उभय पक्षों के लिए आचार संहिता की व्यवस्था की। इसके अन्तर्गत यह अपेक्षित था कि समान शस्त्रों से युक्त सैनिक ही आपस में संघर्ष करें अर्थात् पदाति से पदाति, अश्वारोही से अश्वारोही आदि। पुनः भयभीत, मैदान छोड़कर भागते हुए, जमीन पर गिरे हुए, निस्शस्त्र, 'मैं पराजित हूँ' कहने वाले आदि पर आक्रमण न किया जाय। युद्ध में असैनिक पर प्रहार नहीं किया जाता था।

प्राचीन भारत में युद्धबन्दियों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। उनके साथ किये जाने वाले व्यवहार की तुलना आधुनिक समय के जेनेवा अभिसमय में निर्मित नियमों से की जा सकती है।

व्यूह—

युद्धकला सम्बन्धी भारतीय ज्ञान अत्यधिक विकसित था क्योंकि प्राचीन भारतीय युद्ध क्षेत्र में आक्रमण तथा प्रतिरक्षा के लिये अनेकानेक व्यूह रचनाओं का प्रयोग करते थे। कौटिल्य ने

चार, मनु ने छः तथा शुक्र ने आठ प्रकार के व्यूह के भेद और उनके उपभेद बताये हैं जिनका स्वरूप आधुनिक सैन्य संरचनाओं के समान था। इन व्यूहों का स्वरूप ऐसा होता था जिसमें अल्पसंख्यक सेना बहुसंख्यक तथा बहुसंख्यक सेना अल्पसंख्यक प्रतीत होती थी जिससे कि शत्रु को भ्रमित कर सुगमता से पराजित किया जा सकता था। प्राचीन आचार्यों ने दुर्गभेदेन की जिस विधि का प्रतिपादन किया है उसका स्वरूप लगभग उसी प्रकार है जिससे आज शत्रु के "पिलबाक्स", "बंकर" तथा "वेवडिफेंस" को ध्वस्त किया जाता है।

विजयाभिलाषा—

प्राचीन भारत में युद्ध से प्राप्त होने वाले लाभ की आकांक्षा के आधार पर राज्यों को धर्मविजयी, लोभविजयी श्रेणियों में विभक्त किया गया है जो क्रमिक रूप से पराजित होने वाले राज्य के लिये अधिकाधिक कर्षनीय होती है। अतः इनसे इसी क्रम में सचेत रहना चाहिये। हमारी प्राचीन परम्परायें धर्मविजयी राज्य की रही है और हम शत्रु द्वारा आधीनता स्वीकार करने मात्र से सन्तुष्ट होते रहे है। वर्तमान में तो हमने इस परम्परा का भी परित्याग कर दिया है, जिससे हमारे शत्रु हमें भीरू राज्य मानते है न कि सशक्त। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे जो संघर्ष चीन और पाकिस्तान के साथ हुये हैं उन्होंने इन राज्यों को क्रमिक रूप से लोभविजयी और असुरविजयी सिद्ध कर दिया है। अतः राष्ट्रहित में यही उचित होगा कि भावी संघर्षो में इन राष्ट्रों के प्रति हम अपनी वर्तमान नीति को बदलकार कम से कम धर्मविजयी परम्पराओं का पालन करें।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अनेक धार्मिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विशेषताओं से युक्त था। इस प्रसंग में सर्वाधिक महत्व की बात यह थी कि सभी विशेषताएँ एक दूसरी की विरोधी न होकर सहभागिनी हैं। प्राचीन भारत के अर्न्तराष्ट्रीय समबन्ध में इनकी गति "सूत्रे मणिगणा इव" (धागे में मनकों के समान) है।

।। सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ।।

॥ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ॥

मूल ग्रन्थ—

वेद तथा वैदिक साहित्य के ग्रन्थ—

1. ऋग्वेद (सायण भाष्य सहित) : सम्पा0 मैक्समूलर, चौखम्बा सस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1965
2. ऋग्वेद : स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी (औन्ध), 1957
3. ऋग्वेद : जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर।
4. यजुर्वेद : जयदेव शर्मा विद्यांलकार, अजमेर।
5. यजुर्वेद : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 2023 वि0
6. अथर्ववेद : सम्पा0 विश्वबन्धु शास्त्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान, होशियारपुर, 1960
7. तेत्तिरीयसंहिता (सायणभाष्य) 1-9 भाग, आनन्दाश्रम, पूना, 1822-30
8. शतपथ ब्राहमण (सायण भाष्य) : सम्पादक- वेवर, चौखम्बा प्रकाशन, 1964
9. ऐतरेय ब्राहमण (सायण भाष्य) : आन्नदाश्रम, पूना, 1896
10. तैत्तरीय ब्राहमण (सायण भाष्य): आनन्दाश्रम, पूना, 1890

धर्मशास्त्रीय एवं स्मृति ग्रन्थ—

11. आपस्तम्ब धर्मसूत्र : हरिदत्त कृत उज्ज्वला टीका सहित,
    हिन्दी व्याख्या0 डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1969
12. गौतम धर्मसूत्र : मिताक्षरा टीका सहित,
    हिन्दी व्याख्या0 डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1966
13. बौधायन धर्मसूत्र : गोविन्द स्वामी प्रणीत विवरण सहित,
    हिन्दी व्याख्या0 डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972
14. वशिष्ठ धर्मसूत्र : जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1890
15. वशिष्ठ धर्मसूत्र : सम्पा0 ए0 फुहरर, भंडाकर ऑरियन्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना ।
16. विष्णु धर्मसूत्र : सम्पा0 जूलियस जॉली, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1962
17. नारदस्मृति : सम्पादक -जूलियस जॉली,कलकत्ता,1885
18. मनुस्मृति : मेघातिथि भाष्य सहित, सम्पा0 एवं अंग्रेजी अनुवादक - डॉ0 गंगानाथ झा,

एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1920-26

19. मनुस्मृति : कुल्लूक की मन्वर्थमुक्तावली टीका सहित, संपादक- गोपाल शास्त्री हिन्दी व्याख्याकार -हरगोविन्द शास्त्री , चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 1982

20. याज्ञवल्क्यस्मृति : विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरा, हिन्दी व्याख्याकार डॉ0 उमेशचन्द्र पांण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983

21. याज्ञवल्क्यस्मृति : अपरार्कभाष्य, आनन्दाश्रम पूना, 1895

22. याज्ञवल्क्यस्मृति : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1949

23. वृहस्पतिस्मृति : सम्पा0 के0 वी0 रंगास्वामी आयंगर, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ोदा, 1941

24. धर्मशास्त्र संग्रह : जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1876

महाकाव्य एवं पुराण—

25. रामायण (महर्षि वाल्मीकि) : गीता प्रेस, गोरखपुर, 2017 वि0

26. महाभारत (वेदव्यास) मूल : गीता प्रेस, गोरखपुर, 2014 वि0

27. श्रीमन्महाभारतम् : नीलकण्ठी टीका सहित, चित्रकला मुद्रणालय, पूना, 1929-33

28. महाभारत : भण्डारकर औरियझटल रिसर्च इन्सटीट्यूट, पूना
आदिपर्व0 सम्पादक- पी.0 एस0 सुकथनकर, 1927-33
शान्तिपर्व0 सम्पादक - एस0 के0 वेलबलकर, 1949-54

29. श्रीमद्भगभद्गीता : गीता प्रेस, गौरखपुर

30. अग्नि पुराण : श्रीराम शर्मा, बरेली; बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक 1834

31. मत्स्य पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक 1836, नवल किशार प्रेस, लखनऊ

32. मार्कण्डेय पुराण : श्रीराम शर्मा, बरेली; वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; आनन्दाश्रम, पूना, 1930

33. विष्णु पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर; वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक 1834

34. ब्रह्म पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर

35. स्कन्द पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक 1840

36. विष्णुधर्मोत्तर पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक 1837

अर्थशास्त्र एवं नीतिग्रन्थ—

37. कौटिल्य अर्थशास्त्र : टी0 गणपति शास्त्री कृत श्रीमूला टीका सहित, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, 1924-25

38. कौटिल्य अर्थशास्त्र (तीन खण्ड) : संपादक एवं हिन्दी अनुवादक उदयवीर शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नई दिल्ली, 1970

39. कौटिल्य अर्थशास्त्र : वाचस्पति गौरोला, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1991

40. कौटिल्य अर्थशास्त्र : सम्पादक डॉ0 आर0 शामशास्त्री, मेसूर, 1919

41. कामन्दकीयनीतिसार : पं0 ज्वाला प्रसाद मिश्र, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक 1874

42. कामन्दकीयनीतिसार : 1-7 अध्याय, जयमंगलाटीका सहित, आनन्दाश्रम, पूना : 1934

43. कामन्दकीयनीतिसार : सम्पादक टी0 गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1912

44. कामन्दकीयनीतिसार: 1-7 अध्याय, उपाध्यायनिरपेक्षानुसारिणी टीका, आनन्दाश्रम, पूना : 1935

45. शुक्रनीतिसार : जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता

46. शुक्रनीतिसार : हिन्दी टीका - पं0 मिहिरचन्द, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, शक 1829

47. शुक्रनीतिसार : (टैक्स्ट) सम्पादक - डॉ0 गुस्टाव आपर्ट, मद्रास, 1882

48. शुक्रनीतिसार : (आंग्ल टीका)-विनय कुमार सरकार, आरिएण्टल बुक्स रिप्रिन्ट कारपोरेशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण,1975

49. नीतिकल्पतरू(क्षेमेन्द्र):सम्पा0 वी0डी0 महाजन, भण्डारकर अरेकियन्टल रिचर्स इन्सटीट्यूट, पूना,1956

50. हरिहर चतुरंग (गोदावर मिश्र) : गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज, मद्रास, 1950

51. राजनीतिरत्नाकर : सम्पा0 वाचस्पति गौरोल, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1970

52. नीतिवाक्यामृत : हिन्दी व्याख्या0 रामचन्द्र मालवीय, चौखम्बा द्यिाभवन , वाराणसी, 1972

53. नीतिवाक्यामृत : हरबलीया टीका, पन्नालाल सोनी, बम्बई, 1922

54. अभिलषितार्थचिन्तार्थचिन्तामणि (सोमेश्वर) : मैसूर, 1926

55. मानसोल्लास (सोमेश्वर) : 1-2 भाग, गायकवाड आरियन्टल सीरीज, 1925-29

56. युक्तिकल्पतरू (भोज) : एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1902

57. नीतिमयूख (नीलकण्ठ) : बम्बई, 1921

58. जातक : नालन्दा पालि ग्रन्थमाला

जैन एवं बौद्ध धर्म ग्रन्थ—

59. आचारांग सूत्र : अनु0 जैकोबी, सेक्रेण्ड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, वाल्यूम 22, आक्सफोर्ड, 1884

60. जातक: सम्पा0 कौवेल, पाली टेक्स्ट सोसाइटी , लन्दन, 1932

61. अर्हन्नीति : गुजराती अनु0 मणिलालनथुभाई डोसी जैन ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, 1906

अन्य ग्रन्थ—

62. बाणभट्ट : हर्षचरित, सम्पा0 जगन्नाथ शास्त्री, चौखम्बा, 1962

63. राजतरंगिणी (कल्हण) : पं0 रामतेज पाण्डेय कृत हिन्दी अनुवाद सहित,पण्डित पुस्तकालय, काशी, 1960

64. भासनाटकचक्रम् : टी0 गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1921

65. कालिदास : रघुवंश , वेकटश्वर प्रेस, बम्बई, 1969 वि0

66. मुद्राराक्षस(विशाखदत्त): सम्पा0 आर0 के ध्रुव, पूना, 1930

67. कुरल काव्य : अनुवादक – विद्याभूषण गोविन्दराम जैन शास्त्री, संवत् 2048

कोश ग्रन्थ—

68. अमरकोश (अमर सिंह) : सम्पादक – सतीशचन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता , 1901

69. पतंजलि महाभाष्य : सम्पा0 एफ0 कीलहार्न,भण्डाकर ओरियण्टल रिसर्च इस्टीटियूट, पूना

70. पाणिनि अष्टाध्यायी : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1942

71. मोनियर विलियम्स : ए संस्कृत – इगंलिश डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड, 1951

72. इन्साइक्लोपीडिया बिटानिका : शिकागो वि0वि0 संस्करण, 1947

सहायक ग्रन्थ—

आधुनिक ग्रन्थ (हिन्दी)—

73. डॉ0 रामजी उपाध्याय : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका , लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

74. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : हिन्दू राज्यशास्त्र , प्रयाग, 1949

75. ए0 एस0 अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, प्रयाग, 2004 वि0

76. पाण्डुरंग वामनकाणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद- अर्जुन चोबे काश्यप, हिन्दी समिति, लखनऊ,1965

77. डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1955

78. डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक : उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, हिन्दी भवन, लखनऊ, 1973

79. राघवेन्द्र वाजपेयी : बार्हस्पत्य राज्यव्यवस्था, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966

80. डॉ0 जगन्मोहन वर्मा : चीनी यात्री फाह्यान का विवरण, पुस्तक भवन, वाराणसी

81. रामदीन पाण्डेय : प्राचीन भारत की सांग्रामिकता, विहार राष्ट्रभाषा परिषद् ,1957

82. लक्ष्मीदत्त ठाकुर : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन हिन्दी समिति, लखनऊ, 1965

83. डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल: हर्षचरित्र एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,1964

84. विजयबहादुर राव : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1966

85. हरिदत्त वेदालंकार : प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास

86. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य व्यवस्था , हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ 1971

87. मनोरमा जौहरी : प्राचीन भारत में राज्य और शासन व्यवस्था, गणेश प्रकाशन, वाराणसी,1972

88. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र , सरस्वती सदन, मसूरी , 1960

89. डॉ0 रमाशंकर उपाध्याय : महाभारत के शान्तिपर्व में व्यक्त भीष्म के राजनीतिक विचार

90. डॉ0 ए0बी0 कीथ : वैदिक धर्म एवं दर्शन, अनु0 सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1973

91. के0 एम0 पाणिकर : हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1956

92. वृन्दावन दास : प्राचीन भारत के हिन्दू राज्य, साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972

93. डॉ0 देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतन्त्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1966

94. डॉ0 जी0 याजदानी : दकन का प्राचीन इतिहास, मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया , नई दिल्ली , 1977

95. डॉ0 बुद्ध प्रकाश : भारतीय धर्म एवं संस्कृति

96. रामलखन शर्मा : हमारा अतीत

97. बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा मन्दिर, काशी, 1985

98. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : शुक्र की राजनीति, प्रेम पब्लिशर्स, लखनऊ,1952

99. शकुन्तला रानी तिवारी : महाभारत में धर्म, पाटल प्रकाशन, आगरा,1973

100. चिन्तामणि विनायक वैद्य : महाभारत- मीमांसा

101. काका कालेलकर : युगानुकूल हिन्दू जीवन दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1970

102. डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वैदिक राजनीतिशास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1975

103. आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति : वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ

104. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : मनु का राजधर्म, आर्य नगर, लखनऊ,

105. परितोष कुमार सिकंदार : प्राचीन भारत एवं अरब

106. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : मनु का राजधर्म, आर्यनगर, लखनऊ

107. शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति, बम्बई, 1943

108. राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था

109. डॉ0 रमा शंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास

110. डॉ0 शिव शेखर मिश्र : मानसोल्लास- एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1966

111. डॉ0 भगवती प्रसाद पथारी : प्राचीन भारत का राजनैतिक एचं सांस्कृतिक इतिहास, शिक्षा प्रकाशन केन्द्र, वाराणसी

112. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : जनतंत्रवाद(रामायण और महाभारत कालीन), अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।

113. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : कौटिल्य की राज व्यवस्था,

114. के0ए0 नीलकण्ठ शास्त्री : नन्द मौर्य युगीन भारत, अनु0 मंगलदेव सिंह

115. विमल चद्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

116. डॉ0 परमेश्वरी लाल गुप्त : गुप्त साम्राज्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

117. श्रीवासुदेव उपाध्याय : गुप्त अभिलेख , बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना

118. श्रीवासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास

119. डॉ0 सुशील माधव पाठक : विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास

120. डॉ0 हेमचन्द्र राय चौधरी : प्राचीन भारत का इतिहास

121. राधाकुमुद मुखर्जी : हिन्दू सभ्यता

122. प्रेम कुमारी दीक्षित : प्राचीन भारत में अन्तर्राज्य सम्बन्ध

123. डॉ0 रघुवीर शास्त्री : महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था

124. बी0एन. लूनिया : भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास

125. डॉ0 राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत हिन्दू काल

126. सुख सम्पतराम भण्डारी : भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव

127. डॉ0 लल्लन जी गोपाल : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,1999

128. नलिन विमोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास दर्शन

129. वाचस्पति गरौला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, 1960

130. अम्बिका प्रसाद बाजपेयी: हिन्दुओं की राज्य-कल्पना, भारत मित्र प्रेस,, कलकत्ता, संवत् 1970

131. भागवत शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास

132. रांगेय राघव : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास

133. के0एम0 पणिकर : कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

134. श्रीमती कृष्णा राय : राजनय के सिद्धान्त और व्यवहार,चौखम्बा विधाभवन, वाराणसी, 1964

135. विनायक दामोदर सावरकर – हिन्दुत्व, राजधानी ग्रन्थागार, नई दिल्ली

136. डॉ0 रतिभान सिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृति इतिहास

137. हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय कानून

138. कैलाश चन्द्र जैन : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें

139. गुरूदत्त : इतिहास में भारतीय परम्परायें

140. परिपूर्णानन्द वर्मा : प्राचीन भारत की शासन प्रणाली, श्रीराम मेहरा एण्ड सन्स, आगरा, 1975

141. अच्युतानंद घिडिल्डयाल : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारक, विवेक घिडिल्डयाल बन्धु, वाराणसी, 1972

142. रामशरण शर्मा : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थायें

143. डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1964

144. प्रेमकुमारी दीक्षित : महाभारत में राज्य व्यवस्था, अर्चना प्रकाशन, लखनऊ, 1970

145. यदुनन्दन कपूर : धर्मनिरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातांत्रिक परम्परायें, लक्ष्मी नारायण प्रकाशन, आगरा

146. डॉ0 फतेहसिंह : वैदिक दर्शन

147. गंगानाथ झा : गुप्त इंस्क्रप्शन

148. भगवानदास केला : कौटिल्य की शासन पद्धति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् 2005

149. डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी : हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1957

150. डॉ0 वेणीप्रसाद : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, प्रयाग, 1931

151. डॉ0 ए0वी0 कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनु0 डॉ0 मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1960

152. आचार्य दीपंकर : कौटिल्य कालीन भारत, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ,1989

153. प्रतिभा आर्य : स्मृतियों मे राजनीति और अर्थशास्त्र, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, भदोही, 2002

154. डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी : वेदों में राजनीतिशास्त्र, विश्वभारती अनुसंधान परिषद, भदोही, 1998

155. के0वी0 रंगास्वामी आयंगार : राजधर्म, मद्रास, 1941

156. योगेन्द्रनाथ बाग्ची : प्राचीन भारत की दण्डनीति, कलकत्ता, 1961

157. रामावतार विद्याभास्कर : चाणक्य सूत्र संग्रह, हरिद्वार,1986

158. वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी : प्राचीन भारत की दण्ड व्यवस्था, नई दिल्ली, 1989

159. वी. एस. अग्रवाल : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन

160. परमेश्वरी लाल गुप्त : गुप्त साम्राज्य, वाराणसी, 1970

161. राजदेव दूबे : स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988

162. वी. वी. मिराशी : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, 1964

163. भारती राज : प्राचीन भारत में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन, इलाहाबाद, 1985

164. मोहन लाल महतो वियोगी : जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना, 1958

आंग्ल भाषा के ग्रन्थ—

165. Smlth V.A. : Early History of India, oxford, 1908

166. Ray Chaudhary H. C. : Politicical History of Ancient India, Calcutta, 1938

167. Sarkar B. K. : Political Institutions and Theories of Hindus, Leipzig, 1922

168. Sinha H. N. : Sovereignty in Anoient Indian Polity

169. Basu Jogiraj : India of the Age of the Brahmans, Calcutta, 1969

170. Aiyanger R. S. K. V : Some Aspects of Anoient Indian Polity, Madras, 1935

Aspects of the social and Political system of Manusmiriti, Lucknow, 1949

Some Aspects of Hindu View of Life according to Dharmshastra, Baroda, 1952

171. Altekar A. S. : State and Govt. in Ancient India, Poona, 1932

172. Anjaria J. J. The Nature and Grounds of Political obligation in the Hindu state, Longmoms green & Co., 1935

173. Mukarjee R. K. : Localself Govt. in Ancient India, oxford, 1920

Interstate relations in Ancient India, Meerut, 1977

174. Oppenheim L. : International law, vol. I (8thEd), 1955

vol. II (7thEd), 1952, London

175. Panikkar K. M. : The principles and Practice of Diplomacy, Bombay, 1956

176. Dr. Yadav : Society and Culture in Northern India.

177. Rathore L. S. : The foundations of Diplomacy, New Delhi, 1974

178. Lawrence J.J. : Principles of International law, (Ed. P. Hwimfield) Newyork, 1925

179. Mackay : Ancient Indians as described by Megasthenes and Arrian, Calcutta, 1906

180. Mukharjee R.K. : Chandragupta Maurya and His Times, Delhi, 1953

181. Ghosal U.N. : A History of Indian Political Ideas, oxford university Press, 1959

A History of Hindu Political Theories, Calcutta, 1923

182. Kelson H. : Principles of International law, New York, 1966

183. Sharma Dasharath : Rajasthan through the Ages.

184. Law N.N. : Interstate Relations in Ancient India, Calcutta, 1920

185. Beni Prasad : The state in Ancient India, Allahabad, 1928

186. Bhatia H.S : International law and practice in Ancient India, New Delhi, 1977

187. Erierly J. L. : The law of Nations, oxford University Press,1963

188. Chatterjee H.L. : International law and Interstate Relations in Ancient India

189. Hall W.E. : A Treatise on International law (Ed. A. P Higgines), 1924

190. Dharma P.C. : The Ramayan Policy, Madras, 1941

191. Dikashitar V.R.R. : War in Ancient India, Madras,1948

The maurayan polity, Madras, 1953

192. Jayaswal K.P. : Hindu Polity, Banglore, 1945

193. Fenwick Charles G : International law (Indian Edition), Bombay, 1962

194. Jolly J : Hindu law and customs, Calcutta, 1928

195. Ayyar Rangasaswami C. P. : Indian Political Theories, Madars, 1937

196. Chakrawarti P. C. : The Art of War in Ancient India.

197. Ayyar Narayan R.A. : The History of the Hindu Law in the vedic age and post vedic Times down to the insitutes of Manu, Madras, 1925

198. Gupta Rameshchandra : Early Hindu Civilization, Delhi, 1989

199. Majumdar R.C. : Corporate life in Ancient India, Calcutta, 1969

200. Rapson E. J. : Combridge History of India, S. Chand Co., 1968

201. Rao M.V. Krishna : Studies in Kautilya, Delhi, 1958

202. Sharma R. S. : Aspects of Politicial Ideas and Institutions in Ancient India, Delhi, 1959

203. Agarwal V. S. : India as Known to Panini

204. Mukerjee T. B. : Interstate Relations in Ancient India, Meerut, 1967

205. Stern Back L. Juridical Studies in Ancient Indian Law.

206. Agarwal V. S. : India as known to Panini, Lucknow, 1953

207. Gupta R. K. : Political Thought in the Smiriti Literature, Allahabad, 1961

208. Jain J. C. : Life in Ancient India as Depicted in Jain Canons, Bombay, 1947

209. Basak R. G : Some Aspects of Kautilyan Political Thinking, Wordhwan, 1987

210. Bhargava P. L. : India in the Vedic Age, Lucknow, 1971

211. Pusalkar A. D. : The Age of Imperial Unity, Bombay, 1953

212. Atters T. W. : On Yuan-Chwang's Travels in India, Delhi, 1961

पत्र-पत्रिकायें—

213. Indian Antiquary, Popular Prakashan, Bombay

214. Indian Historical Quartarly, Calcutta

215. Journal of the Bihar and Orisa Research Society, Patna

216. The Modern Review, Calcutta

217. Vishveshvaram and Indological Journal, Hoshiarpur

218. Anuals of the Bhandarkar oriental Research Institute, poona

219. Ancient India (Journal of the Archaeological survey of India, Delhi

220. Journal of the Oriental Institute, M. S. University, Baroda

221. Journal of the Asiatic society of Bombay

222. Journal of the University of Bombay

223. Journal of Royal Asiatic Society, 1879 (n.s) Art, " On the Identification of the Portrait of chasroes II among the Paintings in the caves of Ajanta."

224. Journal of the United Province Historical Socity, vol XX Part I & II, 1947 Art. "Embasies in Ancient India."

225. विश्व हिन्दू : सम्पादक-नारायण दास

अभिलेख—

226. पी. सी. नाहर : जैन इन्स्कृप्शन्स, कलकत्ता

227. प्रयाग प्रशस्ति (स्तम्भ लेख)

228. प्रभावती गुप्ता का पूना अभिलेख

229. जे. एफ. फ्लीट : कार्पस इन्स्कृप्शनम् इण्डिकेरम, कलकत्ता

230. अयोध्या अभिलेख

231. डी. सी. सरकार : सेलेक्ट इन्स्कृप्शन्स वियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलाइजेशन, कलकत्ता

232. गुप्तकालीन अभिलेख

◆◆◆